औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष

औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष

के.एन. पणिक्कर

अनुवादक
आदित्यनारायण



ग्रंथ शिल्पी

प्रथम अंग्रेजी संस्करण 1995
प्रथम हिंदी संस्करण 2003
ISBN 81-7917-021 7

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड के लिए
बी-7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092 से प्रकाशित तथा
क्वालिटी प्रिंटर्स, ईस्ट ज्योति नगर, दिल्ली-110093 द्वारा लेजर सेट
होकर नारस प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-110052 मे मुद्रित

विषयानुक्रम

प्रस्तावना

यह पुस्तक इस बात को समझने और स्पष्ट करने के प्रयत्न का हिस्सा है कि औपनिवेशिक पराधीनता भोगते भारतीयों ने अपने अतीत तथा वर्तमान के साथ किस प्रकार अपना समीकरण स्थापित किया और इस तरह अपने समाज के लिए एक भविष्य का सपना संजोया। अतीत का अनुसधान करना, वर्तमान के यथार्थ को समझना तथा भविष्य के स्वरूप की कल्पना करना, ये कार्य जटिल और कठिन थे, क्योंकि उनके संपादन के विरासत में मिली और ऊपर थोपी गई दोनों प्रकार की विचारधाराओं के हस्तक्षेप से निबटना था। यदि वर्तमान को बदलना था तो अतीत का सहारा लेना था और भविष्य का सपना गढ़ने में वर्तमान की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उपनिवेशवाद भारत के अतीत को मनमाने ढंग से अपना कर और उसे मनचाहा रंग देकर वर्तमान को एक विशेष स्थिति प्रदान करने तथा भविष्य को पूजा की वस्तु की तरह प्रतिष्ठित करने में प्रवृत्त था। इसलिए परंपरा की दुर्बलताओं तथा पराधीनता की बाधाओं पर पार पाना ऐसी नई व्यवस्था का द्वार खोलने की पूर्वशर्त था जिसमें अन्य बहुत सी बातों के साथ राष्ट्र-राज्य की संरचना का भी समावेश था। औपनिवेशिक भारत में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों तथा व्यक्तिगत पहलकदमियों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक संघर्ष इसी व्यवस्था को साकार करने की दिशा में अभिमुख थे। लेकिन यह प्रक्रिया कोई एक सीधे रास्ते से नहीं चली और उसकी प्रगति विभेद-रहित नहीं थी; बल्कि सच तो यह है कि वह अंतर्विरोधों, मत-मतांतरों तथा आघात-व्याघातों से परिपूर्ण थी। सांस्कृतिक-बौद्धिक 'पुनर्जागरण' जरूरी तौर पर राष्ट्रवाद के प्रवाह में ही नहीं जा मिला, और न राष्ट्रवाद उस 'पुनर्जागरण' की तार्किक परिणति था। फिर भी बौद्धिक-सांस्कृतिक प्रयत्नों से उत्पन्न सामाजिक जागृति राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का अभिन्न अंग थी।

दामोदर धर्मानंद कोसंबी के प्रबोध मुहावरे में कहें तो अपने इतिहास के इस दौर में भारत के लोग 'रचनात्मक आत्मनिरीक्षण' में रत थे, जिसका मतलब केवल देशी ज्ञानशास्त्रीय परंपरा की शक्ति का अवगाहन नहीं बल्कि उसे पश्चिमी दुनिया द्वारा की गई प्रगति के संदर्भ में परखना भी था। क्षेत्रीय तथा विषयगत विभेद इस तलाश के असमान तथा विषम स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं, वरन उसकी शक्ति और प्राणवत्ता का लक्षण था। उसमें विविध प्रकार के प्रश्नों का समावेश था; उसकी हिलोरों का अनुभव

प्राय सभी धार्मिक तथा जातीय समूहों ने किया; और उसका फैलाव लगभग पूरे देश तक था। वह न तो अंतर्वस्तु की दृष्टि से समान था और न तीव्रता में समान था, लेकिन कुल मिलाकर उसने नए भारत के उदय के लिए बौद्धिक तथा सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया।

इस विषय के अधिकांश अन्वेषण दीर्घकाल से सामाजिक-धार्मिक सुधार तथा पुनरुज्जीवन से संबंधित विचारों और आंदोलनों के चौखटों से बंधे रहे हैं। वह कौन सी चीज थी जो इस जागृति को लाई और किस प्रकार उसका सारतत्व देश में फैला, ये इस विषय से संबंधित आरंभिक इतिहासलेखन के मुख्य सरोकार थे। इस प्रतिमान के जाल में उपनिवेशवादी तथा राष्ट्रवादी दोनों इतिहासकार उलझ गए। उपनिवेशवादियों ने औपनिवेशिक शासन को इस जागृति का प्रेरक बताया तो राष्ट्रवादियों ने देशी परंपरा को। दोनों के लिए केंद्रीय महत्व अतीत का ही था, विवाद सिर्फ इस बात पर था कि अतीत का आवाहन कैसे और क्यों किया गया। हाल में इस लीक के त्याग से, खासतौर से मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा उसके त्याग से, इस तलाश के क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ है। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने 'पुनर्जागरण' की सीमाओं, विचारों के सामाजिक संदर्भ तथा चेतना के निर्माण में समाहित अंतर्विरोधों पर जोर दिया है। इस प्रकार औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक इतिहास को वर्ग-संरचना के स्वरूप तथा वर्गगत मूल्यों और साथ ही मानव अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता से उद्भासित किया गया है।

इस जिल्द में जिन आलेखों का समावेश किया गया है उनमें उसी पद्धतिशास्त्र का उपयोग किया गया है जिसकी प्रेरणा उपर्युक्त लीक-त्याग के पीछे काम कर रही थी। इनमें बौद्धिक इतिहास को सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के संगम पर स्थित करके देखा गया है, और इस प्रकार सामाजिक चेतना की संरचना और उसे गढ़ने में बौद्धिक जनों की भूमिका का वर्णन, व्यवस्था और अवधारणा करने की कोशिश की गई है। विविध प्रकार के प्रश्नों से जूझ रहे विचारों तथा आंदोलनों को ध्यान में रखकर देखें तो यह अंतर्संबंध इन आलेखों का मुख्य सरोकार है। पहले अध्याय में कुछ अवधारणात्मक तथा विषयगत समस्याओं पर सामान्य ढंग से विचार किया गया है, और आगे के अध्यायों में, जिनमें से प्रत्येक में एक-एक अलग क्षेत्र पर विचार किया गया है, उन समस्याओं को पल्लवित और आनुभाविक दृष्टांतों से उदाहृत किया गया है। इस प्रकार इन आलेखों में एक सातत्य और अंतर्संबंध है, भले ही इनमें आयुर्विज्ञान, परिवार तथा उपन्यास जैसे प्रकटतः एक-दूसरे से भिन्न विषयों पर विचार किया गया है। ये सूक्ष्म विश्लेषणों की एक शृंखला की कड़ियां हैं, जो अंततः मुख्य सरोकार से आ जुड़ती हैं, और वह मुख्य सरोकार है सामाजिक चेतना की संरचना। अलग-अलग प्रकार के विषयों का विवेचन गैर-इरादतन नहीं बल्कि इरादतन किया गया है, जिसके

पीछे हेतु सांस्कृतिक-बौद्धिक प्रयत्नों के बहुआयामी और जटिल स्वरूप पर प्रकाश डालने का रहा है। इन प्रयत्नों में एक प्रतिवर्चस्विक परियोजना का सहज समावेश था, जो भारत मे राज्य के चारों ओर उपनिवेशवाद के द्वारा खडी की जा रही 'आधारभूमि' और 'दुर्गों' के प्रतिरोध की ओर उन्मुख थी और 'अप्रकट' तथा 'प्रकट' दोनों रूपों में काम कर रही थी। अतीत का एक पुनर्गठन भी इस परियोजना से जुड़ा हुआ था, क्योंकि वर्तमान का सुधार अनिवार्य रूप में अतीत के स्वरूप के बोध से सबद्ध था। इन दोनों चीजों ने उन प्रारभिक सवेगों की सृष्टि मे योगदान किया जिन्होंने भारत में आधुनिक राष्ट्र-राज्य के लिए सांस्कृतिक-बौद्धिक नींव तैयार की।

इन आलेखों के विषयों तथा सबधित स्थानों की विविधता और विस्तार को देखते हुए अनेक अभिलेखागारो, पुस्तकालयों तथा निजी सग्रहों में उपलब्ध तरह-तरह के स्रोतों पर दृष्टिपात करना आवश्यक था। इस अध्ययन के लिए भारत के प्रमुख अभिलेखागारों, जैसे राष्ट्रीय अभिलेखागार, महाराष्ट्र राज्य अभिलेखागार तथा तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार के अतिरिक्त देश भर मे फैले बहुत सारे पुस्तकालयों में उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है। पुस्तकालयों में उपलब्ध स्रोतों में विशेष रूप से प्रचार-पुस्तिकाओं, पत्रकों तथा पत्र-पत्रिकाओं का इस्तेमाल किया गया है, जिनसे हमें हमारी सूचना का एक अच्छा-खासा भाग प्राप्त हुआ है। इनकी सख्या इतनी अधिक है कि इनकी सूची दे पाना संभव नहीं है। भारत के बाहर लदन में इंडिया आफिस लाइब्रेरी, ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी और स्कूल आफ ओरिएटल एड एफ्रिकन स्टडीज का पुस्तकालय, आक्सफोर्ड में बोदेलियन लाइब्रेरी तथा इंस्टिट्यूट ऑफ ओरिएटल स्टडीज का पुस्तकालय; एडिनबर्ग में पब्लिक लाइब्रेरी और सेंटर फार क्रिश्चियन स्टडीज का पुस्तकालय; और पेरिस में बिब्लियोथिक नेशनल बहुत उपयोगी साबित हुए हैं। इन सभी संस्थानों के अधिकारियों का मैं धन्यवाद करना चाहूंगा।

ये आलेख भारत तथा विदेशों के कई विश्वविद्यालयों में आयोजित संगोष्ठियों तथा व्याख्यानमालाओं में प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से कुछ हैं बंबई, कुरुक्षेत्र, जयपुर, भुवनेश्वर, संभलपुर, गोआ, मंगलूर, कालिकट, उत्तर बगाल तथा दरभगा विश्वविद्यालय; मद्रास इंस्टिट्यूट आफ डेवलपमेंट, सेंटर फार डेवलपमेंट स्टडीज, तिरुवनंतपुरम्, स्कूल आफ ओरिएंटल एंड एफ्रिकन स्टडीज तथा लदन स्कूल आफ इकानामिक्स, लदन, कालेज आफ फ्रांस, पेरिस; यूनिवर्सिटी आफ रोम, क्यूबा, कोस्टा रिका और पनामा के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय; तथा कालेज डि मेक्सिको। में इन सस्थाओं का आभारी हूं कि इन्होंने मुझे अपने-अपने प्राध्यापक वृंदों के विद्वत्तापूर्ण अभिमतों का लाभ उठाने का अवसर प्रदान किया।

भारत तथा विदेशों में शोध करने के लिए वित्तीय समर्थन कई संगठनों से प्राप्त हुआ। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली से प्राप्त अनुदानों से मुझे भारत में विभिन्न संस्थाओं से सामग्री एकत्र करने में सहायता मिली। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, दिल्ली ने मेरी लंदन यात्रा आयोजित की। लंदन तथा एडिनबर्ग में काम करने के लिए ब्रिटिश काउंसिल और चार्ल्स वैलेस ट्रस्ट से भी वित्तीय समर्थन प्राप्त हुआ। नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय के सीनियर रिसर्च फेलोशिप तथा पेरिस स्थित मेसन डि सायंसेज द होम के एक आमंत्रण से मुझे इस संकलन के कुछ हिस्से लिखने की सुविधा प्राप्त हुई। इन सभी संस्थाओं का मैं कृतज्ञ हूं।

अपने स्नातकोत्तर तथा शोध छात्रों के प्रति विशेष रूप से धन्यवाद ज्ञापित करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। मैंने अपने अधिकांश विचार आरंभ में अपने इन छात्रों के सामने रखे और उन पर उनकी जो प्रतिक्रियाएं तथा अभिमत सामने आए उनसे इन विषयों के पल्लवन तथा परिष्कार में मुझे बहुत सहायता मिली। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के इतिहास अध्ययन केंद्र के अपने सहयोगियों से मेरा विचारविमर्श भी उतना ही फलप्रद सिद्ध हुआ है। उनमें से एस. गोपाल, रोमिला थापर, विपन चंद्र तथा आर. चंपकलक्ष्मी ने तो इनमें से कुछ अध्यायों के आरंभिक पाठों को पढ़कर अपने बहुमूल्य सुझाव भी दिए। चंद्रमोहन, रशीद वाडिया, वेंकटाचलपति, पद्मावती तथा अरुंधती मुखोपाध्याय ने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में सामग्री का संग्रह करने में मेरी सहायता की।

और अंत में मैं कहना चाहूंगा कि मेरी जीवन संगिनी उषा के भूरि समर्थन के बिना इस कृति का प्रणयन संभव नहीं हो पाता। गृहस्थी की पूरी जिम्मेदारी अपने सिर लेकर विशेष रूप से दिल्ली से मेरी दीर्घ अनुपस्थिति के दौरों में इस दायित्व का निर्वाह करके उन्होंने मुझे अपने शोध-कार्य में दत्तचित्त रहने का अवसर प्रदान किया। मेरी बेटियां रागिनी तथा शालिनी और दामाद पीतांबर तथा रमण ने भी मेरा ध्यान रखकर और मुझे स्नेह-सम्मान देकर मेरी वैसी ही मूल्यवान सहायता की।

नई दिल्ली

के.एन. पणिक्कर

1. उन्नीसवीं सदी के भारत की बौद्धिक परिघटनाएं

अपनी पहचान के संकट की चर्चा करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने औपनिवेशिक पराधीनता भोगते भारतीयों की सांस्कृतिक दुविधा को निम्नलिखित शब्दों में इस तरह व्यक्त किया था :

> मैं पूर्वी और पश्चिमी दुनिया का एक विचित्र मिश्रण बन गया हू, हर जगह बेगानापन महसूस होता है, कहीं भी अपनेपन का एहसास नहीं होता। जीवन के संबंध में मेरे विचार और दृष्टिकोण उस चीज से शायद कम मेल खाते हैं जिसे पूर्वी कहा जाता है और उससे ज्यादा जो पश्चिमी कहलाती है, लेकिन साथ ही भारत असंख्य रूपों में मुझसे उसी तरह चिपटा हुआ है जिस तरह वह अपनी सारी संतानों से चिपटा हुआ है ।...मैं न तो उस अतीत की विरासत से छुटकारा पा सकता हूं और न हाल से जो कुछ प्राप्त किया है उससे ।...पश्चिमी दुनिया मे मैं अजनबी और पराया हूं। मैं उसका हिस्सा नहीं हो सकता। लेकिन खुद अपने देश में मुझे कभी-कभी किसी निर्वासित व्यक्ति जैसा महसूस होता है।[1]

जब नेहरू ने अपनी उपर्युक्त भावना का इजहार किया उससे कोई सदी भर पहले तेजी से विकसित होते औपनिवेशिक नगर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में इस द्विधा की, पहचान के इस संकट की अनुभूति की शुरुआत हो चुकी थी। बंगाल में राममोहन राय, बंबई में बाल शास्त्री जांबेकर और मद्रास मे गजुला लक्ष्मी नरसू चेट्टी की बौद्धिक द्विधा में इस संकट की अभिव्यक्ति हुई।[2] राममोहन राय और नेहरू के बीच के काल में भारतीय मध्य वर्ग ब्रिटिश औपनिवेशिक मूल्यो तथा विचारधारा के दुर्निवार प्रभाव से ग्रस्त होता चला गया, जिसकी परिणति इस प्रकार के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक द्वीप की सृष्टि में हुई।[3] इसके साथ ही, उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक नेताओं[4] ने एक ओर तो इस द्वीपीयता की स्थिति के खिलाफ संघर्ष आरंभ कर दिया, और दूसरी ओर पारंपरिक व्यवस्था के विचारधारात्मक आधार के विरुद्ध मुहिम छेड़ दी। राममोहन का पहचान का संकट इस संघर्ष की प्रारंभिक अभिव्यक्ति था और नेहरू की हताशा उसकी अंतिम परिणति। यह संघर्ष एक हद तक सफल रहा और कुछ सीमा तक विफल भी। हालांकि इस प्रयत्न के बौद्धिक आधार तथा विचारधारात्मक हेतु में व्यक्ति-दर-व्यक्ति बहुत

अधिक अंतर था फिर भी कुल मिलाकर यह बौद्धिक संघर्ष प्रयोजन की एक एकता से, एक नए जीवन और नए समाज की सृष्टि की प्रबल आकांक्षा से अनुप्राणित था। जिन विद्वानों ने औपनिवेशिक शासन के दौर में सांस्कृतिक तथा बौद्धिक परिघटनाओं के प्रवाह और स्वरूप पर विचार किया है उनमें हमारे बौद्धिक दृष्टिकोणों तथा सांस्कृतिक व्यवहारों की रचना करने में इस संघर्ष के महत्व की उपेक्षा कर देने की प्रवृत्ति रही है। उनमें से कुछ की दृष्टि पश्चिमी प्रभाव और उसके संबंध में भारतीय प्रतिक्रिया की उपनिवेशवादी सिद्धांतकारों की योजना के, जाने-अनजाने, पल्लवन तक सीमित रही है, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त बौद्धिक जनों को 'रूढ़िवादियों', 'सुधारकों' तथा 'आमूल परिवर्तनवादियों' के अलग-अलग खानों में बांट दिया गया है।[5] कुछ दूसरे लेखक भारत के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ की वास्तविकताओं से विच्छिन्न 'सांस्कृतीकरण', 'पाश्चात्यीकरण' और 'आधुनिकीकरण' की अवधारणाओं को ध्यान में रखकर बात करते हैं। एक और भी कोटि के लेखक हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत मुहावरों में बात करना पसंद करते हैं, जैसे परंपरा-आधुनिकता सातत्य, आधुनिकता की परंपरा और परंपरा की आधुनिकता।

इस दृष्टि में परिवर्तन लाने के लिए प्रथमतः तो उन विभिन्न प्रश्नों का विशद विश्लेषण आवश्यक है जिनकी ओर सामाजिक तथा बौद्धिक इतिहासकार अब तक ध्यान नहीं दे पाए हैं। उदाहरण के लिए, औपनिवेशिक समाज के ठीक पहले वाले समाज में जो परिवर्तन हुए उनका स्वरूप क्या था और उस काल की बौद्धिक परंपरा क्या थी? उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जन अपने काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक वास्तविकताओं को किस रूप में देखते थे? क्या उनके पास भविष्य का कोई सपना था, और अगर था तो क्या उसका लक्ष्य सुनहले अतीत की अवधारणा द्वारा पवित्रीकृत परंपरा को सुधारना भर था, या यथास्थिति को कायम रखना या उसका संपूर्ण रूपांतरण करना था? उनके कार्यक्रम और उसके तरीके क्या थे? वे कौन से बौद्धिक तथा विचारधारात्मक आधार थे जिनसे उन्हें यथार्थ को देखने और भविष्य का सपना गढ़ने में मदद मिली? और अंतिम तथा शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि जिस विशिष्ट राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति में, अर्थात औपनिवेशिक प्रभुत्व की स्थिति में, वे काम कर रहे थे उसने उनके विचारों, कार्यक्रमों तथा तरीकों को किस प्रकार से प्रभावित किया?[6] ये कुछ प्रश्न हैं जिन्हें उन्नीसवीं सदी की बौद्धिक परिघटनाओं के आगे के सिंहावलोकन में विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्राक्-औपनिवेशिक संदर्भ

आम तौर पर यह माना जाता रहा है कि उन्नीसवीं सदी में आधुनिक विचारों का उदय और सामाजिक विरोध एवं धार्मिक असहमति भारत में यूरोपीय विचारों तथा संस्थाओं

के प्रवेश का परिणाम थी। ब्रिटिश शासन को भारत की जनता को सभ्य बनाने की भूमिका और पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार द्वारा उन्हें अनेक वरदानों से धन्य करने की उसकी छवि को प्रस्तुत करने में यह प्रभाव-प्रतिक्रिया वाला ढांचा ब्रिटिश उपनिवेशवादी तथा प्रशासक-इतिहासकारों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।[7] सूत्र बहुत सरल था : जब भारतीयों का यूरोपीय इतिहास, संस्थाओं तथा भाषाओं से परिचय हुआ, तो वे उसके स्वतंत्रता, बुद्धिवाद तथा मानवतावाद के विचारों से प्रभावित हुए और इस प्रभाव ने एक प्रकार से 'खुल जा सिम-सिम' वाले मंत्र की तरह काम किया, जिसके फलस्वरूप भारतीय अपनी संस्थाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे और परिणामतः सुधार की हलचलें आरंभ कर दीं।[8] इसमें अंग्रेजी राज के विचारधारात्मक औचित्य प्रतिपादन का जो तत्व सहज समाहित था उसके बावजूद इस दृष्टिकोण की बहुत सी मान्यताएं भारतीय इतिहासकारों के लेखन में भी देखी जा सकती हैं। इनमें से कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों का उदय भारतीय सांस्कृतिक जीवन को मिशनरियों का अवदान था[9], और कुछ अन्य ने आधुनिक विचारों के विकास का श्रेय केवल पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव को दिया है।[10] पश्चिमी प्रभाव के महत्व की अवगणना किए बिना, यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि इस प्रकार के विश्लेषणों में न केवल उन्नीसवीं सदी की सामाजिक तथा बौद्धिक परिघटनाओं की जटिलताओं की उपेक्षा कर दी गई है बल्कि इनमें भारतीय बौद्धिक परंपरा में विद्यमान विरोध तथा असहमति के तत्वों की और अंग्रेजी हस्तक्षेप के पूर्व अठारहवीं सदी में सामाजिक विकास की जो संभावनाएं प्रकट हुई थीं उन्हें भी नजरअंदाज कर दिया गया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इनमें उन भौतिक परिस्थितियों की ओर से बिलकुल आंखें बंद कर ली गई हैं जिनमें ये परिघटनाएं हुईं।

तफसीलों में उतरे बिना, प्राक्-औपनिवेशिक काल में सामने आने वाले सामाजिक परिवर्तनों के महत्व को अठारहवीं सदी की धार्मिक परिस्थितियों तथा जाति की संरचना और संगठन में आए परिवर्तनों का जिक्र करके स्पष्ट किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू धर्म मूर्तिपूजा, बहुदेववाद और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। परंतु इन धार्मिक विश्वासों और आचरणों को भारत के लगभग सभी हिस्सों में उदित होने वाले अनेकानेक असनातनी संप्रदाय—यथा उत्तर प्रदेश में सतनामी, अप्पापंथी और शिवनारायण संप्रदाय, बंगाल में कर्ताबाज और बलरामी, राजस्थान में चरणदासी और आंध्र प्रदेश में वीरब्रह्म चुनौती दे रहे थे। इनमें से सभी संप्रदायों ने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा और जात-पांत की निंदा की।[11] कर्ताबाजों का समागम साल में दो बार होता था, जिनमें जात-पांत के भेदों का बिलकुल त्याग कर दिया जाता था। वे समानता के स्तर पर साथ-साथ खानपान करते थे और एक-दूसरे को भाई और बहन कहकर संबोधित करते थे।[12]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के सुधारकों की तरह चरणदास ने मूर्तिपूजा-विरोध

और जात-पात विरोध के लिए वेदों के प्रमाण का सहारा लिया। उनका कहना था कि आम लोगों के लाभ के लिए मैं वेदों के सत्य को सरल हिंदी में प्रस्तुत कर रहा हूं।[13] वे सभी कर्मकांडों के खिलाफ थे, यहां तक कि पूजा के लिए तुलसी की पत्तियों के उपयोग के भी। उन्नीसवीं सदी के सुधारकों की तरह इन संप्रदायों में भी व्यक्तिगत सदाचार पर बहुत जोर था।[14] संख्या की दृष्टि से भी इन लोगों का महत्व कोई मामूली नहीं था। इनमें से अधिकांश संप्रदायों के अनुयायियों की संख्या बीस से तीस हजार तक थी। उनके संगठन और काम करने के तरीके उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आंदोलनों से भिन्न थे, लेकिन इसी कारण से उन्हें व्यक्तिगत कारणों पर आधारित ऐसे विद्रोह कहकर खारिज कर देना जिनका कोई खास सामाजिक महत्व नहीं था, उनके असली महत्व को नजरअंदाज करना होगा। उन्हें मुख्य रूप से जनता के धार्मिक जीवन में, जो इन दिनों अंधविश्वासों तथा पुरोहितों के अत्याचार से ग्रस्त था, विरोध और असहमति की विकासमान प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिए और इसी रूप में उनका मूल्यांकन करना चाहिए। उनकी सफलता या विफलता अनेक कारकों पर निर्भर थी, जिनमें परवर्ती समाजार्थिक परिघटनाओं का भी समावेश था। लेकिन ये सफल रहे हों या विफल, उनका होना 'इस बात का प्रमाण है कि विदेशी प्रभाव से स्वतंत्र रूप से भी समाज में सुधार आंदोलन चल रहे थे।'[15]

अन्वेषण का यह रास्ता अठारहवीं सदी के समाज के अन्य पहलुओं के संबंध में भी प्रासंगिक है। जाति की संरचना और संगठन में होने वाले परिवर्तनों पर अधिक बारीकी से दृष्टिपात करना तथा साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों पर सावधानी से गौर करना विशेष रूप से फलप्रद होगा। अठारहवीं सदी एक तरह से लावारिस सदी है, जिसकी ओर न मध्य काल पर लिखने वाले इतिहासकारों ने ध्यान दिया और न आधुनिक काल पर लिखने वालों ने। इसलिए उस सदी के संबंध में हमारे ज्ञान की जो स्थिति है वह इन प्रश्नों के विशद विश्लेषण की सुविधा नहीं देती। लेकिन प्रमुख प्रवृत्तियों का संकेत देने वाले पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, हम यह दिखला सकते हैं कि जाति प्रथा के अंदर काफी परिवर्तन हो रहे थे। मसलन, उसमें विखंडन हो रहा था,[16] पेशों की दृष्टि से गतिशीलता आ रही थी[17] और सांस्कृतीकरण का सिलसिला चल रहा था।[18] बौद्धिक गतिविधियों के क्षेत्र में, भारतीय इतिहास के अन्य सभी कालों की तरह अठारहवीं सदी भी व्यक्तिगत प्रतिभाओं से विहीन नहीं थी।[19] कलात्मक तथा साहित्यिक हलचलों के क्षेत्र में उच्च कोटि की सृजनशीलता का परिचय दिया गया—खास तौर से साहित्य और चित्रकला के क्षेत्रों में।[20] 'अलंकृत, आडंबरी और दरबारी' शैली को अस्वीकार करके, रूप तथा अंतर्वस्तु दोनों दृष्टियों से लोक साहित्य की रचना की दिशा में जो यात्रा आरंभ हुई थी और बंगला तथा मलयालम में तो सोलहवीं सदी में ही यह यात्रा आरंभ हो चुकी थी[21], उसमें इस

सदी में और भी गति आई।[22] अंग्रेजों की भारत विजय के बाद इन प्रवृत्तियों का क्या हुआ, यह एक अलग किस्सा है। यदि औपनिवेशिक हस्तक्षेप न हुआ होता तो उन प्रवृत्तियों के विकास की दिशा क्या होती, इसका अनुमान लगाने की कोशिश करने से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। हालांकि इन प्रवृत्तियों की सही समझ से उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक परिदृश्य के हमारे बोध में निखार आएगा। उससे हमें प्रभाव-प्रतिक्रिया के न्यूनाधिक सरल सूत्र की अपेक्षा किसी अधिक सक्षम वैकल्पिक सूत्र की तलाश में भी मदद मिलेगी।

सभी दु:खों की दवा ज्ञान

उन्नीसवीं सदी के अधिकांश बौद्धिक जनों का विश्वास था कि प्रचलित सामाजिक आचार-व्यवहार और धार्मिक विश्वास प्रगति के लिए बाधक हैं।[23] उनका मानना था कि बहुदेववाद और मूर्तिपूजा व्यक्तित्व के विकास को नकारते हैं, और लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास तथा धार्मिक नेताओं की सत्ता के कारण लोग भयवश लकीर के फकीर बन जाते हैं।[24] उनकी राय में, जाति प्रथा न केवल नैतिक तथा सदाचारगत कारणों से तिरस्कारणीय थी, बल्कि इसलिए भी निंदनीय थी कि उससे सामाजिक विभाजन को बढ़ावा मिलता है और 'लोग देशभक्ति की भावना से विहीन हो जाते हैं।'[25] साथ ही, उन्हें इस बात का भी एहसास था कि 'जिस देश की स्त्रियां अज्ञान में डूबी हुई हों ऐसे किसी भी देश ने सभ्यता के क्षेत्र में कभी पर्याप्त उन्नति नहीं की।'[26] इस प्रकार, उन्नीसवीं सदी के भारत के सामाजिक आचार-व्यवहार और धार्मिक विश्वासों को एक ऐसे ह्रासोन्मुख समाज की विशेषताओं के रूप में देखा गया जो तरह-तरह की बाधाओं, अंधविश्वास, दर्जे और रुतबे, धर्मांधता तथा अंधे भाग्यवाद से ग्रस्त था।[27] इन बुराइयों के स्थान पर स्वतंत्रता, आस्था, अनुबंध, तर्कबुद्धि, सहिष्णुता तथा मानवीय गरिमा की भावना को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया।[28] संक्षेप में, सामंती समाज के प्रभुत्वपूर्ण मूल्यों का विरोध करते हुए बौद्धिक जनों ने बुर्जुआ व्यवस्था के अभिलक्षक मूल्यों के समावेश और स्वीकृति की हिमायत की।

जिन साधनों और तरीकों से यह रूपांतरण संपन्न किया जा सकता था, वे उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों के प्रमुख सरोकारों में से थे। उनके राजनीतिक परिप्रेक्ष्य तथा शिक्षा के संबंध में उनके विचारों का विश्लेषण इस विषय के पल्लवन में सहायक होगा।

उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों का दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान की प्राप्ति सभी दोषों का रामबाण उपचार है। वे भारतीय समाज के सभी दोषों का—धार्मिक अंधविश्वास और सामाजिक रूढ़िवादिता का भी—मूल कारण लोगों के सामान्य अज्ञान को मानते थे। इसलिए उनके सुधार के कार्यक्रम में ज्ञान के प्रसार का स्थान सर्वप्रमुख था।[29] शिक्षा के संबंध में उनके विचार प्रयोजन और तफसील दोनों दृष्टियों से औपनिवेशिक शासकों

की शिक्षा नीति से भिन्न थे। औपनिवेशिक विचारधारा का प्रचार और अग्रेजी राज की प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए उपयोगिता अग्रेजी राज की शिक्षा नीति के मुख्य हेतु थे, लेकिन भारतीय बौद्धिक जनों के शैक्षिक कार्यक्रम का उद्देश्य देश में नवजीवन का सचार करना था। सरकारी हलकों मे शिक्षा को लेकर चलने वाली बहसों का सरोकार कभी भी इस बात से नहीं होता था कि भारतीयों को शिक्षित बनाने का सबसे अच्छा तरीका क्या है। उनका पहला सरोकार तो यह होता था कि शिक्षा नीति किस प्रकार से प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति सबसे अच्छे ढग से कर सकती है।[30] उनका दूसरा सरोकार, जो शायद ज्यादा अहम सरोकार था, यह था कि किस तरीके से भारतीयों के मन मे औपनिवेशिक विचारधारा भरी जा सकती है। विदेशी हुकूमत सिर्फ पुलिस और सेना के बल पर टिकी हुई नहीं थी, विचारधारात्मक प्रभावों से सृजित भ्रम भी उसके लिए मजबूत पाए का काम करता था। इस भ्रम की सृष्टि मे शिक्षा की कल्पना एक प्रभावकारी माध्यम के रूप मे की गई, जिसके सहारे अग्रेजी सस्थाओं और मूल्यों को आदर्श सस्थाओं और मूल्यो के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था।[31] इसलिए सरकार के देशी, प्राथमिक और विश्वविद्यालयी तीनों स्तरों के शैक्षिक प्रयास औपनिवेशिक आवश्यकताओं की सीमाओं मे बधे रहे और वे औपनिवेशिक हितों के दायरे से कभी बाहर नहीं गए।

औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति के विचारधारात्मक प्रभावों के विरुद्ध अपने संघर्ष मे भारतीय बौद्धिक जनों ने 'देशी' भाषाओं के माध्यम से विज्ञान तथा जनशिक्षा पर आधारित एक विकल्प तैयार और लागू करने का प्रयत्न किया। उनकी एक बुनियादी मान्यता यह थी कि पारपरिक और साहित्यिक शिक्षा समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपर्याप्त है। राममोहन राय ने 'युवकों के मस्तिष्क को व्याकरण के नियमों और रहस्यवादी विचारों से' भरने का विरोध किया, क्योंकि 'वह ज्ञान न तो उसके ग्रहीताओं के लिए और न समाज के लिए किसी व्यावहारिक उपयोग का' था।[32] राममोहन राय की इस आपत्ति मे बहुत सारे बौद्धिक जन शामिल थे। एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना सुझाने वाले सर्वप्रथम भारतीय अक्षयकुमार दत्त ने पारपरिक शिक्षा को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया।[33] विद्यासागर ने उन लोगों का उपहास किया जो मानते थे कि शास्त्रों मे सभी वैज्ञानिक सत्य विद्यमान हैं।[34] सैयद अहमद खा की दृष्टि में पारपरिक मुसलिम शिक्षा प्रगति के मार्ग मे बहुत बड़ी बाधा थी।[35]

उन्होने जो विकल्प सुझाया वह 'उदार और प्रबुद्धतापूर्ण शिक्षा पद्धति' थी, 'जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान तथा अन्य उपयोगी विज्ञानों का समावेश था।'[36] अक्षयकुमार की शिक्षा योजना में यह तजवीज थी कि विद्यार्थियों को बिलकुल आरभिक अवस्था मे ही विज्ञान की मोटी-मोटी बातो से परिचित करा देना चाहिए।[37] वे विज्ञान की शिक्षा को समय की ऐसी आवश्यकता मानते थे जिसकी पूर्ति

में विलंब की कोई गुंजाइश नहीं थी, और इसलिए उन्होंने प्रौद्योगिकी, कृषि और जहाज-निर्माण के स्कूलों की स्थापना की हिमायत की।[38] विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, सैयद अहमद खां और वीरेशलिंगम ने भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति पर उतना ही जोर दिया।[39] केशवचंद्र सेन विज्ञान के अभ्यास के अभाव को अंग्रेजी राज द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का प्रमुख दोष मानते थे।[40] वैदिक ज्ञान के पीछे अपनी दीवानगी के बावजूद दयानंद और आर्यसमाजी भी विज्ञान की शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते थे।[41] वैज्ञानिक विषयों को न केवल दयानद ऐंग्लो-वैदिक संस्थाओं के पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया बल्कि गुरुकुल कांगड़ी के पाठ्यक्रम में भी उनका समावेश किया गया।[42]

विज्ञान की शिक्षा पर यह जोर इस बढ़ते हुए एहसास का परिणाम था कि वैज्ञानिक ज्ञान देश की प्रगति और आधुनिक चिंतन तथा संस्कृति के विकास के लिए निर्णायक महत्व की बात है।[43] बौद्धिक जन सामाजिक समस्याओं के प्रति बुद्धिसंगत दृष्टिकोण के विकास के लिए विज्ञान के मौजूदा ज्ञान के प्रसार के महत्व को पहचानते थे, साथ ही वैज्ञानिक विषयों के उच्चतर अध्ययन की आवश्यकता का भी उन्हें उतना ही अधिक भान था, क्योंकि इस तरह के अध्ययन से ही भारतीयों के बीच वैज्ञानिक पैदा होंगे, जो 'प्रकृति के सत्यों का अवगाहन करेंगे, उनके नियमों की खोज करेंगे और उन्हें हमारे भौतिक तथा नैतिक लाभ एवं बृहत्तर मानवता को सामान्य प्रगति की दिशा में मोड़ेंगे।'[44] उद्देश्य 'संयोग से विज्ञान के युग में उत्पन्न हो गए मनुष्यों के स्थान पर वैज्ञानिक मानवों' की सृष्टि का था।[45]

अपनी औपनिवेशिक आवश्यकताओं के ढांचे के अंतर्गत काम करते हुए, अंग्रेजी राज की दिलचस्पी न तो वैज्ञानिक ज्ञान के आम प्रचार-प्रसार में थी और न भारतीयों को उच्चतर वैज्ञानिक अध्ययन में प्रवृत्त करने में। इस सरकारी उदासीनता के प्रति भारतीय बौद्धिक जनों का रुख बहुत आलोचनात्मक था। केशवचंद्र सेन की दृष्टि में, मौजूदा शिक्षा पद्धति की सबसे जीती-जागती कमी वैज्ञानिक अध्ययन के अभ्यास के अवसरों का अभाव थी।[46] महेंद्रलाल सरकार ने अपनी राय जाहिर करते हुए लिखा, 'मुझे कहना होगा कि सरकार ने इस देश के वतनी नेटिव निवासियों द्वारा वैज्ञानिक अध्ययन के अभ्यास का अब तक कोई अवसर सुलभ नहीं कराया है और न उसके लिए कोई प्रोत्साहन दिया है।'[47] जो चीज भारतीय विद्यार्थियों को वैज्ञानिक अध्ययन से रोक रही है वह है 'अवसर का अभाव, साधनों का अभाव और प्रोत्साहन का अभाव।'[48]

भारतीयों ने विज्ञान में रुचि जगाने, वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचार करने और वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए कई प्रयत्न किए। 1825 में कलकत्ता में सोसायटी फार ट्रांस्लेटिंग यूरोपियन साइंसेज (यूरोपीय विज्ञान के अनुवादार्थ संस्था) स्थापित की गई। इस संस्था ने वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के ध्येय को लेकर चलने वाली *विज्ञान सेबदी*

नाम की पत्रिका की सोलह जिल्दें प्रकाशित कीं।[49] इसके बाद यंग बंगाल (युवा बंगाल) के एक महत्वपूर्ण सदस्य, ताराचंद चक्रवर्ती की अध्यक्षता में मैकेनिकल इंस्टीच्यूट (यांत्रिकी संस्थान) की स्थापना की गई।[50] 1833 में यंग बंगाल के सदस्यों ने *विज्ञान सार संग्रह* नाम की एक द्विभाषी मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जिसमें केवल वैज्ञानिक विषयों से संबंधित सामग्री ही छपती थी।[51] उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बंगाल से प्रकाशित पत्रिकाओं की छानबीन करते हुए एक समाजशास्त्री को पता चला :

> समकालीन कलकत्ता के पूरे बौद्धिक वातावरण में वस्तुत: विज्ञान और विज्ञान से संबंधित बातें छाई हुई थीं। लोग अपने भाषणों में और पत्र-पत्रिकाओं में लिखे लेखों में विज्ञान के अध्ययन, अध्यापन और वैज्ञानिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार की मांग लगातार कर रहे थे। *तत्वबोधिनी पत्रिका* और *संवाद प्रभाकर* के स्तंभों में तकनीकी विद्यालयों, कृषि के बेहतर तरीकों पर शोध करने वाले कृषि संस्थानों की स्थापना के हक में बार-बार दलीलें दी जा रही थीं।[52]

इस जागरूकता की परिणति 'नेशनल इंस्टीच्यूट फार दि कल्टिवेशन आफ साइंसेज बाई दि नेटिव्स आफ इंडिया' (भारत के वतनी लोगों द्वारा विज्ञानों के अभ्यास का राष्ट्रीय संस्थान) की स्थापना के रूप में हुई।[53] देश के अन्य भागों में भी इस तरह के प्रयत्न किए गए। 1863 में सैयद अहमद खां ने गाजीपुर में साइंटिफिक सोसायटी की स्थापना की। उसका मुख्य उद्देश्य भारत में कृषि की उन्नत विधियों का प्रचार करना था, ताकि इस देश के लोगों की आर्थिक अवस्था में सुधार हो सके।[54]

अंग्रेजी राज ने आरंभ में शिक्षा की दिशा को समाज के एक छोटे से वर्ग की ओर मोड़ देने की नीति अपनाई, जो भारत के बौद्धिक जनों को बिलकुल पसंद नहीं आई, उन्हें राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के लिए जनशिक्षा के महत्व का एहसास था।[55] अक्षयकुमार ने नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की वकालत की और कहा कि शिक्षा की सुविधाएं किसानों और मजदूरों को सुलभ कराई जाएं।[56] दयानंद ने तो यहां तक सुझा दिया कि ऐसा एक सरकारी आदेश और राष्ट्रीय दस्तूर होना चाहिए कि आठ साल की उम्र हो जाने पर कोई भी अपने बच्चे को घर में रोककर न रखे और जो इस नियम को भंग करे उसे सजा दी जानी चाहिए।[57] विद्यासागर की दृष्टि में 'शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाना' देश की तात्कालिक आवश्यकता थी।[58] केशवचंद्र सेन, महादेव गोविंद रानाडे, वीरेशलिंगम तथा सैयद अहमद खां ने भी जनशिक्षा पर उतना ही अधिक जोर दिया।[59] केशवचंद्र सेन की लोकप्रिय पत्रिका *सुलभ समाचार* का उद्देश्य अत्याचार और शोषण के विरुद्ध जनसाधारण को जागरूक बनाना था।[60] इंडो-फाइलस के छद्म नाम से लार्ड नार्थब्रुक को लिखे अनेक खुले पत्रों की शृंखला में उन्होंने जनशिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए जोरदार अपील की

भारत के करोड़ों मूक मानवों की दशा कितनी अवसादपूर्ण और दयनीय है! ये अनपढ़, दरिद्र, अंधविश्वासी, कमजोर और असहाय लोग अकसर लोभी पुरोहितों, शोषक जमींदारों, निष्ठुर बागानमालिकों और भ्रष्ट पुलिसकर्मियों की दया के भिखारी होते हैं। इनका जीवन सचमुच दुःखों से भरा हुआ है। निचले वर्गों की शिक्षा की अब तक दु:खद उपेक्षा होती रही है। हम शायद इस बात से खुश हो रहे हों कि भारत में पांच लाख से अधिक लोगों को शिक्षा दी जा रही है। लेकिन 1510 लाख की आबादी के मुकाबले यह आंकड़ा कितना छोटा और महत्वहीन है? 1510 लाख लोगों को शिक्षा देना आज भी शेष है...समय ने यह दिखला दिया है कि 'इसका असर (छन-छनकर) तेजी से फैलेगा', यह एक सपना भर था। जनसाधारण को सीधे लाभ पहुचाने के लिए भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने वाले सस्ते स्कूलों का एक तंत्र स्वयं राज्य को स्थापित करना चाहिए। यह देखकर सचमुच बहुत दुःख होता है कि बंगाल में शिक्षा को दिया गया कुल अनुदान 18 लाख रुपए है, जिसमें से केवल तीन लाख मध्य और निम्न वर्गों की शिक्षा के लिए रखा गया है और 15 लाख अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों पर खर्च किया जाता है।[61]

उन्नीसवीं सदी के अधिकांश बौद्धिक जनों को पूरा विश्वास था कि जनसाधारण में ज्ञान का प्रचार करने का एकमात्र माध्यम देशी भाषाएं ही थीं।[62] अपने सामाजिक-धार्मिक विचारों के प्रचार और विज्ञान के ज्ञान के प्रसार के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं के विकास की आवश्यकता के एहसास के कारण अनेक बौद्धिक नेताओं ने इन भाषाओं में सरल शैली का विकास करने की ओर ध्यान दिया, ताकि वे अपनी बात अधिक बड़े समूहों तक पहुंचा सकें और समृद्ध तथा प्रबुद्ध साहित्य की रचना हो सके।[63] उनके विचारों के सबसे प्रभावकारी वाहन देशी भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएं थीं। बंगाल में राममोहन राय की *संवाद कौमुदी*, यंग बंगाल का *ज्ञानान्वेषण*, देवेंद्रनाथ और अक्षयकुमार की *तत्वबोधिनी पत्रिका* और केशवचंद्र का *सुलभ समाचार*; बंबई में बाल शास्त्री जांबेकर का *दिग्दर्शन* और *बंबई दर्पण* (द्विमासिक), भाऊ महाजन का *प्रभाकर* (जिसमें लोकहितवादी के *सत्पत्रे* प्रकाशित होते थे) और दादाभाई नौरोजी का *रस्त गोफ्तार*, तथा आंध्र प्रदेश में वीरेशलिंगम की *विवेकवर्धिनी* और बुचैया पंटालु की *हिंदू जन संस्कारिणी* इस दिशा में किए गए अग्रगामी प्रयत्नों के उदाहरण थे। इनमें से कुछ लोग अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद केवल अपनी-अपनी मातृभाषाओं में ही लिखते थे, और 1833 में स्थापित सर्वतत्व दीपिका सभा जैसी कुछ संस्थाओं के सदस्यों ने केवल अपनी मातृभाषा में ही बात करने की प्रतिज्ञा ली थी।[64]

'आंग्ल-प्रेमी' यंग बंगाल के सदस्यों ने इस विषय पर सबसे पहले बहस छेड़ी

कि क्या मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।[65] सोसायटी फार दि एक्विजिशन आफ जनरल नालेज (सामान्य ज्ञान अर्जनार्थ समिति) के समक्ष जून 1833 में दिए गए एक भाषण में उदयचंद्र आढ्या ने बंगला भाषा के यथेष्ट अभ्यास तथा मातृभाषा के माध्यम से बंगालियों की समुचित शिक्षा के पक्ष में जोरदार अपील की। उन्होंने कहा, 'जब मेरे मन में इस देश के वतनी लोगों में अपनी मातृभाषा के ज्ञान के अभाव का खयाल आता है तो मेरा हृदय क्रंदन कर उठता है और मेरे चेहरे पर आंसुओं की धारा बहने लगती है।'[66] उन्होंने इस ज्ञान के अभाव को देश के दुःखों और उसकी दुर्दशा का एक प्रमुख कारण माना। उनकी दृष्टि में, 'इस देश की भाषा का समुचित ज्ञान' इसकी उस प्रगति और पुनरुज्जीवन की वह आवश्यक पूर्वशर्त है जो इसे आजादी की राह पर ले जाएगी।[67] अंग्रेजी भाषा का सहारा लिए बिना प्रगति करना संभव नहीं है, इस आम विश्वास को 'अंग्रेजों द्वारा अपनी अखूट संपति के जोर पर प्रचारित भ्रम' माना गया।[68] यहां तक कि यंग बंगाल समुदाय के प्रमुख सदस्य कृष्णमोहन बनर्जी भी, जो केवल 'यूरोप के साहित्य, विज्ञान तथा इतिहास का ज्ञान अर्जित करने वालों को ही 'शिक्षित' और बाकी सबको 'सिर्फ ज्ञानी' समझते थे,'[69] मानते थे कि 'किसी भी भारतीय शिक्षा पद्धति में से पौर्वात्य क्लासिकी कृतियों या देशी भाषाओं को बाहर नहीं रखा जा सकता।'[70]

देशी भाषाओं को उतना ही उत्साही हिमायती अक्षयकुमार दत्त के रूप में प्राप्त हुआ। उन्हें मैकाले की उस शिक्षा पद्धति के परिणामों का पूरा एहसास था जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और अपने ही देश-भाइयों से कटे पुंसत्वहीन लोगों का एक समूह तैयार कर रही थी।[71] इसलिए वे अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने के बिलकुल खिलाफ थे, और उसके स्थान पर स्कूली शिक्षा के सभी स्तरों पर बंगला को माध्यम बनाने की उन्होंने हिमायत की।[72] उन्होंने जोर देकर कहा कि अंग्रेजी कभी भी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती।[73]

विद्यासागर के भी शिक्षा कार्यक्रम का मुख्य सरोकार शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा को अपनाने का सिद्धांत था।[74] उनका मानना था कि संस्कृत का ज्ञान 'प्रांजल, व्यंजक और मुहावरेदार बंगला शैली' की सृष्टि का माध्यम है।[75] उन्होंने संस्कृत कालेज में जो सुधार आरंभ किए उनका उद्देश्य ऐसे युवा विद्यार्थियों का एक दल तैयार करना था जो बंगला भाषा में पूर्ण रूप से पारंगत होंगे और जो बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में ठोस ज्ञान के प्रचार में सहायक होंगे।[76] वे देशी भाषा के स्कूलों की स्थापना और संचालन में भी सक्रिय रूप से शामिल हुए।[77] इस प्रकार, यद्यपि केवल अंग्रेजी शिक्षा के सहारे ही सरकारी नौकरियां मिल सकती थीं लेकिन भारत के बौद्धिक जनों ने देशी भाषाओं की शिक्षा पर जोर दिया और उसकी हिमायत की।[78]

फिर भी उन्नीसवीं सदी की समाजार्थिक परिघटनाओं का स्वरूप ही ऐसा था कि

उनकी कोख से विज्ञान तथा जनशिक्षा के लिए आवश्यक पूर्वशर्तों का जन्म नहीं हुआ। फलतः उपर्युक्त विचारों की कोई सामाजिक प्रासंगिकता नहीं रह गई। वे मात्र आदर्श स्वप्न बनकर ही रह गए। इसके अतिरिक्त, अपने कार्यक्रम के कार्यान्वयन के लिए बौद्धिक जन उपनिवेशवादी राज्य पर निर्भर थे, इसलिए उनकी यह योजना अपने-आप में विफल हो जाने वाला प्रयास बनकर रह गई। उपनिवेशवाद के तर्क में एक ऐसी शैक्षिक योजना को बढ़ावा देने के लिए कोई स्थान ही नहीं था जो अंत में उसके विनाश का कारण बन जाती। लेकिन अधिकांश बौद्धिक जन इस वास्तविकता को समझ नहीं पाए और इसीलिए उनमें से अनेक अपने मन में भ्रम पालते रहे कि वे सरकार की नीति को प्रभावित और परिवर्तित कर सकते हैं।

वस्तुतः इस तरह के भ्रम भारत में अंग्रेजी राज की उनकी समझ की उपज थे। चीन में विद्वानों और नागरिकों ने अपने देश को विदेशियों के कब्जे में जाने से बचाने के उपायों पर आपस में खूब चर्चा की थी, लेकिन उसके विपरीत उन्नीसवीं सदी के भारतीय बौद्धिक जनों के सामने एक राजनीतिक यथार्थ खडा था . उन्नीसवीं सदी के दूसरे चरण तक औपनिवेशिक कब्जा लगभग पूर्ण रूप से कायम हो चुका था। वे किसी एकीकृत राज्य और विदेशी आक्राता के बीच के संघर्ष में जो उच्च कोटि की देशभक्ति और प्रबल विदेशी-विरोधी भावना जगा सकता था, भागीदार तो क्या, उसके साक्षी भी नहीं थे। इसके विपरीत, अब तक अंग्रेजी राज एक मजबूत पाए पर खड़ा हो चुका था, उसे एक सुसंगठित शासन-तंत्र, शक्तिशाली सेना और कुशल पुलिस संगठन का समर्थन प्राप्त था। औपनिवेशिक शासन के सिद्धांतकारों ने एक ओर तो उन उदार विचारों को सजा-संवारकर पेश करने का प्रयत्न किया जिनकी प्रेरणा का स्रोत ब्रिटेन था और दूसरी ओर भारत के निरंकुश शासकों की निष्ठुरता और स्वेच्छचारिता को उछालने की कोशिश की,[79] और भारत के बौद्धिक जनों की राजनीतिक यथार्थ की समझ पर काफी हद तक उन प्रयत्नों का मुलम्मा चढ़ गया।

भारत की प्राक्-औपनिवेशिक राजनीतिक संस्थाओं की बौद्धिक जनों की समझ का खास रंग उन संस्थाओं का निरंकुश और स्वेच्छाचारी स्वरूप था। ये मानते थे कि 'इस देश में स्वेच्छाचारी शासनप्रणाली युगों से प्रचलित रही हो'[80] और 'जिनमें उदार सिद्धांतों के प्रति कुछ रुझान था उन्होंने भी अधिक से अधिक यही किया कि कुछ नरम और लोकरंजक सरकार देकर'अथवा रणजीतसिंह[81] और अकबर[82] की तरह क्रमशः 'नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता' प्रदान करके 'उस प्रणाली के दंश को कुछ कम कर दिया।' वे मानते थे कि सांविधानिक शासन की कल्पना भारतीय मानस के लिए पराई चीज है।[83] औपनिवेशिक शासन की स्थापना के ऐन पहले यहां जो राजनीतिक तथा प्रशासनिक अव्यवस्था फैली हुई थी उसकी कमोबेश ताजा स्मृति ने मानो इस तरह की धारणाओं को पुख्ता करने का काम किया। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद स्वशासी

रियासतों का उदय हुआ, और फलतः देश के बहुत बड़े हिस्सों में कोई प्रबल राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति शेष नहीं रही। इससे लुटेरों और आततायियों को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया, जिनमें यूरोपीय और भारतीय दोनों शामिल थे। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में ग्रामीण इलाकों को जी भरकर लूटा और उन्हें तहस-नहस करके छोड़ दिया। स्कीनर और जार्ज टामस, अमीर खां और करीम खां तथा सिंधिया और होल्कर जैसे लुटेरों के सामने देश भूलुंठित और असहाय पड़ा हुआ था।[84] अपनी रक्षा आप करने में असमर्थ छोटे-छोटे सरदारों ने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी से, जो तब तक भारत में वास्तविक अधीश्वरी सत्ता (पैरामाउंट पावर) के रूप में उभर चुकी थी, सैनिक तथा राजनीतिक सुरक्षा की याचना की।[85] अत्याचार की अवधारणा, मसलन बंगाल में मुसलमानों, राजस्थान में मराठों और पंजाब में सिखों के अत्याचार की अवधारणा प्राक्-औपनिवेशिक काल की राजनीतिक संस्थाओं तथा अवस्थाओं की इसी समझ की अभिव्यक्ति थी।[86]

इस 'हिंसा, दमन और कुशासन के दृश्य',[87] 'मर्यादित गुलामी के इस दीर्घ काल'[88] के मुकाबले अंग्रेजों द्वारा लाए गए परिवर्तन यानी कानून का शासन, जान-माल की सुरक्षा और यूरोप के ज्ञान-विज्ञान को सीखने का अवसर 'सचमुच विस्मयकारी' प्रतीत हुए।[89] इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था अंग्रेजी राज की बदौलत प्राप्य उदार और सांविधानिक सिद्धांतों पर आधारित सुंदर राजनीतिक भविष्य का सपना। जिस प्रकार आधुनिक औद्योगिक विकास उनके आर्थिक दृष्टिकोण का आदर्श था उसी प्रकार लोकतांत्रिक तथा सांविधानिक संस्थाएं उनके राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के सबसे बड़े आदर्श थीं। दक्षिण अमरीका के स्पेनी उपनिवेशों में सांविधानिक शासन की स्थापना के उपलक्ष्य में राममोहन राय ने कलकत्ता के टाउन हाल में एक सार्वजनिक भोज दिया,[90] और जब 1821 में नेपल्स की सांविधानिक सरकार अपदस्थ कर दी गई तो वे बहुत दुःखी हुए।[91] उन्होंने लिखा, 'स्वतंत्रता के शत्रु और निरंकुशता के मित्र न तो कभी अंतिम रूप से सफल हुए हैं और न होंगे।'[92] लोकतंत्र के उतने ही प्रबल समर्थक लोकहितवादी थे। उन्होंने जोर देकर कहा कि केवल लोकतांत्रिक सरकार ही लोगों को सुखी बना सकती है, और 'किसी देश के लिए जो कानून बनाए जाते हैं उन्हें जनता की सहमति पर आधारित होना चाहिए।'[93] इंग्लैंड, जहां सांविधानिक शासन की एक दीर्घ और अटूट परंपरा थी, न केवल ऐसा सर्वश्रेष्ठ आदर्श और उदाहरण था, जिसमें 'भारतीय अपनी आंखों से यह देख सकते थे कि लोकतंत्र किस प्रकार काम करता है,'[94] बल्कि वह 'यूरोप का मुक्तिदूत'[95] भी था, जहां जब भी निरंकुश शासकों ने स्वतंत्रता और नागरिक आजादी पर हाथ डाला तब उसने उनकी रक्षा की। उनका विचार था कि संसदीय लोकतंत्र, नागरिक स्वतंत्रता और आधुनिक आर्थिक विकास के आदर्श प्रस्तुत करने वाला इंग्लैंड विश्व के अन्य देशों में उन आदर्शों की स्थापना के उपकरण का काम

करेगा।[96] इंगलैंड 'उनके अपने भविष्य का दर्पण' था। केशवचंद्र सेन का मानना था कि 'पश्चिम के सभी परिष्कृत और उदार विचार भारत में इंगलैंड से आए।'[97] इसलिए अंग्रेजी राज ईश्वर-प्रदत्त उपकरण की तरह स्वागत योग्य था,[98] जो संपूर्ण परिवर्तन संपादित कर सकता था, और जिस परिवर्तन का एक हिस्सा स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के स्थान पर बुर्जुआ लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना था।

परंतु भारत की राजनीतिक तथा प्रशासनिक वास्तविकता इस आदर्श कल्पना के सर्वथा विपरीत थी। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के प्रयत्न,[100] राजस्व, न्याय विभाग और पुलिस प्रशासन में व्याप्त 'घोर और निर्लज्जतापूर्ण भ्रष्टाचार',[101] विधान परिषदों में जन-प्रतिनिधियों की भागीदारी की पूर्ण अनुपस्थिति,[102] और ब्रिटेन के हितों के लिए भारतीय संसाधनों के दोहन[103] को उन आदर्शों का सरासर त्याग मानते हुए बौद्धिक जनों ने इन पहलुओं की तीव्र आलोचना की। सपरिषद राजा (किंग-इन-कौंसिल) और उच्चतम न्यायालय से की गई एक अपील में राममोहन राय और उनके साथियों ने बताया कि यदि प्रेस विनियम पास कर दिया जाता है तो :

> हमारा इस बात पर गर्व करना उचित नहीं रह जाएगा कि हमारा यह सौभाग्य है कि हमें संपूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र का सरक्षण प्राप्त है, या इंगलैंड के राजा और उनकी लार्ड सभा तथा आम सभा हमारे विधायक हैं, और हम इस सबंध में आश्वस्त हैं कि हमें वही नागरिक और धार्मिक सुविधाएं प्राप्त हैं जिनके हकदार इंगलैंड में अंग्रेज लोग हैं।[104]

चार्टर अधिनियमों के नवीकरण के सिलसिले में ब्रिटिश संसद के समक्ष गवाही देते हुए राममोहन ने ईस्ट इंडिया कंपनी के राजस्विक तथा न्यायिक प्रशासन की कमियों को उजागर किया।[105] कंपनी के प्रशासन की शायद सबसे तीव्र आलोचना यंग बंगाल के सदस्यों ने की।[106] रसिक कृष्ण मलिक की राय में, न्याय प्रशासन 'शासन के न्यायसम्मत सिद्धांतों के खिलाफ था',[107] और दक्षिणा रंजन मुखोपाध्याय ने पुलिस व्यवस्था को 'तनिक भी विश्वास के अयोग्य' बताकर उसकी भर्त्सना की।[108] सरकार को अभिजात वर्गीय करार देते हुए, हिंदू कालेज के छात्रों ने इस बात पर अपना क्षोभ प्रकट किया कि विधान परिषद में जनता की कोई आवाज नहीं थी और जो कानून उसके नागरिक आचरण का नियमन करते थे उनके निर्माण में उसका कोई हाथ नहीं था।[109] लोकहितवादी ने भारत में ब्रिटेन में निर्मित माल की भरमार करने पर आपत्ति की,[110] वीरेशलिंगम ने भारत के धन के बहकर इंगलैंड चले जाने के सिलसिले पर दु:ख व्यक्त किया,[111] और केशवचंद्र सेन ने 'अपने स्वार्थ की पूर्ति या विलासिता का जीवन जीने के लिए भारत की संपत्ति, धन-दौलत और संसाधनों' के उपयोग के अंग्रेजों के अधिकार पर आपत्ति की।[112] उन्होंने कहा कि 'यह नहीं हो सकता कि आप मैनचेस्टर के हित

साधने के लिए या समाज के यहां के किसी हिस्से की भलाई की खातिर अथवा वहां जाने वाले व्यापारियों के लाभ के लिए भारत पर कब्जा रखें I...अगर आप भारत पर अधिकार रखना चाहते हैं तो भारत की भलाई के लिए ही रख सकते हैं।'[113] लेकिन इन आपत्तियों और आलोचनाओं का मतलब उन आदर्शों से निराश हो जाना नहीं था जिनका प्रतिनिधित्व ब्रिटेन करता था, बल्कि उलटे उन आदर्शों से ही इन आपत्तियों और आलोचनाओं को प्रेरणा मिली।

दैवी विधान का अर्थात अंग्रेजी राज के ईश्वर की इच्छा का परिणाम होने की कल्पना का सहारा लेकर बौद्धिक जन औपनिवेशिक शासन का स्वागत कर पाए और उसे वैधता प्रदान कर सके। इस प्रकार उन्होंने उस फैलते हुए बुर्जुआ वर्ग और लघु बुर्जुआ वर्ग के दीर्घकालिक तो नहीं लेकिन अल्पकालिक हितों को प्रतिबिंबित किया जिनमें से एक, पराश्रित हैसियत से ही सही, पूंजीवाद के विकास में और दूसरा सेवा क्षेत्र के विकास से जुड़ा हुआ था। हालांकि दैवी इच्छा की कल्पना एक ऐसे राजनीतिक भविष्य के सपने से विहीन नहीं थी जिसमें औपनिवेशिक प्रभुत्व के लिए कोई स्थान नहीं था। अंग्रेजी राज शोषण और अत्याचार से अधिक समाजार्थिक परिवर्तन का औजार साबित हो सकता था, यह मान्यता इस एहसास की अभिव्यक्ति थी।[114] इसी अर्थ में अंग्रेजों को ट्रस्टियों की भूमिका प्रदान की गई,[115] जिन्हें ईश्वर ने भारत को उसकी दयनीय दशा से उबारने के लिए नियुक्त किया था।[116] बौद्धिक जनों का विश्वास था कि जब अंग्रेजों का यह काम पूरा हो जाएगा तब अंग्रेजी राज समाप्त हो जाएगा। अंग्रेजी राज के औजार वाले इस रूप पर और भी जोर देते हुए कहा गया कि यदि अंग्रेज इस दैवी दायित्व का दुरुपयोग करेंगे और दमन का सहारा लेंगे या जनता के हितों को हानि पहुंचाने वाले कानून बनाएंगे तो 'जनता स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर देगी और अंग्रेजों से यहां से चले जाने को कह देगी।'[117] भले ही भारतीयों को अंग्रेजों से अपने को मुक्त कराने में लगभग दो सौ साल लग गए, लेकिन 'अंत में उसकी समाप्ति के बारे में कोई संदेह नहीं था'[118] और 'सत्ता का हस्तांतरण अटलनीय था'।[119]

बहरहाल ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारत की जनता के हितों के बीच के अंतर्विरोध को समझने की असमर्थता के कारण बौद्धिक जन यह मानते रहे कि भारत का वह कल्पित कायाकल्प औपनिवेशिक राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत ही होगा। यह झूठा एहसास मुख्य रूप से उन बुर्जुआ उदारवादी विचारधाराओं की उपज था जिसका प्रचार औपनिवेशिक शासकों ने किया और जिन्हें लोगों के मन में बैठाने का काम बौद्धिक जनों ने किया। चूंकि अंग्रेजी राज की उनकी समझ और उसके प्रति उनका दृष्टिकोण अंशतः इस झूठे एहसास से निर्धारित हुआ था इसलिए इस बात को वे बिलकुल लक्ष्य ही नहीं कर पाए कि अंग्रेजी राज की वास्तविकता उनकी तर्क की इस आधारभूमि से बिलकुल मेल नहीं खाती थी। इसीलिए उनकी आलोचना प्रशासनिक चूकों, नागरिक

स्वतंत्रताओं पर लगाए प्रतिबंध, और अधिक से अधिक तो उस दैवी दायित्व की अवहेलना के प्रसंगों तक सीमित थी। उन्होंने अपने लिए जो भूमिका निर्धारित की उसका कारण भी इस विचारधारात्मक अवरोध को लांघने की उनकी विफलता ही थी। वह भूमिका थी एक बुर्जुआ व्यवस्था के लिए विचारधारात्मक आधार की सृष्टि। औपनिवेशिक अधीनता की राज्यव्यवस्था के अंतर्गत 'सुरुचिपूर्ण व्यक्ति, संस्कारी गृहस्थियां और परिष्कृत समाज' उस व्यवस्था की विशेषताएं थीं। यह चीज राष्ट्रवादियों के रवैए से बिलकुल भिन्न थी। उपर्युक्त अवरोध को लांघने की अपनी क्षमता के कारण उन्होंने उपनिवेशवाद के साथ इस व्यवस्था के विरोध को पहचान लिया और निदान के रूप में वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष के मार्ग पर आरूढ़ हो गए। विचारधारात्मक आधार तैयार करने के लिए बौद्धिक जनों ने जो प्रयत्न किया, स्वयं उस प्रयत्न पर औपनिवेशिक शासन के अधीन विद्यमान समाजार्थिक संरचनाओं की मर्यादाएं लगी हुई थीं। बुर्जुआ उदारवादी विचारों को पोषण देने के लिए कोई तद्रूप भौतिक आधार मौजूद नहीं था, इस तथ्य ने उन्नीसवीं सदी में उन विचारों के विकास को अवरुद्ध करने का काम किया। यहां इस बात पर विचार करना योग्य होगा कि उन्नीसवीं सदी के दौर में जब ये विचार उदित और विकसित हो रहे थे तब उनका स्वरूप कितना सीमित और बौना था।

बुद्धिवाद और धार्मिक सार्वजनीनतावाद

उन्नीसवीं सदी में दो महत्त्वपूर्ण बौद्धिक तथा विचारधारात्मक लड़ियां बुद्धिवाद और धार्मिक सार्वजनीनतावाद थे। उनके उद्भव के स्रोत, संप्रेषण के मार्ग और प्रयोग के तरीके आज भी शोध के ऐसे क्षेत्र बने हुए हैं जिनकी छानबीन नहीं की जा सकी है। जो छानबीन हम यहां करने जा रहे हैं वह उन्नीसवीं सदी के दौरान उनके विकास तक सीमित है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में सामाजिक-धार्मिक मुद्दों से संबंधित दृष्टिकोण बुद्धिवाद से प्रबल रूप से प्रभावित रहा। 1803 में प्रकाशित राममोहन की उपलब्ध प्रथम कृति *तुहफात-उल-मुवाहिद्दीन* से इसकी शुरुआत हुई। उसमें उन्होंने आस्तिकतावादी विश्वास और आत्मा तथा परलोक की कल्पना को छोड़कर शेष संपूर्ण धार्मिक प्रणाली को बेलाग बुद्धिवादी कसौटी पर कस दिया।[120] चमत्कारों और अंधविश्वासों पर तीव्र प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि जो प्रत्यक्ष दिखाई दे और जिसकी व्याख्या बुद्धि से की जा सके वही सत्य का एकमात्र आधार है।[121] यंग बंगाल के सदस्यों से उन्होंने कहा, 'जो बुद्धि से काम लेने को तैयार नहीं है वह धर्मांध है; जो बुद्धि से काम नहीं ले सकता वह मूर्ख है; और जो बुद्धि से काम नहीं लेता वह गुलाम है'[122] और अक्षयकुमार को लिखा, 'विशुद्ध बुद्धिवाद हमारा गुरु है।'[123] अक्षयकुमार के अनुसार, प्रकृति की लीलाएं मनुष्य

की समझ से परे नहीं थीं, और अंधविश्वासों का सहारा लिए बिना, विशुद्ध रूप से यांत्रिक प्रक्रियाओं से, ब्रह्मांड का विश्लेषण किया जा सकता था और उसे समझा जा सकता था।[124] अपने जीवन के आरंभिक चरण मे केशवचंद्र सेन ने धर्मग्रंथों के प्रमाण को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया,[125] और व्यक्ति की बुद्धि को यह तय करने की शक्ति से संपन्न बताया कि कौन सी चीज तर्कसंगत और सच्ची है। इसी प्रकार उन्होंने यह तय करने का अधिकार भी मनुष्य के विवेक को दिया कि क्या सही है और क्या गलत।[126] इस चरण मे उनका यह विश्वास अवश्य था कि संबुद्धि ईश्वरीय ज्ञान है, लेकिन इसे वे नितांत व्यक्ति-सापेक्ष मानते थे, जिसमें व्यक्ति की चेतना निर्णायक तत्व थी।[127] सैयद अहमद खां की दृष्टि में, धार्मिक मामलों में बुद्धिवाद मार्गदर्शक सिद्धांत था,[128] रानाडे 'हमारे विवेक और हमारी बुद्धि को हमारे आचरण के लिए एकमात्र नहीं तो सर्वोच्च मार्गदर्शक अवश्य' मानते थे;[129] और लोकहितवादी ने सभी सामाजिक सुधारों के लिए सबसे महत्वपूर्ण मापदंड के रूप में बुद्धिवाद की हिमायत की।[130]

जो लोग सामाजिक-धार्मिक सुधारों की वास्तविक प्रक्रिया से जुड़े हुए थे उन्हें इस बुद्धिवादी स्थिति से हटते हुए स्पष्ट देखा जा सकता है। राममोहन के *तुहफात* के दौर के बुद्धिवाद में उनके परवर्ती जीवन काल में स्पष्ट गिरावट आई।[131] उन्होंने अपने देववादी (डिस्टिक) विश्वास का त्याग कर दिया और वेदों को ईश्वर का संदेश मानने लगे।[132] धर्मग्रंथो के तथ्यो पर बुद्धिवादी आलोचना को लागू करने के बदले अब वे उनकी विसंगतियों और अंतर्विरोधों के कारण बताते हुए उनमें सामंजस्य दिखलाने का प्रयत्न करने लगे।[133] केशवचंद्र सेन में यह परिवर्तन अधिक नाटकीय था। जिस युवा ब्रह्मसमाजी ने ब्रह्म समाज के मूल गतानुगतिकता-विरोध को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रबल अभियान छेड़ दिया था उसी ने अब प्रार्थनाओ मे आरती, पूजा और संकीर्तन को दाखिल कर दिया। जो लोग उनसे असहमत थे उन पर 'धर्मविहीन, अपधर्मी, बुद्धिवादी और आस्थाहीन' होने का आरोप लगाया गया।[134] इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि नए पंथ के प्रधान धर्माधिकारी के रूप में उन्होंने अपने संबुद्धिगत अनुभव का विस्तार सार्वजनीन स्वीकृति के लिए किया।[135] रानाडे भी अपनी बुद्धिवादी स्थिति से विचलित हो गए। सामाजिक दबाव में आकर उन्होंने एक विधवा से विवाह करने की अपनी योजना का त्याग कर दिया,[136] और ईसाई धर्मप्रचारकों द्वारा आयोजित एक चाय-पान भोज में शरीक होने के लिए प्रायश्चित किया, लेकिन उन्हें इसकी व्यर्थता का पूरा विश्वास था।[137] ध्यान देने की बात है कि अक्षयकुमार दत्त जैसे जो लोग सुधार की गतिविधियों से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध नहीं थे उनमें यह परिवर्तन नहीं आया।

इस तरह कदम वापस लेना व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि यह बात आंदोलनों पर भी लागू होती है। हालांकि प्रारंभिक ब्रह्म समाज के ब्रह्म वैज्ञानिक बुद्धिवाद को कायम रखने का संघर्ष संस्था के अंदर से चलता रहा फिर भी इस समाज के दूसरे

विभाजन और नए पंथ की स्थापना के साथ वह अपना प्रभाव खो बैठा। धर्मग्रंथों के ईश्वरीय सत्य की बुद्धिवादी आलोचना, जो प्रारंभिक आंदोलनों की मुख्य विशेषता थी, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के धार्मिक आंदोलनों में देखने को नहीं मिलती। दयानंद और आर्यसमाजियों ने न केवल दैवी संदेश की कल्पना और वेदों की अमोघता को स्वीकार किया, बल्कि यह भी माना कि उनकी प्रासंगिकता विश्वजनीन और कालातीत है।[138] उनकी दृष्टि में बुद्धि की भूमिका वेदों को समझने और उनकी व्याख्या करने में एक सहायक उपकरण की भूमिका तक सीमित थी।[139] रामकृष्ण ने मूर्तिपूजा को स्वीकार किया और परंपरागत धर्म के सभी कर्मकांडों तथा रीति-रिवाजों का औचित्य सिद्ध किया, और उनके शिष्य विवेकानंद ने वेदों को 'ईश्वरीय ज्ञान' कहा।[140] किसी बात को बुद्धिवाद के सहारे स्पष्ट और निरूपित करने पर पहले जो जोर दिया जा रहा था उसका स्थान अब धर्मग्रंथों के अनुदेश और धार्मिक विश्वास ने ले लिया।[141]

उन्नीसवीं सदी में एक और भी महत्वपूर्ण विचार के क्षेत्र में ह्रास और कदम वापस लेने की प्रक्रिया देखने को मिली। तात्पर्य धार्मिक विश्वजनीनता से है। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के बीच उन्नीसवीं सदी के सुधार की एक खूबी यह थी कि तुलनात्मक धर्म और विश्वजनीन धार्मिक तत्वों की छानबीन का सिलसिला चल पड़ा था। सुधारकों ने धार्मिक विश्वजनीनता की कल्पना को जिस तरह अभिव्यक्त किया उसका मूल इसी छानबीन में समाया हुआ था। सुधार के आरंभिक चरण में धार्मिक चिंतन की सबसे बड़ी विशेषता ईश्वर की एकता और एकेश्वरवाद पर आधारित विश्वजनीन दृष्टिकोण था। उदाहरण के लिए, हिंदू, मुसलिम तथा ईसाई धर्मग्रंथों के विशद अध्ययन से राममोहन राय को विश्वास हो गया कि 'धार्मिक सत्य का सार, एक भावना के रूप में ईश्वर की एकता को समझना, शुद्ध भावना और सचाई के साथ उसकी पूजा, आत्मा की अमरता, और आध्यात्मिक जीवन के आधार पर स्थित नैतिक अनुशासन, ये सब ऐतिहासिक धर्मों के पवित्र ग्रंथों की मुख्य शिक्षा हैं।'[142] केशवचंद्र का दृष्टिकोण यह नहीं था 'कि सत्य सभी धर्मों में मिलेंगे' बल्कि वह यह था कि 'विश्व के सभी प्रतिष्ठित धर्म सच्चे हैं।'[143] सैयद अहमद खां मानते थे कि सभी धर्म तत्वत: एक हैं और सभी नबियों का *दीन* एक है।[144] इस मूलभूत एकता के बावजूद बाहरी रूपों में जो भेद है वह जिन समाजों में वे धर्म फूले-फले उनकी अलग-अलग आवश्यकताओं के कारण है।[145] राममोहन मानते थे कि विश्वजनीन ईश्वरत्व तो केवल एक है, और हिंदू, इसलामी और ईसाई ईश्वरत्व उसके राष्ट्रीय रूप हैं।[146] इसी विश्वजनीन दृष्टिकोण के कारण उन्होंने वेदों के एकेश्वरवाद और ईसाई धर्म के एकत्ववाद का मंडन किया, एवं हिंदुओं के बहुदेववाद तथा ईसाइयों के त्रिदेववाद का खंडन किया।[147] हिंदू धर्म हो या ईसाइयत अथवा इसलाम, एक-दूसरे द्वारा किए जाने वाले प्रहारों से उन्होंने सभी के मूलभूत

सिद्धांतों का बचाव किया। इसी प्रकार केशवचंद्र ने 'ईश्वर के पितृत्व' की विश्वजनीनतावादी अवधारणा का इस्तेमाल 'मानव-मात्र के भ्रातृत्व' के अर्थ में किया और अपने चारों ओर के सभी लोगों को—'चाहे वे पारसी हों या हिंदू, अथवा मुसलमान या यूरोपीय'—अपने भाइयों के रूप में देखा।[148] विवेकानंद का विचार था कि विभिन्न धर्म न तो एक-दूसरे से भिन्न हैं और न एक-दूसरे के विरोधी।[149] उनकी दृष्टि में केवल एक ही चिरंतन धर्म था, जिसे अस्तित्व के विभिन्न धरातलों पर लागू किया जाता था।[150]

धार्मिक एकता में विश्वास राममोहन राय और केशवचंद्र द्वारा धर्मों के पारस्परिक समाहार के प्रयत्न का आधार था। राममोहन का मानना था कि समाहार की एक प्रक्रिया द्वारा सभी धर्म अनिवार्य रूप से विश्वजनीन धर्म की ओर प्रगति कर रहे हैं, लेकिन उनकी इस मान्यता का अर्थ यह नहीं था कि इस समाहार प्रक्रिया के फलस्वरूप सभी धर्म एक दूसरे से मिल जाएंगे और एक विश्वव्यापी चर्च या धर्मसंघ स्थापित हो जाएगा।[151] इसके विपरीत वह समाहार राष्ट्रीय ईश्वरवाद को मिटाए बिना प्रत्येक धर्म में विश्वजनीन विचारों के पूर्णतर विकास में सहायता करेगा। केशवचंद्र के नए विधान में सभी धर्मग्रंथों के सत्य को एक अलिखित धर्मग्रंथ में समेटने और सभी प्रतिष्ठित धर्मों के विचारों और प्रतीकों को ग्रहण करके एक विश्वजनीन धर्मसंघ की स्थापना का प्रयत्न किया गया।[152] अपनी विश्वजनीनतावादी प्रतिबद्धताओं के बावजूद ब्रह्म समाज ने पहले ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया था। हालांकि इस समाज की अवधारणा विश्वजनीन सिद्धांतों के आधार पर की गई थी फिर भी व्यवहार में यह एक हिंदू ईश्वरवादी संघ ही बना रहा था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस धार्मिक परिप्रेक्ष्य में भारी परिवर्तन हुआ। धार्मिक विश्वजनीनता का स्थान धार्मिक विशिष्टता ने ले लिया। इस परिवर्तन को शायद सबसे पहले बंकिमचंद्र चटर्जी ने अभिव्यक्ति दी, जिनकी दृष्टि में 'हिंदू धर्म के महान सिद्धांत सभी युगों और समस्त मानव जाति के लिए अच्छे थे।'[153] दयानंद सरस्वती ने वेदों को आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहा कि ईश्वर का संदेश केवल उन्हीं में निहित है, और वे सभी ज्ञान-विज्ञान तथा मानव जाति के धर्म के स्रोत हैं।[154] उनकी दृष्टि में वेदों पर आधारित हिंदू धर्म वह एकमात्र धर्म था जो सब पर लागू किया जा सकता था।[155] ब्रह्म समाज में राममोहन राय की वेदों की अमोघता की मान्यता को अक्षयकुमार की बुद्धिवादी दलीलों के प्रभाव के अधीन चुनौती दी गई थी, लेकिन दयानंद के अनुयायियों के बीच बहस का विषय वेदों की अमोघता नहीं था, बल्कि यह था कि क्या दयानंद के लेखन और उद्घोषणाओं को भी वही अमोघता प्रदान की जाए जो वेदों की है।[156] हालांकि विवेकानंद ने धार्मिक मेल-जोल पर यथेष्ट जोर दिया फिर भी उनका आदर्श वैदिक मनीषियों के तत्त्वान्वेषणों पर आधारित धर्म था,[157] और उनकी दृष्टि में हिंदू धर्म सभी धर्मों की जननी थी, जिसने दुनिया को विश्वजनीन सहिष्णुता

और स्वीकृति का पाठ पढ़ाया था, और इस धर्म का अनुयायी होने पर उन्हें गर्व था।[158] राममोहन राय के जमाने में जहां विश्वजनीन ईश्वरवाद पर जोर दिया जा रहा था वहीं अब हिंदू धर्मोन्मुख ईश्वरवादी आदर्श पर बल दिया जा रहा था। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी में विश्वजनीनता के आदर्श की अकाल मृत्यु हो गई, और इस प्रकार उसके अंदर से धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के जन्म लेने की संभावना की भ्रूण हत्या हो गई। उसका स्थान धार्मिक विशिष्टतावाद ने ले लिया, जिसने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के मार्ग में बहुत बाधा उपस्थित कर दी, क्योंकि एक बहुधर्मी समाज में विश्वजनीनतावाद उस प्रक्रिया के आवश्यक अग्रदूत का काम करता। धार्मिक विशिष्टतावाद की दिशा में आरंभ हुई इस यात्रा में बीसवीं सदी में और भी तेजी आ गई, जिससे और बातों के अलावा सांप्रदायिक विचारधारा के विकास में सहायता मिली और फलत: समाज का साप्रदायीकरण हो गया। यह बात अंतर्विरोधपूर्ण तो है लेकिन साथ ही सच भी है कि समकालीन भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए चलने वाला संघर्ष धार्मिक विश्वजनीनतावाद की सामाजिक तथा राजनीतिक स्वीकृति के लिए उन्नीसवीं सदी में चलने वाले संघर्ष से आगे नहीं जाता। हालांकि औपनिवेशिक राज्य तथा दफ्तरशाही ने भारतीय समाज में सांप्रदायिक विभेद को बढ़ाने और तेज करने के लिए इस विचारधारात्मक कमजोरी का फायदा उठाया फिर भी दार्शनिक स्तर पर सुधार की कमजोर नींव इसके लिए कुछ कम जिम्मेदार नहीं थी।

विचारधारा और भौतिक यथार्थ

यह स्पष्ट हो गया होगा कि मैं यहां मनुष्य के अस्तित्व के भौतिक आधार से विच्छिन्न बौद्धिक इतिहास की 'स्वायत्त' स्थिति की वकालत नहीं कर रहा हूं। बौद्धिक इतिहास कोई चिंतन का इतिहास नहीं है, बल्कि वह तो 'मनुष्य के सोचने के तरीके का इतिहास' है। इसलिए मेरा निवेदन यह है कि बौद्धिक परिघटनाओं की जटिलताओं को ठीक से तभी समझा जा सकता है जब उन्हें विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखा जाए। लेकिन हमारे इतिहास के आधुनिक काल के संदर्भ में उसका अर्थ बौद्धिक परिघटनाओं पर वस्तुगत स्थितियों द्वारा—जैसे पूंजीवादी विकास के रुद्ध और पराधीन रूप तथा वर्ग संरचनाओं के तज्जनित स्वरूप और मार्ग द्वारा—लगा दी गई सीमाओं की स्वीकृति भर नहीं होगा, बल्कि विचारों तथा उस वस्तुगत यथार्थ के बीच के संबंधों को समझने का प्रयत्न भी होगा जिसके लिए स्वयं उन विचारों का विशद अध्ययन और विश्लेषण करना होगा। दूसरे शब्दों में, वह अध्ययन भौतिक आधार तथा विचारधारात्मक प्रणाली के बीच के द्वंद्वात्मक संबंधों का अध्ययन होगा, और साथ ही संपूर्ण संरचना में उस विचाराधारात्मक प्रणाली की भूमिका को भी ठीक से समझना होगा। केवल ऐसे प्रयास से ही उस कुहेलिका को मिटाने में सहायता मिलेगी जो उन्नीसवीं सदी के भारत में

बौद्धिक जनों के चरित्र और भूमिका को हमारी वर्तमान समझ पर छाई हुई है। विचारों और उनके भौतिक आधार के बीच चलने वाली सतत अंतर्क्रिया ही वह चीज है जिसके कारण उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों के बुर्जुआ-लोकतांत्रिक विचारों का स्वरूप अवरुद्ध और बौना रहा और इसी कारण से वे उनके लिए पूर्णतर प्रतिबद्धता के साथ संघर्ष नहीं कर पाए। औपनिवेशिक बौद्धिक जन विकासमान बुर्जुआ वर्ग के 'सजीव अंग' नहीं थे, बल्कि वे ऐसे लोग थे जो औपनिवेशिक प्रभुत्व के अधीन एक सामंती समाज के रुद्ध और पराधीन किस्म के पूंजीवाद की ओर संक्रमण के काल में बुर्जुआ विचारों को ग्रहण करके उनके प्रचार और स्वीकृति के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस आलेख के आरंभ में पहचान के जिस संकट का जिक्र किया गया है उसके मूल इसी अंतर्विरोध में निहित हैं। उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों की व्यक्तिगत तेजस्विता और प्रयत्नों के बावजूद कुल मिलाकर उनके विफल, हताश और त्रासदीग्रस्त हो जाने का कारण भी इसी अंतर्विरोध में समाया हुआ था।

वर्ग और उसके राजनीतिक तथा साहित्यिक प्रतिनिधियों के बीच के संबंध का निर्देश करते हुए मार्क्स ने जो बात लुई बोनापार्ट के शासन काल के फ्रांस के संदर्भ में कही थी वह औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक परिवेश पर भी लागू होती है :

> जो बात उन्हें (लोकतंत्रवादियों को) लघु-बुर्जुआ के प्रतिनिधि बना देती है वह यह है कि अपनी सोच में वे लोग उन सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाते जिन सीमाओं से लघु-बुर्जुआ अपने जीवन में आगे नहीं जा पाते, और यह कि इसके फलस्वरूप वे सैद्धांतिक रूप से उन्हीं समस्याओं और समाधानों पर जा पहुंचते हैं जिन समस्याओं और समाधानों पर भौतिक हित और सामाजिक स्थिति लघु-बुर्जुआ को व्यावहारिक जीवन में ले जाते हैं।[59]

यह वह सामाजिक सीमा थी जिसे औपनिवेशिक भारत का बौद्धिक प्रयास लांघ नहीं पाया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 जवाहरलाल नेहरू, *एन आटोबायोग्राफी*, लंदन, 1947, पृ 596

2 राममोहन राय के कलकत्ता में दो घर थे एक में वे यूरोपीय मित्रों की मेजबानी करते थे और दूसरे में उनका परिवार रहता था. कहते हैं, पहले घर में सिवा राममोहन के हर चीज यूरोपीय थी और दूसरे में सिवा राममोहन के हर चीज भारतीय थी

3 तात्पर्य उपनिवेशवादियों के जनक देशों के प्रति अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्य वर्ग के रुख से और औपनिवेशिक सांस्कृतिक मूल्यों पर उनकी निर्भरता तथा उनके द्वारा उन मूल्यों के अपनाए जाने से है देखिए एडवर्ड शिल्स, *दि इंटलेक्चुअल बिटवीन ट्रैडिशन एंड माडर्निटी : दि इंडियन सिचुएशन*, हेग, 1961, पृ 27-28

4 इन शब्दों का प्रयोग मैं उन सभी लोगों के लिए कर रहा हूं जो विचारों की सृष्टि, स्वीकृति और प्रचार के प्रयत्न में लगे हुए थे यद्यपि इसमें वे लोग भी शामिल हैं जिन्हें आमतौर पर सुधारक कहा जाता है लेकिन इसमें मैं उन बहुत सारे लोगों को भी शरीक करता हूं जिनकी सच्चे अर्थों में सुधारक की कोई भूमिका नहीं थी 'नेता' शब्द से समाज में किसी वर्चस्वी प्रभाव का बोध नहीं होता

5 इस वर्गीकरण को एल एस एस ओ मैली और जे एन फरकुहार से लेकर सलाहुद्दीन अहमद और आर.सी मजुमदार तक बहुत सारे इतिहासकारों की स्वीकृति प्राप्त हुई इनमें से किसी ने भी प्रत्येक समूह के अंदर विद्यमान परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों की ओर और जो विचार इन वर्गों के अंतर्गत नहीं आते उनके महत्व की ओर ध्यान नहीं दिया देखिए एल एस एस ओ मैली, *माडर्न इंडिया एंड दि वेस्ट*, लंदन, 1968, पृ 54, जे एन फरकुहार, *माडर्न रिलिजियस मूवमेंट्स इन इंडिया*, लंदन, 1914, सलाहुद्दीन अहमद, *सोशल आइडियाज एंड सोशल चेंज इन बंगाल*, लाइडन, 1965, पृ 27, और आर.सी. मजुमदार (स), *ब्रिटिश पैरामाउंटसी एंड इंडियन रिनासां*, जिल्द X, भाग II, बंबई, 1965, पृ 256-84

6 औपनिवेशिक काल की सभी परिघटनाओं को संदर्भ के आईने के सामने रखकर देखने के महत्व पर कई लेखकों ने जोर दिया है देखिए विपन चंद्र, *नेशनलिज्म एंड कालोनियलिज्म इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, पृ 1-37

7. अठारहवीं सदी को 'अधकारपूर्ण युग' के रूप में चित्रित करना इस ढांचे का एक हिस्सा था

8 औपनिवेशिक शासन काल की इन तमाम परिघटनाओं का, मानवतावाद से लेकर राष्ट्रवाद तक की सभी परिघटनाओं का स्पष्टीकरण इसी ढांचे के अंतर्गत दिया गया है देखिए ओ मैली, *माडर्न इंडिया एंड दि वेस्ट*, पृ 54-66, बी टी मैककली, *इंगलिश एजुकेशन एंड दि ओरिजिंस आफ इंडियन नेशनलिज्म*, नई दिल्ली, 1966 (पुनर्मुद्रण), पृ 176-237, और पर्सीवल स्पीअर, *ए हिस्ट्री आफ इंडिया*, हारमंड्सवर्थ, 1968, पृ 160 चार्ल्स हाइम्सैथ की कृति *हिंदू सोशल रिफार्म एंड इंडियन नेशनलिज्म* (प्रिंस्टन, 1964) भी इसी ढांचे के अंदर आती है, हालांकि वे कहते हैं इससे उलटी बात अपेक्षाकृत हाल में और वस्तुत अधिक सूक्ष्म रीति से इसी सूत्र को अनिल शील के भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के अध्ययन में लागू किया गया है. वे लिखते हैं, 'इस कृति की सामान्य समस्या पर प्रहार करना संभव नहीं है, यानी इस बात को किस प्रकार आधुनिक राजनीति और उसके मूल स्पष्ट रूप से उन भारतीयों से जुड़े हुए हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य पद्धति से हुई थी ' अनिल शील, *दि इमर्जेंस आफ दि इंडियन नेशनलिज्म*, कैंब्रिज, 1968, पृ 16

9 बी सी भट्टाचार्य, 'डेवलपमेंट आफ सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज इन बंगाल, 1858-1885', अप्रकाशित पी एच डी शोध प्रबंध, लंदन विश्वविद्यालय, 1934, पृ 13

10 'कुछ निश्चित धार्मिक विचारों के एक समूह और सामाजिक रीति-रिवाज के सांचे में ढले एक गतिशून्य समाज पर अचानक एक नई विचारधारा फट पड़ी उससे धर्म के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का जन्म हुआ और राज्य तथा समाज की उचित संभावना और दायित्व निर्धारित करने के लिए उनके उद्भव की छानबीन करने की प्रवृत्ति पैदा हुई ' आर.सी मजुमदार (स), *ब्रिटिश पैरामाउंटसी*, पृ 89

11. वी पी एस रघुवंशी, *इंडियन सोसाइटी इन दि एटींथ सेंचुरी*, नई दिल्ली, 1969, पृ 143-46, पी एन. बोस, *हिंदू सिविलाइजेशन*, जिल्द I, लंदन, 1896, पृ 115-16, के वीरास्वामायलु, *मान गुरुदेवुलु* (तेलुगु), 1963, पृ 120-36, और जक्कुल स्वामिनाथैया, *श्री पोतुलूरि वीरब्रह्मगारि : जीवित चरित* (तेलुगु), 1954 पृ 162-70 (आंध्र प्रदेश के सामाजिक-धार्मिक आदोलनों पर तेलुगु स्रोतों से सदर्भ सुलभ कराने के लिए मैं हैदराबाद स्थित सेंट्रल यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग के वी रामकृष्ण

का आभारी हूं।)

12 के के दत्त, *सर्वे आफ इंडियाज सोशल लाइफ एंड इकानामिक कंडीशंस इन दि एटींथ सेंचुरी, 1707-1813*, दिल्ली 1961, पृ 4

13 बेनी गुप्ता, 'चरण दासी सेक्ट', *जर्नल आफ दि राजस्थान इंस्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल रिसर्च*, अप्रैल-जून 1974, पृ 16-30

14 चरणदास का विधान था कि मनुष्य को (1) झूठ नहीं बोलना चाहिए, (2) निंदा नहीं करनी चाहिए, (3) कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए, (4) बेकार की बातें नहीं करनी चाहिए, (5) चोरी नहीं करनी चाहिए (6) दुराचार नहीं करना चाहिए, (7) किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा नहीं करनी चाहिए, (8) बुरी बात नहीं सोचनी चाहिए, (9) घृणा नहीं करनी चाहिए, (10) पाखंड या अहंकार नहीं करना चाहिए, बाद के कर्ताभाओं ने भी आचरण के दस नियम विहित किए,

15 रघुवंशी, *इंडियन सोसाइटी इन दि एटींथ सेंचुरी*, पृ 146 मोंटगोमरी ने लिखा (हालांकि जाहिर है एक ईसाई की मंशा से प्रेरित होकर लिखा) कि 'भारत में पंथवाद फैल गया है, खास तौर से एक समय के रूढ़िवादी हिंदुओं के बीच, जिनमें से बहुत सारे लोग घोर मूर्तिपूजा की स्थिति छोड़कर अमूर्त देववाद की ओर बढ़ रहे हैं' रघुवंशी की उपर्युक्त कृति के पृ 146 में उद्धृत साथ ही देखिए एच एच विल्सन, *एसेज एंड लेक्चर्स चीफली आन दि रिलीजन आफ दि हिंदूज* II, लंदन, 1862, पृ 76-77

16 इस प्रक्रिया के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं उत्तर प्रदेश में कायस्थ, बंगाल में कैवर्त, मैसूर में पंचम बणिगाए और पंचाल तथा बिहार में अग्रदानी और गंगापुत्र इस काल में नई जातियों के रूप में उभर रहे थे रघुवंशी, *इंडियन सोसायटी इन दि एटींथ सेंचुरी*, पृ 79-80 विखंडन के कारण अनेक थे, जिनमें पेशे में परिवर्तन भौतिक स्थिति तथा धर्मांतर अनुस्वीकृति का भी समावेश था

17 जाति संबंधी पेशों में परिवर्तन के उदाहरण अनेक हैं बहुत सारे ब्राह्मण गुजरात के कारखानों में कुलियों का काम करते थे मिथिला में वस्तुतः 68 प्रतिशत ब्राह्मण कृषि कर्म में भाग लेते थे और केवल 12 प्रतिशत पुरोहिताई पर जीते थे रघुवंशी, वही, पृ 61-63 महाराष्ट्र में दर्जियों ने अपना पारंपरिक धंधा छोड़कर रंगरेजों का काम अपना लिया एच एफ फुकुआवा, 'स्टेट एंड कास्ट सिस्टम (जाति) इन दि एटींथ सेंचुरी मराठा किंगडम', *हितोत्सुबाशी जर्नल आफ इकनामिक्स*, IX (1), पृ 39-44

18 अठारहवीं सदी में जातीय उच्चता के दावों और ऊंची जातियों के रीति रिवाजों और कर्मकांड के अपनाए जाने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं मसलन मैसूर में लिंगायतों ने अपने को शूद्रों से ऊंचा बताया और बंगाल के जलकर्दों ने वैश्य दर्जे का दावा किया सुनार और कुम्हार यज्ञोपवीत धारण करने लगे और विधवा-विवाह का रिवाज छोड़ दिया फ्रांसिस बुकानन, *ए जर्नी फ्राम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज आफ मैसूर, कनारा, एंड मलाबार*, जिल्द I, लंदन, 1807, पृ 252-58, 214-15, 395, फार्मिंगर (सं), *फिफ्थ रिपोर्ट आन इंडियन अफेयर्स*, जिल्द III, पृ 9-10

19 नक्षत्र विज्ञान के क्षेत्र में आमेर का जयसिंह, इस्लाम धर्म और दर्शन के संबंध में दिल्ली निवासी शाह वलीउल्लाह, और साहित्य के क्षेत्र में, उर्दू में मीर सौदा तथा नजीर, उड़िया में ब्रजनाथ बोडाजेना और बंगला में भारतचंद्र राय इस संदर्भ में कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण नामों के उदाहरण हैं

20 हरमन गज, *दि क्राइसिस आफ इंडियन सिविलाइजेशन इन दि एटींथ एंड नाइनटींथ सेंचुरीज*, लंदन, 1938 साथ ही देखिए जार्ज बीयर्स, 'इंटलेक्चुअल एंड कल्चरल कैरेक्टरिस्टिक्स आफ इंडिया इन ए चेंजिंग एरा, 1740-1800', *जर्नल आफ एशियन स्टडीज* नवंबर 1965 वे लिखते हैं '1740 से 1800 तक भी भारत की संस्कृति उस समाज की सजीव अभिव्यक्ति थी जो अपने भाग्य का निर्माता खुद दिखाई देता है इस समाज ने अपने विभिन्न स्तरों पर, अभिजात स्तर पर भी और जन स्तर पर भी, विविधता और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से प्रचुर कला, संगीत, साहित्य और विद्वत्ता

की सृष्टि की '

21. कवन नंबियार की मलयालम कृति *ओत्तन तुल्लतुक्ल* तथा बंगाल के *मंगल काव्य* इस दिशा में प्रारंभिक प्रयास हैं देखिए के एस जार्ज, *ए सर्वे आफ मलयालम लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1968, पृ 103-26 और सुकुमार सेन, *हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1960, पृ 112-21

22. इस दृष्टि से उर्दू और तेलुगु साहित्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं देखिए शील्स, 'इंटलेक्चुअल एंड कल्चरल कैरेक्टरिस्टिक्स आफ इंडिया', उपर्युक्त, मुहम्मद सादिक, *ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1964, पृ 66-116, डब्ल्यू एच कैंबेल, 'दि थन ग्रेट पोएट आफ दि पीपुल', वी आर नारल (स), *वेमन यू वेस्टर्न आइज,* नई दिल्ली, 1969, पृ 50-67, और जी वी सीतापति, *हिस्ट्री आफ तेलुगु लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1968, पृ 36

23. राममोहन ने लिखा 'मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज हिंदू जिस प्रकार के धर्म का अनुसरण कर रहे हैं वह उनके राजनीतिक हित की सिद्धि में सहायक होने लायक नहीं है जाति-भेद तथा असंख्य विभाजनों और उपविभाजनों ने उन्हें देशभक्ति की भावना से वंचित कर दिया है, और धार्मिक संस्कारों तथा कर्मकांडों की बहुलता तथा शुद्धता के नियमों ने उन्हें किसी कठिन कार्य को हाथ में लेने के सर्वथा अयोग्य बना दिया है ' सोफिया डावसन कालेट, *लाइफ एंड लेटर्स आफ राममोहन राय,* कलकत्ता, 1913, पृ 124 साथ ही देखिए 'प्रोजेक्ट आफ ए न्यू सोशल आर्गनाइजेशन' और 'प्रैक्टिकल सजेशंस रिलेटिंग टु दि एबोलिशन आफ दि इंस्टीट्यूशन आफ कास्ट', *दि बोम्बे क्रानिकल,* 6 जून 1853, 'एडिशनल हिंट्स रिगार्डिंग दि न्यू सोशल आर्गनाइजेशन', *दि बोम्बे क्रानिकल,* 11 जुलाई 1853, पृ एन टैगोर, *बंगालीज ऐज दे आर एंड दे आट टु बी,* कलकत्ता, 1865, 'थाट्स आन इंडियन रिफार्मर्स', *दि इक्वाइरर,* जनवरी 1835, केशवचंद्र सेन, 'दि रिकंस्ट्रक्शन आफ नेटिव सोसाइटी', प्रेमसुंदर बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* कलकत्ता, 1940, पृ 286-89, महादेव गोविंद रानाडे, *दि मिसेलैनियस राइटिंग्स,* बंबई, 1915, पृ 190-94, और वी रामकृष्ण, 'वीरेशलिंगम एंड हिज टाइम्स', अप्रकाशित एम फिल शोध पत्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1974, पृ 50-57

24. राममोहन राय, *तुहफात-उल-मुवाहिदीन,* जे सी. घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* 1906, पृ 945-46

25. वही, पृ 929 साथ ही देखिए रानाडे, *दि मिसेलैनियस राइटिंग्स,* पृ 236-37.

26. केशवचंद्र सेन, 'प्रोमोशन आफ एजुकेशन इन इंडिया', बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 48.

27. रानाडे, *दि मिसलैनियस राइटिंग्स,* पृ 166

28. वही

29. राममोहन से लेकर विवेकानंद तक सबने शिक्षा पर समान रूप से जोर दिया राममोहन मानते थे कि यदि भारतीय सही शिक्षा प्राप्त करें तो सभी उनका सम्मान करेंगे राममोहन राय, 'माडर्न एनक्रोचमेंट्स आन दि एनशिएंट राइट्स आफ फिमेल्स', नाग और बर्मन, *इंगलिश वर्क्स आफ राममोहन राय,* I, कलकत्ता, 1945, पृ 9 केशवचंद्र को आशा थी कि अगर गरीबों को उचित शिक्षा दी जाए तो वे अपनी स्थिति सुधार लेंगे, और 'अपने खिलाफ किए जाने वाले अन्याय, निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार और अत्याचार को रोक देंगे ' केशवचंद्र सेन, 'मैन आफ कंसिक्वेंस', बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 217 वीरेशलिंगम शिक्षित लोगों को परिवर्तन के दूत मानते थे जे सी लियोनार्ड, 'कंदुकुरि वीरेशलिंगम', अप्रकाशित पी-एच डी शोध-प्रबंध, विस्कांसिन विश्वविद्यालय, 1970, पृ 165 इसके संबंध में विवेकानंद की दृष्टि अधिक स्पष्ट थी : 'राष्ट्र की आध्यात्मिक और आधिभौतिक शिक्षा पर हमारा अधिकार होना चाहिए, हमें

उसी का सपना देखना चाहिए, उसी की बात करनी चाहिए, हम उसके बारे में सोचना चाहिए और उस पर अमल करना चाहिए, जब तक हम ऐसा नहीं करते तब तक हमारी जाति की मुक्ति नहीं मिल सकती ' स्वामी विवेकानंद, *कम्प्लीट वर्क्स*, कलकत्ता, 1970, जिल्द III, पृ 301 और जिल्द IV, पृ 362

30 जैसा डेविड काफ कहते हैं उसके विपरीत भारतीय क्लासिकी कृतियों के अध्ययन और अनुवाद की ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रारंभिक नीति किसी सांस्कृतिक नीति का हिस्सा नहीं थी, बल्कि प्रशासनिक नीति का ही विस्तार थी डेविड काफ, *ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म एंड इंडियन रिनासां*, बर्कले, 1969, पृ 13-21

31 मैकाले की बहुउद्धृत उक्ति, 'रक्त और रंग से भारतीय लेकिन रुचि और तौर-तरीकों से यूरोपीय', जिह्वा पर से कोई असावधानी से फिसल गई बात नहीं थी, बल्कि इस सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति थी

32 राममोहन राय, 'ए लेटर आन एजुकेशन', घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 447

33 अक्षयकुमार दत्त, *धर्मनीति*, कलकत्ता, 1851, पृ 148-50

34 विद्यासागर ने उनकी तुलना उस खलीफा से की जिसने सिकंदरिया के पुस्तकालय को नष्ट कर देने का आदेश दिया था बताते हैं, खलीफा ने कहा, 'पुस्तकालय में रखी पुस्तकों की अंतर्वस्तु या तो कुरान से मेल खाती है या नहीं खाती है अगर मेल खाती है तो उनके बिना भी कुरान ही काफी है, यदि नहीं खाती तो वैसी पुस्तकें घातक हैं इसलिए उन्हें नष्ट कर दो ' इंद्र मित्र की कृति *करुणा सागर, विद्यासागर*, कलकत्ता, 1969, पृ 732 में उद्धृत

35 'मुसलमानों की लिखी पुरानी पुस्तकें और उनके लेखकों का सहजा इस्लाम के अनुयायियों को चिंतन की स्वतंत्रता, सीधेपन और सादगी की शिक्षा नहीं देता, उनसे उन्हें सामान्यतः सत्य तक पहुंचने में भी मदद नहीं मिलती, इसके विपरीत, वे मनुष्य को अपने अर्थ को छिपाने की शिक्षा देती हैं, अपने वचन को शब्दाडंबर से अलंकृत करने की सीख देती हैं, यात्रों का वर्णन गलत और अप्रासंगिक ढंग से करना सिखाती है ' *रिपोर्ट आफ दि कमेटी फार दि बेटर डिफ्यूजन एंड एडवांसमेंट आफ लर्निंग एमंग मुहमडंस आफ इंडिया*, जी एफ आई ग्राहम, *दि लाइफ एंड वर्क आफ सैयद अहमद खां*, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1974 पृ 249 49 में उद्धृत साथ ही देखिए के ए. निजामी, *सैयद अहमद खां*, नई दिल्ली 1974, पृ 15

36 राममोहन राय, 'ए लेटर आन एजुकेशन', घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 474 भारतीय बौद्धिक जनों ने विज्ञान की विश्वजनीनता को स्वयंसिद्ध बात मान लिया उन्होंने चीन की तरह यह सवाल नहीं उठाया कि विज्ञान 'पश्चिमी ' है या 'नया ' 1640 के आसपास पेकिंग में इस बात को लेकर बहस चली थी कि नए विज्ञान मुख्य रूप से पाश्चात्य हैं या नए, जेस्विटों द्वारा लिखी और अनूदित विज्ञान की पुस्तकों के शीर्षकों में प्रयुक्त 'पाश्चात्य' शब्द पर चीनियों ने आपत्ति की उनका आग्रह था कि 'पाश्चात्य' के स्थान पर 'नया' शब्द का प्रयोग किया जाए, जोजेफ नीढम, *विदिन दि फोर सीज - दि डायलाग आफ ईस्ट एंड वेस्ट*, लंदन, 1969, पृ 12-13

37 अक्षयकुमार दत्त, *धर्मनीति*, पृ 161 (अक्षयकुमार के बंगला लेखन के अनुवाद के लिए मैं अरुंधती मुखर्जी का आभारी हूं)

38 वही

39 मित्र, *करुणा सागर, विद्यासागर*, पृ 731-32, डी जी कर्वे, *रानाडे, दि प्राफेट आफ लिबरेटेड इंडिया*, पुणे, 1942, पृ 187, निजामी, *सैयद अहमद खां*, पृ 70-71, और वीरेशलिंगम, *कम्प्लीट वर्क्स* (तेलुगु), जिल्द VII, 1951, पृ 188 89

40. केशवचंद्र सेन, 'दि प्रोमोशन आफ एजुकेशन इन इंडिया', बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 47
41 लाला लाजपत राय, *ए हिस्ट्री आफ आर्य समाज, श्रीराम शर्मा द्वारा संपादित, बंबई, 1967,* पृ 136-37.
42 दयानंद ऐंग्लो-वैदिक कालेज के तीन उद्देश्यों में से एक था अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञानों, विज्ञानों के सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक दोनों पक्षों के अध्ययन को बढ़ावा देना और लागू करना यद्यपि गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना, ब्रह्मचर्य के प्राचीन हिंदू आश्रम को पुनरुज्जीवित करने, प्राचीन भारतीय दर्शन तथा साहित्य मे नवजीवन का संचार करने और उन्हें प्राणवान बनाने, भारत के अतीत का अनुसंधान करने, पाश्चात्य संसार के उत्कृष्ट तत्वों का समावेश और समाहारणीय तत्वों का समाहार करते हुए हिंदू साहित्य की सृष्टि करने के स्पष्ट उद्देश्य से की गई थी, तथापि उसके पाठ्यक्रमो मे भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र और अन्य वैज्ञानिक विषयों को भी शामिल किया गया था लाजपत राय, वही, पृ 138, 144 साथ ही देखिए गुरुकुल महाविद्यालय की 1911 की त्रिवर्णिका
43 महेंद्रलाल सरकार ने *कैलकटा जर्नल आफ मेडिसिन* के अगस्त 1869 के अंक मे निम्न प्रकार लिखा . ' भारत के लोगों में तात्विक सुधार करने का सबसे अच्छा और आज की परिस्थितियों मे एकमात्र तरीका भौतिक विज्ञानों का अभ्यास है, आज के हिंदू मानस में सहज रूप से विद्यमान और बाहर से प्राप्त किए गए जो बड़े दोष हैं और जिन्हे उनकी खास विशेषता बताया जाता है उन्हे प्राकृतिक कार्य-व्यापार के अन्वेषण मे प्रतिफलित प्रशिक्षण द्वारा ही दूर किया जा सकता है '
44 महेंद्रलाल सरकार, *दि प्रोजेक्टेड साइंस एसोसिएशन फार दि नेटिव्स आफ इंडिया,* कलकत्ता, 1872, पृ xiv
45 वही, पृ viii
46 केशवचंद्र सेन, 'दि प्रोमोशन आफ एजुकेशन इन इंडिया', बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 47
47 सरकार, *दि प्रोजेक्टेड साइंस एसोसिएशन फार दि नेटिव्स आफ इंडिया,* पृ xii
48 वही, पृ xi
49 बेला दत्त गुप्ता, *सोशियोलाजी इन इंडिया,* कलकत्ता, 1972, पृ XV
50 वही, पृ xvi
51 जी. चट्टोपाध्याय (सं), *अवेकनिंग इन बंगाल,* कलकत्ता, 1965, पृ XXV
52 बेला दत्त गुप्ता, *सोशियोलाजी इन इंडिया,* पृ xvii
53 इस संस्था के लक्ष्य का वर्णन इन शब्दों में किया गया . हम ऐसी संस्था चाहते हैं जिसमे लंदन स्थित रायल इंस्टीट्यूशन और ब्रिटिश एसोसिएशन फार दि एडवांसमेंट आफ साइंसेज के स्वरूप, संभावना और लक्ष्यों का संयोग हो हम ऐसी संस्था चाहते हैं जो जनसाधारण के शिक्षण के लिए होगी, जहां वैज्ञानिक विषयों पर व्यवस्थित रीति से व्याख्यान दिए जाएंगे और जहां उदाहरण देने के लिए केवल व्याख्यानकर्ता प्रयोग नहीं करेंगे, बल्कि श्रोताओं को भी वैसे प्रयोग करने के लिए आमंत्रित किया जाएगा और वैसे प्रयोग करना सिखाया जाएगा और हम चाहते हैं कि यह संस्था यहां के मूल निवासियों के प्रबंधन और नियंत्रण में रहे महेंद्रलाल सरकार, *आन दि डिजायरेबिलिटी आफ ए नेशनल इंस्टीट्यूशन फार दि कल्टिवेशन आफ दि साइंसेज बाई दि नेटिव्स आफ इंडिया,* कलकत्ता, 1872, पृ 8 इस संस्था की स्थापना के विचार से लोगों में काफी रुचि और उत्साह जगा *हिंदू पेट्रिअट* (10 और 17 जनवरी 1870), *इंडियन डेली न्यूज* (12 जनवरी 1870), *दि बंगाली* (15 जनवरी 1870), और *दि इंडियन मिरर* (7 जनवरी 1870) ने इस प्रयत्न की प्रशंसा और समर्थन किया बाबू गंगाधर चटर्जी ने इस एसोसिएशन के संबंध मे एक भावपूर्ण कविता लिखी

बाबू कालीमोहन दास ने इसे भौतिक तथा नैतिक दोनों दृष्टियों से भारत में नया प्राण फूकने की दिशा में पहला कदम माना देखिए *दि इडियन मिरर,* 15 मार्च 1872

54 निजामी, *सैयद अहमद खा,* पृ 74

55 इगलैंड में अपने एक व्याख्यान में केशवचद्र सेन ने कहा "अभी तक तो शिक्षा का वरदान केवल ऊपर के दस हजार लोगों तक सीमित है, लेकिन जनसाधारण वस्तुत अज्ञान है, अत्यत दु खद रूप से अज्ञान," *केशवचन्द्र सेन इन इगलैंड,* कलकत्ता, 1938, पृ 415, अक्षयकुमार दत्त, *धर्मनीति,* पृ 153

56 *तत्त्वबोधिनी पत्रिका,* श्रावण शक 1770, जिल्द 2, अक 61, पृ 68-77 और अक्षयकुमार दत्त, *धर्मनीति,* पृ 153, 161

57 दयानद सरस्वती, *सत्यार्थ प्रकाश,* 1972, पृ 40

58 मित्र, *करुणा सागर, विद्यासागर,* पृ 732 लेकिन एक अन्य सदर्भ में विद्यासागर ने यह मान्यता सामने रखी कि "सौ बच्चों को सिर्फ पढना, लिखना और थोडा-बहुत गणित सिखाकर जितना किया जाता है उसकी अपेक्षा सिर्फ एक लडके को सही ढग से शिक्षित करके सरकार बहुत अच्छा काम करती है " इसका कारण यह नहीं था कि वे 'सभी लोगों की शिक्षा को' अवाछनीय मानते थे, बल्कि उल्टे, इसे वे 'निश्चित रूप से बहुत वाछनीय' मानते थे, लेकिन बात यह थी कि शिक्षा के लिए उपलब्ध समाधन बहुत सीमित थे वही, पृ 762

59 वीरेशलिंगम, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द VII, पृ 202-04, 365, 372-75, शान मुहम्मद (स), *राइटिंग्स एड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खा,* 1972, पृ 231, ग्रहम, *दि लाइफ एड वर्क आफ सैयद अहमद खा* पृ 152, और रानाडे, *दि मिसलैनियस राइटिंग्स,* पृ 270

60 केशवचद्र सेन, 'मैन आफ कमिक्वेंस' और 'इगलैंड्स ड्यूटी टु इडिया', बसु (स), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव* पृ 277, 215 साथ ही देखिए *केशवचद्र सेन इन इगलैंड,* पृ 339

61 बसु (सकलनकर्त्ता), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव,* पृ 290 रानाडे, वीरेशलिंगम और विवेकानद ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए. विवेकानद ने लिखा, "हम अपने निचले तबकों के लोगों की एक ही सेवा कर सकते हैं कि उन्हें शिक्षा दें और उनकी खोई हुई वैयक्तिकता का विकास करें यह हमारे आम लोगों और बडे लोगों के बीच का महान कार्य है अब तक उस दिशा में कुछ भी नहीं किया गया है पुरोहितों की शक्ति और विदेशियों की विजय उन्हें सदियों से पददलित करती रही हैं, और अत में हालत यह हो गई है कि भारत के गरीब लोग यही भूल गए हैं कि वे मनुष्य हैं उन्हें विचार देने हैं, उनके चारों ओर दुनिया में जो कुछ हो रहा है उसके प्रति उनकी आखें खोलनी हैं, और उसके बाद वे अपनी मुक्ति का मार्ग खुद ढूढ लेंगे " विवेकानद, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द IV, पृ 362, कर्वे, *रानाडे दि लिबरेटेड प्राफेट आफ इडिया,* पृ 195, और वीरेशलिंगम, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द VII, पृ 202-04, 273-75, 365

62 सैयद अहमद खा ने इस विचार को जोरदार शब्दों में व्यक्त किया "इगलैंड की सभ्यता का कारण यह है कि सभी कलाए और विज्ञान देश की भाषा मे हैं जो लोग भारत की स्थिति में सुधार करने को कटिबद्ध हैं, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि इस ध्येय को पूरा करने का एकमात्र रास्ता यह है कि हम सभी कलाओ और विज्ञानों को अपनी भाषा मे अनूदित करवाए मैं तो चाहूगा कि इस तकाजे को भावी पीढियों के लिए हिमालय की ऊचाइयों पर विशाल अक्षरों पर अंकित कर दिया जाए. अगर उनका अनुवाद नहीं होगा तो भारत कभी भी सभ्य नहीं होगा यह सत्य है, यही सत्य है " शान मुहम्मद (स), *राइटिंग्स एड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खा,* पृ 231-32

63 आधुनिक गद्य के विकास के प्रयत्न में अन्य लोगों के साथ विद्यासागर और वीरेशलिंगम की कोशिशों की खास अहमियत है विद्यासागर ने जो प्रवेशिका पुस्तकें तैयार कीं "उनमें उन तत्वो का समावेश

था जिनका इस्तेमाल भाषा को ऐसी व्यवस्था और विन्यास देने के लिए किया जा सकता था जिससे वह स्पष्ट अर्थ और सही रूप से सपन्न हो सके सच्चे बगला गद्य ने विद्यासागर की चार प्रमुख साहित्यिक कृतियों में अपना सही स्थान प्राप्त कर लिया. विद्यासागर ने सस्कृत और अग्रेजी से वे चीजें उधार लीं जो बगला मे सहज रीति से खप सकती थीं और जो उसकी मूल प्रकृति को मजबूत बनाने और स्पष्ट करने के लिए आवश्यक थीं आम जीवन से घनिष्ठता से जुड़ी उनकी भाषा देशज थी लेकिन साथ ही वह परिष्कृत और सुष्ठु थी, प्राजल और सटीक थी, और तब भी रगीन और सगीतमय ' अशोक सेन, *ईश्वरचद्र विद्यासागर एड हिज एल्युसिव माइलस्टोन्स*, कलकत्ता, 1977, पृ 15 साथ ही देखिए एस के दे, *बगाली लिटरेचर इन दि नाइनटींथ सेंचुरी*, 1962, पृ 627-28 और वी आर. नारला, *वीरेशलिंगम*, 1968, पृ 26-31 1889 में प्रकाशित मलयालम उपन्यास *इदुलेखा* के लेखक ओ. चंदू मेनन ने अपने समकालीनों द्वारा प्रयुक्त अति संस्कृतनिष्ठ भाषा का उपहास किया और अपने सामाजिक उपन्यास सरल, लगभग देशज भाषा मे लिखे

64 चट्टोपाध्याय (स), *अवेकनिंग इन बगाल*, पृ XXV

65 बौद्धिक जनों ने केवल अग्रेजी माध्यम से शिक्षा की माग नहीं की हिंदू कालेज का ध्येय ' प्रतिष्ठित हिंदुओं को अग्रेजी और भारतीय भाषाओं की और यूरोप तथा एशिया के साहित्य एव विज्ञानों की शिक्षा देना' था

66 उदयचद्र आढ्या, 'ए प्रोपोजल फार दि प्रापर कल्टिवेशन आफ दि बगाली लैंग्वेज एड इट्स नैसिसिटी फार दि नेटिव्स आफ दिस कट्री', चट्टोपाध्याय (सं), *अवेकनिंग इन बंगाल*, पृ 26

67 'मनुष्यों की श्रेष्ठता उनकी कार्यकुशलता में निहित है अब इस देश के लोग इस देश की भाषा को ठीक ढंग से सीख लेंगे तब और केवल तभी उनमें वह कार्यकुशलता आएगी जो उन्हें वर्तमान गुलामी के जुए को उतार फेंकने और अपने देश के स्वामी खुद बन जाने की सामर्थ्य प्रदान करेगी ' वही, पृ 27

[illegible] वही, पृ 26

69 कृष्णमोहन बनर्जी, ए *लेक्चर आन दि पिक्युलियर रेस्पासिबिलिटी आफ इडियस*, तिथि-रहित, पृ 4

70 कृष्णमोहन बनर्जी, *दि प्रापर प्लेस आफ ओरिएटल लिटरेचर इन इडियन कालेजिएट एजुकेशन*, कलकत्ता, 1868, पृ 18

71 *तत्वबोधिनी पत्रिका*, श्रावण, शक 1768, अक 36, पृ 309-11.

72 वही, श्रावण, शक 1770, जिल्द 2, अक 61, पृ 68-77.

73 वही.

74 विनय घोष, *ईश्वरचंद्र विद्यासागर*, 1971, पृ 39

75. मित्र, *करुणा सागर, विद्यासागर*, पृ. 723

76 वही, पृ 732-33.

77 काउसिल आफ पब्लिक इस्ट्रक्शन के नाम अपने पत्र में उन्होंने लिखा . 'हमें बडी संख्या मे देशी भाषाओं के विद्यालय स्थापित करने चाहिए, हमे शिक्षकों के दायित्वपूर्ण कर्तव्य के निर्वाह के लिए योग्यता से युक्त लोगों का एक दल तैयार करना चाहिए, तब यह ध्येय पूरा हो जाएगा ' मित्र, *करुणा सागर, विद्या सागर*, पृ 732 लेकिन उन्हें इस बात का एहसास था कि केवल अंग्रेजी शिक्षा के सहारे ही लोग सरकारी नौकरी पा सकते हैं. इसलिए उन्होंने सरकार से देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षित लोगों को रोजगार देने की अपील की. अरविंद गुहा (स), *अनपब्लिश्ड लेटर्स आफ विद्यासागर*, कलकत्ता, 1971, पृ 29

78 देशी भाषाओं के इस्तेमाल के बारे में रानाडे, वीरेशलिंगम और सैयद अहमद खां के विचार भी

इसी प्रकार एम जी रानाडे ने, जो बंबई विश्वविद्यालय के सदस्य थे, यह सुझाव दिया कि विश्वविद्यालयी परीक्षा के एक अंग के रूप में विद्यार्थियों पर किसी देसी भाषा में एक लेख लिखने की पाबंदी होनी चाहिए. कर्वे, रानाडे, *दि लिबरेटेड प्रॉफेट आफ इंडिया*, पृ 195 सैयद अहमद खां आरंभ में शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा को पसंद करते थे, लेकिन बाद में उन्होंने उच्चतर शिक्षा के माध्यम के रूप में देसी भाषाओं की भी हिमायत की. जुबैरिक जियाउद्दीन, 'एजुकेशनल एंड सोशल आइडियाज आफ सैयद अहमद खां', अप्रकाशित पी-एच डी. शोधप्रबंध, दक्षिणी इलिनाय विश्वविद्यालय, 1971, पृ 144, 152 साथ ही देखिए 'वर्नाक्युलर लैंग्वेजेज', *विवेक वर्धिनी*, अक्तूबर 1881 और नवंबर 1886

79 यह औपनिवेशिक इतिहासलेखन का बहुत ही प्रिय और बार-बार प्रतिपादित विषय है. जेम्स मिल, जान मैल्कम, जे सी मार्शमन, ग्रांट डफ, हेनरी इलियट और भारत के इतिहास पर लिखने वाले अन्य बहुत सारे लोगों ने इस विचार को प्रचारित किया.

80 घोष (स), *दि इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 234 सैयद अहमद खां ने प्राक्-औपनिवेशिक व्यवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया : 'पूर्ववर्ती सम्राटों और राजाओं का शासन न तो हिंदू धर्म के अनुरूप था और न इस्लाम के. अत्याचार के अलावा उसका कोई आधार नहीं था, जिसकी लाठी उसकी भैंस का नियम चलता था. जनता की आवाज नहीं सुनी जाती थी.' शान मुहम्मद, *राइटिंग्स एंड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खां*, पृ 117

81 वही

82. वही, पृ 359

83 वही, पृ 234

84 एम जी फोर्ब, *हिंदुस्तान अंडर फ्री लांसेज, 1770–1820*, लंदन, 1907, के एन पणिक्कर, *ब्रिटिश डिप्लोमेसी इन नार्थ इंडिया*, नई दिल्ली, 1968, पृ 43–49, और एडवर्ड थाम्सन, *मेकिंग आफ दि इंडियन प्रिंसेज*, लंदन, 1943

[redacted] उल्लेखनीय है कि राजपूत नरेशों ने एक भी गोली दागे बिना अपनी आजादी अंग्रेजी राज को भेंट कर दी.

86 मुसलमानों के शासन का वर्णन करते हुए 'मुसलमानों द्वारा थोपी गई गुलामी का जुआ' और 'दुष्ट अत्याचारी मुसलमानों' तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों के प्रयोग के फलस्वरूप यह मान लिया गया है कि 'मुसलमानों के अत्याचार की कल्पना उन्नीसवीं सदी के नवजागरण की एक सबसे उल्लेखनीय विशेषता थी.' सुमित सरकार, 'राममोहन एंड दि ब्रेक विद दि पास्ट', वी सी जोशी (स), *राममोहन राय एंड दि प्रोसेस आफ माडर्नाइजेशन इन इंडिया*, 1975, पृ 58, और 'दि कम्प्लेक्सिटीज आफ यंग बंगाल', *नाइन्टींथ सेंचुरी स्टडीज*, अंक 4, 1973 साथ ही देखिए बरुण दे, 'ए बायोग्राफिकल पर्सपेक्टिव आन दि पॉलिटिकल एंड इकानामिक आइडियाज आफ राममोहन राय', जोशी (स), *राममोहन राय एंड दि प्रोसेस आफ माडर्नाइजेशन इन इंडिया*, पृ 146 इस बात की छानबीन करना उपयोगी होगा कि मुसलमानी शासन की निंदा इसलिए की गई कि वह मुसलमानों का था या इसलिए कि वह अत्याचारपूर्ण था. इस संदर्भ में प्राक्-औपनिवेशिक शासन के स्वरूप के संबंध में सैयद अहमद खां के वर्णन (देखिए पाद टिप्पणी 80, और ग्राहम कृत *दि लाइफ एंड वर्क आफ सैयद अहमद खां*, पृ 87), मराठों के प्रति राजपूतों के रुख और सिख शासन के संबंध में पंजाब की भावना को ध्यान में रखना उपयोगी होगा. बंगाल में भी, जिन लोगों ने मुसलमानों के अत्याचार की बात की थी उन्होंने उसी दम हिंदुओं तथा मुसलमानों के सामान्य राजनीतिक निराधिकारों का भी जिक्र किया था (देखिए घोष द्वारा संपादित *दि इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 465) इसके अलावा, समकालीनों के प्रति अपने रवैए में उन्होंने मुसलमान-

विरोधी भावना का परिचय दिया हो, ऐसा नहीं लगता उदाहरण के लिए, राजा राममोहन राय मुसलमान वकीलों को हिंदू वकीलों से अधिक ईमानदार मानते थे और जूरी के सदस्यों के रूप में मुसलमानों की नियुक्ति की उन्होंने वकालत की विद्यासागर के मानव-दया के दायरे में मुसलमानों का भी समावेश था और केशवचंद्र सेन सभी धर्मों के अनुयायियों को अपने भाई मानते थे वही, पृ 245-62, चमु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 273 अक्सर विवादों के घेरे में लाए जाते रहने वाले बंकिमचंद्र भी अपने चरित्रों को बुरे मुसलमानों और भले हिंदुओं की पहचान नहीं देते थे *राजसिंह* में आयशा और *मृणालिनी* में मुहम्मद अली इसके स्पष्ट उदाहरण हैं बंकिमचंद्र ने लिखा 'कोई सिर्फ इसलिए भला नहीं है कि वह हिंदू है और न कोई सिर्फ इसलिए बुरा है कि वह मुसलमान है और न यही कहना सच होगा कि सभी हिंदू बुरे हैं और सभी मुसलमान भले यदि किसी में धर्म नहीं है तो चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, वह बुरा है ' एस के घोष, *बंकिमचंद्र चटर्जी,* नई दिल्ली 1974, पृ 99-100 लेकिन इस विषय के अधिक विशद अध्ययन की आवश्यकता है

87. जी जी जावेकर (सं), *मेमायर्स एंड राइटिंग्स आफ आचार्य बाल शास्त्री जावेकर, जिल्द II,* पुणे 1990, पृ 8
88. सैयद अहमद खां, 'स्पीच ऐट दि साइंटिफिक सोसायटी, अलीगढ़', शान मुहम्मद, *राइटिंग्स एंड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खां,* पृ 177
89. जावेकर (सं), *मेमायर्स एंड राइटिंग्स आफ बाल शास्त्री जावेकर,* पृ 8
90. कालेट, *लाइफ एंड लेटर्स आफ राममोहन राय,* पृ 162
91. राममोहन राय इतने दु खी हुए कि उन्होंने *कैलकटा जर्नल* के संपादक बकिंघम के साथ अपना कार्यक्रम रद्द कर दिया
92. कालेट, *लाइफ एंड लेटर्स आफ राममोहन राय,* पृ 131
93. लोकहितवादी, *शतपत्रे,* अंक 54 विमन बिहारी मजूमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* 1967, पृ 202 में उद्धृत
94. वही, पृ 201
95. राममोहन राय, 'अपील टु दि किंग इन काउंसिल', घोष (सं), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 467
96. *केशवचंद्र सेन इन इंगलैंड,* पृ 91
97. राममोहन राय ने इंगलैंड का चित्रण ऐसे राष्ट्र के रूप में किया 'जो न केवल नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के उपभोग के वरदान से धन्य है, बल्कि जिन राष्ट्रों में उसका प्रभाव है उनमें भी स्वतंत्रता और सामाजिक सुख-शांति और साथ ही साहित्यिक तथा धार्मिक विषयों के स्वतंत्र अन्वेषण को बढ़ावा देने में दिलचस्पी लेता है ' राममोहन राय, 'फाइनल अपील टु दि क्रिश्चियन पब्लिक', घोष (सं), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 874
98. उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों की यह आम मान्यता थी कि अंग्रेजी राज एक दैवी विधान है 'यह किसी मनुष्य का काम नहीं है, बल्कि यह ऐसा काम है जिसे अंग्रेज राष्ट्र को साधन बनाकर ईश्वर अपने हाथों से कर रहा है ' *केशवचंद्र सेन इन इंगलैंड,* पृ 90 रानाडे विश्व के कार्य-व्यापार में ईश्वर का हाथ देखते थे और इसलिए मानते थे कि राजनीतिक परिवर्तन ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट होते हैं. टी वी पर्वते, *महादेव गोविंद रानाडे,* 1963, पृ 226 साथ ही देखिए केशवचंद्र सेन, *लेक्चर्स इन इंडिया,* लंदन, 1904, पृ 320, राममोहन राय, 'एन अपील टु दि किंग इन काउंसिल', घोष (सं), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 446, 447, और वीरेशलिंगम, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द VIII, पृ 9

99 केशवचद्र सेन ने इसे 'क्रातिकारी सुधार' कहा, *केशवचद्र सेन इन इग्लैंड,* पृ [redacted]
100 राममोहन तथा पाच अन्य, "पेटिशन अगेस्ट दि प्रेस रेग्युलेशन", और 'ऐन अपील टु दि किंग [redacted] कौंसिल', घोष (स), *दि इगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 437-43, 445-67
101 चट्टोपाध्याय (स), *अवेकनिंग इन बगाल,* पृ 390
102 बी बी मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इडियन सोशल एड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 53
103 वीरेशलिगम, *विवेकवर्धिनी,* अप्रैल 1880
104 राममोहन राय तथा पाच अन्य, 'पेटिशन अगेस्ट दि प्रेस रेग्युलेशन', घोष (स), *दि इगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 442
105 राममोहन राय 'क्वेश्चस एड आनसर्स आन दि ज्युडिशियल सिस्टम इन इडिया', 'रेवेन्यू सिस्टम आफ इडिया' और 'ए पेपर आन दि रेवेन्यु सिस्टम आफ इडिया', घोष (स), *दि इगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 239-87
106 सुशोभन सरकार, *बगाल रिनासा एड अदर एसेज* नई दिल्ली, 1970, पृ 116
107 बी बी मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इडियन सोशल एड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 57
108 चट्टोपाध्याय (स), *अवेकनिंग इन बगाल,* पृ 391
109 बी बी मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इडियन सोशल एड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 53
110 एम एल आप्टे, 'लोकहितवादी एड वी के चिपलूणकर', *माडर्न एशियन स्टडीज,* अप्रैल 1973
111 रामकृष्णा, *वीरेशलिंगम एड हिज टाइम्स* पृ 127-28
112 केशवचद्र सेन, 'इगलैंड्स ड्यूटीज टु इडिया', बसु (सकलनकर्ता), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव,* पृ 214
113 वही
114 राममोहन राय ने जो 'चरित्रवान और धनवान' यूरोपियों के भारत में बसने का मर्यादित अनुमोदन किया वह देश के ससाधनों में और साथ ही यहा के वतनी निवासियों की अवस्था में सुधार लाने के उद्देश्य से किया, क्योंकि उनके यहा बसने से लोगो को खेतीबारी के उन्नत तरीकों की जानकारी मिलती और वे देख पाते कि अपने मजदूरों तथा आश्रितों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए. वे सभी तरह के यूरोपियों के भारत में बसने का स्वागत करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि 'ऐसे कदम को अपनाने का मतलब यही लगाया जा सकता था कि वे यहा के वतनी निवासियों को पूरे तौर पर उखाड़कर देश से निकाल बाहर करना चाहते हैं' राममोहन राय, 'रेवेन्यू सिस्टम आफ इडिया', घोष (स), *दि इगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय* पृ 284 साथ ही देखिए 'रिमार्क्स आन सैटलमेंट आफ इडिया बाई यूरोपियस', वही, पृ 315-20
115 केशवचद्र सेन, 'इगलैंड्स ड्यूटीज टु इडिया', बसु (सकलनकर्ता), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव* पृ 214, 271
116 *केशवचद्र सेन इन इग्लैंड,* पृ 90, लोकहितवादी, *कासेज फार लास आफ इडिपेडेस,* बी बी मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इडियन सोशल एड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 200 में उद्धृत, वीरेशलिगम, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द VIII, पृ 10-13
117 बी जी दिघे, 'रिनासा इन महाराष्ट्र', *दि जर्नल आफ दि बाबे एसियाटिक सोसायटी,* जिल्द 36-37, 1961-62
118 लोकहितवादी का वक्तव्य, वही
119 पर्वते, *महादेव गोविंद रानाडे,* पृ 227
120 *तुहफात* में राममोहन राय के जिस उग्र बुद्धिवाद से हमारा साबका पडता है, उसमे उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों की सोच के निर्माण में सहायक प्रभावों के बारे में दिलचस्प प्रश्न उठते हैं इस

दौर में राममोहन के बुद्धिवाद की प्रेरणा का स्रोत मुख्य रूप से भारतीय बौद्धिक परंपरा थी, क्योंकि यूरोपीय दर्शन और वैज्ञानिक चिंतन से उनका परिचय *तुहफात* के दिनों के बाद हुआ. देखिए के.एन. पणिक्कर, 'रैशनलिज्म इन दि रिलिजियस थाट आफ राममोहन राय', *दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्स,* चंडीगढ़ अधिवेशन, 1973. इस संदर्भ में यह बात दिलचस्प है कि अक्षयकुमार ने पाश्चात्य चिंतन से समाज का जैव (आर्गेनिक) सिद्धांत ग्रहण किया, जबकि पीरोशलिगम वेदों के अध्ययन से उसी निष्कर्ष पर पहुंचे. अक्षयकुमार दत्त, *धरमनीति,* पृ. 50-51 और लियोनार्ड, *'केंदुकिरि वीरेशलिंगम',* पृ. 207.

121. उन्होंने पूछा, 'जिस बात का कोई प्रमाण नहीं है और जो बुद्धि से असंगत है उसे बुद्धिमान व्यक्ति कैसे ग्रहण और स्वीकार कर सकता है?' राममोहन राय, *तुहफात-उल-मुवाहिदीन,* घोष (स.), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ. 956.
122. सुशोभन सरकार, *बंगाल रिनासां एंड अदर एसेज,* पृ. 111.
123. *तत्वबोधिनी पत्रिका,* फाल्गुन, शक 1773.
124. ए.के. भट्टाचार्य, 'अभय दत्त, पायोनियर आफ इंडियन रैशनलिज्म', *रैशनलिस्ट एन्युअल,* 1962.
125. ए.सी. बनर्जी, 'ब्रह्मानंद के.सी. सेन', ए.सी. गुप्त (स.), *स्टडीज इन बंगाल रिनासां,* जादवपुर, 1958, पृ. 81; *दि न्यू डिस्पेंसेशन,* 11 जून 1882.
126. वही.
127. केशवचंद्र सेन, 'रिविलेशंस', बसु (स.), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ. 32, प्रशांतकुमार सेन, *केशवचंद्र सेन,* कलकत्ता, 1938, पृ. 23.
128. सैयद अहमद खां ने लिखा : 'इन सभी बातों पर विचार करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ज्ञान, विश्वास या श्रद्धा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय बुद्धि है. लेकिन जब ज्ञान या विश्वास अथवा श्रद्धा बुद्धि पर आधारित नहीं होती तो किसी भी युग या कालावधि में इनमें से किसी के लिए कोई उपलब्धि संभव नहीं है.' *इसलाम एंड दि माडर्न एज,* जिल्द III, अंक 3, (अगस्त 1972) में 'सर सैयद अहमद खां एंड दि ट्रैडिशन आफ रैशनलिज्म इन इसलाम' शीर्षक लेख में अली अशरफ द्वारा उद्धृत. साथ ही देखिए एम. शाह दीन, *सैयद अहमद खां ऐज ए रिलिजियस रिफार्मर,* 1904, और निज़ामी, *सैयद अहमद खां,* पृ. 121.
129. एम.जी. रानाडे, *दि मिसलैनियस राइटिंग्स,* पृ. 193.
130. बी.बी. मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* पृ. 199.
131. देखिए पणिक्कर, 'रैशनलिज्म इन दि रिलिजियस थाट आफ राममोहन राय.'
132. 'परमात्मा द्वारा सृजित वेद', 'वेदों का दिव्य मार्गदर्शन' और 'वेद ईश्वरीय विधान हैं, जो हमारे नियमन और मार्गदर्शन के लिए उद्घाटित और संप्रेषित किए गए हैं.' इस तरह की उक्तियों से राममोहन राय का परवर्ती लेखन भरा पड़ा है. देखिए राममोहन राय, 'ऐब्रिजमेंट आफ दि वेदांत', 'ए सेकंड डिफेंस आफ दि मोनोथेइस्टिक सिस्टम आफ दि वेदाज', और 'ब्राह्मणिकल मैगजीन, IV', घोष (सं.), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ. 3-5, 105-31, 181.
133. उदाहरण के लिए, देखिए धर्मग्रंथों में देवी देवताओं की और उनकी पूजा-विधियों की अनेकता के संबंध में उनकी सफाई. मूर्ति पूजा का औचित्य प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं, उसका 'रिवाज उन लोगों के लिए चलाया गया जो अपनी सीमित बुद्धि के कारण अदृश्य ब्रह्म को समझने और उसकी उपासना करने में असमर्थ थे, ताकि ऐसे लोग धार्मिक सिद्धांतों से विहीन पशुवत अवस्था में न रह जाएं.' वही, पृ. 36.
134. शिवनाथ शास्त्री, *हिस्ट्री आफ ब्रह्मो समाज,* कलकत्ता, 1911, पृ. 269.
135. वही, पृ. 268, और पी.सी. मजुमदार, *लाइफ एंड टीचिंग्स आफ केशवचंद्र सेन,* कलकत्ता, 1931,

पृ 180

136 जेम्स केलाक, *महादेव गोविंद रानाडे*, बंबई, 1926, पृ 57-60

137 रमाबाई रानाडे, *रानाडे हिज वाइफ्स रेमिनिसेंसेज*, नई दिल्ली, 1969, पृ 138-41

138 दयानंद सरस्वती, *सत्यार्थ प्रकाश*, पृ 196-200 और 565 लाला लाजपतराय, *ए हिस्ट्री आफ दि आर्य समाज*, पृ 96 वैद्यनाथ शास्त्री *दि आर्य समाज - इट्स कल्ट एंड क्रीड*, नई दिल्ली, 1967, पृ 19-20

139 आर्य समाज के एक अधिकृत प्रकाशन में बुद्धि की भूमिका का वर्णन इन शब्दों में किया गया 'मानव बुद्धि की सामर्थ्य सीमित ही है और उसे ईश्वरीय सहायता की जरूरत होती है ऐसी सहायता की तलाश करना सर्वथा बुद्धिमान है, क्योंकि मानव-बुद्धि की सीमाओं को स्वीकार करना बुद्धिसंगत है ' गंगाप्रसाद उपाध्याय *दि ओरिजिन स्कोप एंड मिशन आफ आर्य समाज* इलाहाबाद, 1953, पृ 36

140 विवेकानंद, *कम्प्लीट वर्क्स*, जिल्द , पृ 11

141 अन्यत्र मैंने यह दरशाया है कि राममोहन राय म बुद्धिवाद से पीछे हटने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है उसका संबंध कलकत्ता के समाज के स्वरूप से था और राममोहन उस समाज की समस्याओं से जुड़े हुए थे पणिक्कर, 'रेशनलिज्म इन दि रिलिजियस थाट आफ राममोहन राय', पृ 14

142 ब्रिजेंद्रनाथ शील, *राममोहन राय दि यूनिवर्सल मेन*, कलकत्ता, तिथिरहित, पृ 14

143 'सत्य तो न यूरोपीय होता है न एशियाई, न वैदिक होता है, न बाइबिली, न ईसाई होता है, न गैर ईसाई, वह जितना आपका है उतना ही मेरा भी है ' केशवचंद्र सेन, *लेक्चर्स इन इंडिया* पृ 179-80

144 सैयद अहमद खां, 'इस्लाम एंड टालरेंस', शान मुहम्मद (स) *राइटिंग्स एंड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खां* पृ 60

145 *तुहफात उल मुवाहिदीन*, घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय* पृ 947, और आप्टे, 'लोकहितवादी एंड वी के चिपलूणकर'

146 शील, *राममोहन राय दि यूनिवर्सल मेन*, पृ 19

147 राममोहन राय, 'ए डिफेंस आफ हिंदू थेइज्म', 'ए सेकंड डिफेंस आफ दि मोनोथेइस्टिकल सिस्टम आफ दि वेदाज', 'दि प्रिसेप्ट्स आफ जिसस, दि गाइड टु पीस एंड हैपीनेस', 'एन अपील टु दि क्रिश्चियन पब्लिक इन डिफेंस आफ दि प्रिसेप्ट्स आफ जिसस', 'ब्राह्मणिकल मैगजीन', घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 87-101, 143-99, 481-545

148 बसु (संकलनकर्ता), *लाइफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव*, पृ 273

149 विवेकानंद, *कम्प्लीट वर्क्स*, जिल्द IV, पृ 180

150 विवेकानंद ने लिखा 'कभी भी आपका धर्म या मेरा धर्म नाम की कोई चीज नहीं रही, मेरा राष्ट्रीय धर्म या आपका राष्ट्रीय धर्म जैसी कोई बात नहीं रही, कभी भी अनेक धर्म नहीं थे, धर्म केवल एक है एक असीम धर्म अनादि काल से विद्यमान रहा है और वह सदा विद्यमान रहेगा, और वही धर्म विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है धर्मों की अभिव्यक्ति केवल नस्ल और भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही नहीं होती, व्यक्तिगत सामर्थ्यों के अनुसार भी होती है ' वही, पृ 180

151 शील, *राममोहन राय दि यूनिवर्सल मेन*, पृ 19

152 'इज नाट दि न्यू डिस्पेंसेशन न्यू', *दि न्यू डिस्पेंसेशन*, 2 सितंबर 1881

153 बंकिमचंद्र चटर्जी, *लैटर्स आन हिंदुइज्म*, पृ 12, और रैचेल रेवेका वान मेटर, 'बंकिमचंद्र चटर्जी एंड दि बंगाली रिनासां', अप्रकाशित पी-एच डी शोध प्रबंध, पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय, 1964,

पृ 242.

154 दयानद सरस्वती, *सत्यार्थ प्रकाश,* पृ 196-200, 565

155 वही, पृ 265

156 केनेथ जोंस,'ए स्टडी आफ सोशल रिफार्म एड रिलिजियस रिवाइवलिज्म, 1877-1902', अप्रकाशित पी-एच डी शोध प्रबंध कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, 1966, पृ 177-78

157 विनय राय, *सोशियो-पालिटिकल व्यूज आफ विवेकानद,* नई दिल्ली, 1970, पृ 9

158 विवेकानद, *कम्प्लीट वर्क्स,* जिल्द I, पृ 3, स्वामी निखिलानद, *विवेकानद,* कलकत्ता, 1971, पृ 119

159 कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एगेल्स, *सेलेक्टेड वर्क्स,* जिल्द I, मास्को, 1955, पृ 275

2. प्राक्-औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक प्रवृत्तियां

'अंधकारपूर्ण युग'

प्राक्-औपनिवेशिक भारत के समाज और राज्यव्यवस्था पर विचार करते हुए रेवरेंड डब्ल्यू. टेनाट कहते हैं

> यदि कोई यह सवाल उठाए तो अनुचित नहीं होगा कि राष्ट्रों के इतिहास में क्या कोई ऐसा उदाहरण मिल सकता है जब कोई महान समाज अराजकता के वैसे गहन और उतने ही अंधकारपूर्ण गर्त में गिर गया हो जैसे गर्त में मुगल साम्राज्य के ह्रास और पतन के बाद भारत गिर गया।[1]

अठारहवीं सदी भारत के लिए 'अंधकारपूर्ण युग' था, यह विचार अनेक प्रशासक-इतिहासकारों तथा समकालीन पर्यवेक्षकों का रहा है, जिनमें औरों के अलावा हेनरी बेवरिज, जेम्स मिल तथा जान मार्शमेन भी शामिल हैं। अंग्रेजों के लोकहितकारी शासन के अधीन की गई प्रगति के विपरीत, प्राक्-औपनिवेशिक राजनीतिक अराजकता, बौद्धिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक पिछड़ापन कुछ की दृष्टि में अंग्रेजों की भारत-विजय का कारण थे और कुछ की दृष्टि में उसका औचित्य। यह दृष्टिकोण प्रारंभिक उपनिवेशवादी सिद्धांतकारों तक सीमित नहीं था; बल्कि यह अठारहवीं सदी के भारत से संबंधित इतिहासलेखन का एक अभिन्न अंग बन गया। उदाहरण के लिए, एल.एस.एस. ओ मैली, थी टी मैककली, पर्सिवल स्पियर, यदुनाथ सरकार और ताराचंद या तो स्पष्ट रूप से या निहितार्थ की दृष्टि से प्राक्-औपनिवेशिक भारत के ह्रास और क्षय की चर्चा अवश्य करते हैं।[2]

इस अंधकारपूर्ण तसवीर का आरंभिक स्रोत उन पर्यवेक्षकों का दृष्टिकोण था जिन्होंने दिल्ली को देखकर भारत की राजनीतिक अवस्था का अनुमान लगाया था। मुगल सत्ता के ह्रास के बाद खास तौर से साम्राज्य के केंद्रीय प्रदेश में जो अराजकता फैली उससे राजनीतिक सत्ता के लिए स्पर्धाशील व्यक्तियों के बीच न केवल लगभग सतत संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई, बल्कि उससे बहुत से मौकापरस्त सैनिक नेताओं को भी, जिनमें देशी-विदेशी दोनों शामिल थे, अपना भाग्य संवारने के लिए खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। अमीर खां, करीम खां और चितू के नेतृत्व में पिंडारियों और पठानों

ने मध्य भारत में लूटपाट मचा दी,[3] और जेम्स स्किनर तथा जार्ज टामस जैसे यूरोपीय लुटेरे भारत में अपने राज्य स्थापित करने का सपना देखने लगे।[4] अपनी शक्ति का विस्तार उत्तर की ओर करने के क्रम में मराठों ने राजपूताने की रियासतों को वीरान करके रख दिया, और कई बार बंगाल पर हमले किए तथा वे उत्तर भारत की राजनीति में भी दखलंदाजी करते रहे। औरंगजेब के बाद के मुगल शहंशाहों में प्रशासनिक संस्थाओं में घर कर गए ह्रास को रोकने, साम्राज्य की नींव को खोखला कर रहे जनविद्रोहों पर काबू पाने और नई चुनौतियों का सामना करने के लिए अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने की कुशलता और संकल्प का अभाव था। साम्राज्य की शक्ति और सत्ता का ऐसा ह्रास हुआ कि उसे फिर वापस नहीं लाया जा सका, और सिंहासन पर सम्राट का अधिकार मराठों, रुहेलों या अंग्रेजों के समर्थन पर निर्भर हो गया। इस पृष्ठभूमि में देखें तो गुलाम हुसैन का अठारहवीं सदी को 'अज्ञानी और अकारण टांग अड़ाने वाले विवेकशून्य और प्रमादी नरेशों तथा जागीरदारों का युग' बताना अनुचित नहीं लगता। उसने लिखा :

> ऐसे ही निकम्मे प्रशासन का परिणाम है कि हिंद का हर हिस्सा बरबाद हो गया है, और यहां के हर हताश निवासी का दिल टूट गया है। ज्यादातर लोगों के लिए तो जीवन ही दूभर हो गया है। नतीजा यह है कि वर्तमान समय की अतीत से तुलना करने पर कोई भी यही सोचेगा कि संसार सर्वत्र जड़ता से ग्रस्त है, और धरती पर कभी न मिटने वाला अंधकार छा गया है।[5]

इसमें कोई संदेह नहीं कि मुगल सत्ता के क्षय के साथ राजनीतिक अस्थिरता, प्रशासनिक अकुशलता और सामाजिक असुरक्षा का दौर भी आरंभ हो गया। लेकिन मुगल साम्राज्य का विघटन तो एक राजनीतिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता था किंतु उसके साथ जो अव्यवस्था, विकलता तथा अराजकता आरंभ हुई वह उसका प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। अठारहवीं सदी में जो वैकल्पिक राजनीतिक प्रवृत्ति प्रकट हुई वह स्वशासी राज्यों के उदय के रूप में प्रकट हुई, जो बाद में स्वतंत्र राज्य बन गए। दूसरे शब्दों में, मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद जो राजनीतिक प्रक्रिया आरंभ हुई वह राजनीतिक सत्ता का विखंडन थी, राजनीतिक विखंडन नहीं। जरूरी नहीं कि किसी केंद्रीकृत साम्राज्य का विघटन दुर्भाग्य ही हो। यह भी जरूरी नहीं कि वह राजनीतिक दृष्टि से प्रतिगामी ही हो। जो भी हो, अठारहवीं सदी में जो नई राजनीतिक संरचना उभर रही थी उसमें शक्ति और ऊर्जा का अभाव नहीं था; स्वशासी और स्वतंत्र रियासतें जरूरी तौर पर अराजकता और ह्रास की ही तसवीर पेश नहीं करती थीं। उदाहरण के लिए, बंगाल में मुर्शिद कुली खां तथा अलीवर्दी खां के अधीन हालांकि शक्तियों का एक नया समीकरण स्थापित हो रहा था फिर भी वहां का प्रशासन अधिक नहीं तो उतना कुशल तो था ही जितना कि वह साम्राज्य के उत्कर्ष काल में था।[6] और फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप

के पूर्व हैदराबाद और कर्नाटक की स्थिति भी शायद वैसी ही थी। मार्तंड वर्मा (1729-58) के ऊर्जस्वल नेतृत्व मे त्रावणकोर ने अपने प्रशासन का पुनर्गठन किया और आतरिक कलह को शात किया, बल्कि वह उस क्षेत्र की एक प्रबल शक्ति भी बन गया।[7] यदि इन प्रवृत्तियों को औपनिवेशिक हस्तक्षेप के बिना परिपक्व होने दिया जाता तो भारतीय राज्यव्यवस्था का स्वरूप क्या होता है, इस सबध मे अटकलबाजी करना बेकार होगा। कम से कम एक भारतीय शासक ने अठारहवीं सदी में अपने राज्य की अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने के लिए कदम अवश्य उठाए, और हालाकि वह कामयाब नहीं हुआ फिर भी उसने आधुनिकरण की आवश्यकताओ के बोध का परिचय जरूर दिया।[8] लेकिन दूसरी ओर भारतीय राजनीतिक सरचना के उन सहज दोषों की ओर से आखें बद नहीं कर लेनी चाहिए जो नई समाजार्थिक सरचनाओं के उदय में बाधक हो सकती थीं। उदाहरण के लिए, टीपू सुलतान के मैसूर मे .

> आम तौर पर कहे तो सबसे बडी बाधा उन शक्तियों और परिप्रेक्ष्य की अनुपस्थिति थी जो नागरिक समाज के उदय के लिए तथा सामतवाद से पूजीवाद की ओर सक्रमण के यूरोपीय अनुभव के साथ जुड़े सपत्ति के वैयक्तीकरण और समाजार्थिक परिवर्तन की स्थिति को संभव बनाने के लिए काम कर सकते थे। चाहे कृषि का मामला हो या उद्योग-व्यापार का, टीपू ने प्रगति के लिए जिस उपाय का इस्तेमाल किया, वह राजनीति के उस व्यापक जोड-तोड से आगे नहीं जा पाया जो अब भी न केवल जारी रहा बल्कि जिसने आर्थिक अधिशेष के अधिग्रहण तथा इस्तेमाल पर राजनीति और दफ्तरशाही की गिरफ्त को और भी मजबूत बना दिया।[9]

फिर भी, टीपू सुलतान जिस चीज का प्रतिनिधित्व करता था वह थी एक नई राह पर चलने की भारतीय नेतृत्व की इच्छा और योग्यता, और इतिहास के प्रवाह ने भारतीयों को जिस चीज से वचित कर दिया वह थी उन बाधाओ पर पार पाने का अवसर जिनसे टीपू के प्रयत्नों का सामना पड़ा था।

सांस्कृतिक ह्रास ?

अठारहवीं सदी के भारत पर प्रणीत लगभग प्रत्येक कृति में राजनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक-सास्कृतिक परिघटनाओं के बीच प्रत्यक्ष सबध मानकर चला गया। रघुवंशी ने लिखा, 'असुरक्षा और अत्याचार की अवस्थाओं मे सभ्य जीवन फूल-फल नहीं सकता। अठारहवीं सदी में मुगल राजतत्र के विघटन से राजनीतिक बिखराव और अराजकता की शक्तिया बेलगाम हो गईं और उन्होंने मनुष्य की रचनात्मक और सहयोगात्मक प्रवृत्ति को नष्ट कर दिया। उनके कारण राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग में गिरावट आई।'[10] अबे दुबोई, अलेक्जेंडर डो तथा फोर्ब्स जैसे समकालीन पर्यवेक्षक इस बात की साक्षी

भरते हैं कि भारतीय रचनात्मकता रसातल में पहुंच गई।[11] राजनीतिक अस्थिरता और आर्थिक संकट के साथ जरूरी तौर पर कलात्मक और साहित्यिक रिक्तता भी आ जाए, इसका कोई ऐतिहासिक औचित्य मालूम नहीं होता।[12] अठारहवीं सदी के भारत के संबध मे इस बात की ओर सबसे पहले हरमन गेज ने ध्यान दिलाया, जिनका कहना था कि राजनीतिक अस्थिरता के फलस्वरूप संस्कृति का कोई चतुर्दिक ह्रास नहीं हुआ। उन्होने लिखा :

> ह्रास के जिन लक्षणों के लिए अठारहवीं सदी के भारत की आलोचना की जाती है वे तो अन्य जन-समाजों के इतिहास के गौरवपूर्ण माने जाने वाले कालों में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। कहा जा सकता है कि वे लक्षण उस रोशनी के अनिवार्य साए की तरह रहे हैं जिसे समाप्त करने में निस्संदेह उनकी भूमिका रही है, लेकिन आम तौर पर हम उन्हें नजरअंदाज कर देते हैं, क्योंकि वे अंधकारमय पहलू तो अतीत के गर्भ में खो गए हैं लेकिन रोशनी आज भी हमारी संस्कृति की जीवित विरासत है। क्या हम जयपुर, जोधपुर, दीग, उदयपुर, लाहौर, लखनऊ, मुर्शीदाबाद, पूना आदि के परी लोक जैसे प्रासादों और उद्यानों को नजरअंदाज कर सकते हैं, क्या हम उस काल के असख्य चित्रों के माधुर्य और परिष्कृत रुचि से इनकार कर सकते हैं? क्या हम उर्दू, बंगला और मराठी साहित्य के उस स्वर्ण युग को भुला सकते हैं? क्या हम उस काल के संगीत और नृत्य द्वारा स्पर्श की गई ऊंचाइयो में संदेह कर सकते हैं? या कि सामाजिक जीवन के परिष्कृत रूप और समाज में स्त्रियों के स्थान के महत्व में सदेह कर सकते हैं? क्या हम अनिवार्यत: इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते कि अठारहवीं सदी और उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध केवल राजनीतिक तथा आर्थिक ह्रास का ही काल नहीं रहा है बल्कि वह भारतीय संस्कृति के परम परिष्कार का भी युग रहा है।[13]

कला के स्वरूप में बदलाव

अठारहवीं सदी में कला तथा साहित्य में रचनात्मकता के स्वरूप और संरक्षण के बदलते हुए रूप के विशद अन्वेषण का कार्य अभी आरंभ नहीं हो पाया है। तथापि उस काल की चित्रकला, संगीत और साहित्य के हमारे वर्तमान ज्ञान से इन क्षेत्रों में बध्यापन और गतिशून्यता का कोई आभास नहीं होता। इसके विपरीत, कुछ क्षेत्रों में रचनात्मकता ने नई ऊंचाइयों का स्पर्श किया और कुछ अन्य में अभिव्यक्ति के नए रूपों को अपनाने का प्रयत्न किया गया। क्या सरक्षण के केंद्रों के भौगोलिक बदलाव और कलाकारों के नए जीवनानुभवों से इसका कोई संबंध था? औरंगजेब की शुद्धाचरणवादिता और परवर्ती मुगल बादशाहों के वित्तीय संकट के फलस्वरूप संस्कृति के नए क्षेत्रीय केंद्रों का विकास

हुआ। लखनऊ, हैदराबाद और राजपूताने तथा पजाब के पहाडो प्रदेशों के राजपूत राज्य इस काल में सरक्षण के प्रमुख स्रोत बन गए। ऐसी बात नहीं है कि सास्कृतिक केंद्रों के रूप में पहले उनका अस्तित्व नहीं था, परतु शाही दरबार और उसके अमीरों द्वारा दिए जाने वाले सरक्षण मे ह्रास के साथ कलाकारों तथा साहित्यकारों को क्षेत्रीय केंद्रों से शाही राजधानी की ओर आकृष्ट करने वाला प्रभाव समाप्त हो गया। उदाहरण के लिए, अकबर के दरबार में मुख्यत गुजरात, ग्वालियर और कश्मीर के सौ से ज्यादा चित्रकार सेवारत थे।[14] औरगजेब और उसके बाद के काल में यह प्रवृत्ति उलट गई। चित्रकार और कलाकार क्षेत्रीय केंद्रो की ओर देशातरण कर गए, जिसका एक प्रमुख उदाहरण कागडा स्थित मानक और नैनसुख का परिवार है।[15] क्षेत्रीय सास्कृतिक केंद्रों के विकास और साथ ही कुल मिलाकर क्षेत्र-दर-क्षेत्र उनके प्रचार की दृष्टि से इसका प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण रहा, और इस क्रम मे बड़ी संख्या मे क्षेत्रीय अभिजात लोग सरक्षकों के समूह में शामिल हो गए।

लघु चित्रकारी अठारहवीं सदी की रचनात्मक ऊर्जा और उस दौर में संरक्षण के रूप में आए परिवर्तन दोनो का अच्छा उदाहरण है। भारत में लघु चित्रकारी का आरंभ ग्यारहवीं सदी में तालपत्रों पर बनाए उन जैन लघु चित्रों से हुआ जिनका इस्तेमाल धर्मग्रंथों को चित्रित करने के लिए किया जाता था। मुगल शासन काल पर स्पष्ट ईरानी प्रभाव से युक्त होकर यह कला परवान चढ़ी। अकबर के दरबार में दो ईरानी चित्रकार थे : अब्दुस्समद और मीर सैयद अली। उन्होंने भारत भर से वहा एकत्र चित्रकारों को प्रशिक्षण दिया। जहागीर के उदार सरक्षण में मुगल लघु चित्रकारी की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हुई।[16] इस काल में लघु चित्रकारी राजपूत राज्यो मे भी लोकप्रिय हुई, जिसका कारण शायद मुगल प्रभाव था।[17] लेकिन मुगल शैली के मध्याह्न की समाप्ति के बाद भी राजपूतों मे लघु चित्रकला अपना एक अलग चरित्र, शैली और अंतर्वस्तु लेकर फूलती-फलती रही।[18] इस क्षेत्र मे जो कतिपय अत्युत्कृष्ट रचनात्मक प्रयत्न किए गए उनमें सहजता और नवाचार की प्रवृत्ति थी और रूमानी सौंदर्य की एक ऐसी शैली थी जो राजस्थान की चित्रकला में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। ये विशेषताए खास तौर से किशनगढ और बूंदी चित्रकला शैलियों में उभरकर सामने आई।[19] मोतीचद्र के शब्दों मे, 'सावधानी-भरा सवार, आकर्षक रग-योजना, विशिष्ट परिधान, स्थापत्यात्मक पृष्ठभूमि और रूमानी दृश्यावली बूंदी के चित्रों की अपनी विलक्षण विशेषताए हैं। बूंदी के कलाकार किसी शैली विशेष के अधानुगामी नहीं थे। मालूम होता है, उन्होने अन्य राजपूत शैलियों के विशिष्ट लक्षणों को पूर्ण रूप से पचा-खपा लिया था।'[20]

इसी प्रकार अठारहवीं सदी मे पजाब के पहाडी राज्यों मे भी लघु चित्रकला खूब फूली-फली।[21] कागडा में मानक और नैनसुख, गढवाल में भोलाराम और बहुत से अन्य अज्ञात चित्रकारो ने नई-नई शैलियों में प्रयोग किए, तथा काल्पनिक और प्राकृतिक दृश्यों

का सुंदर समंजन प्रस्तुत किया। 'चित्रकला प्रकृतिवाद की ओर झुकने लगती है, उसमें एक गीतात्मक रूमानी तत्व का समावेश होता है और भावना की कोमलता की तलाश शुरू हो जाती है।'[22]

राजपूत और पहाड़ी चित्रकला में चित्रकारों द्वारा चित्रण के लिए चुने गए विषयों में और साथ ही उनकी चित्रण शैली में भी बदलाव आया। दैनिक जीवन, धार्मिक उत्सवों और संस्कारों तथा मिथकीय विषयों के दृश्यों के चित्रण की प्रधानता हो गई। मिथकीय विषयों में कृष्ण लीला के प्रसंगों पर विशेष जोर दिया गया। धार्मिक विषयों को प्रधानता प्रदान करने का कारण शायद यह था कि भक्ति परंपरा का प्रभाव, खास तौर से राजस्थान में, आज भी जारी था।[23] परंतु लौकिक हस्तियों में मिथकीय चरित्रों का आधान करने की प्रवृत्ति का मतलब धर्मेतर कला की दिशा में संक्रमण की प्रारंभिक अभिव्यक्ति भी लगाया जा सकता है। किशनगढ़ में सुधराज निहालचंद ने सावंतसिंह-बनी ठनी प्रेम-प्रसंग[24] को राधा-कृष्ण लीला में गूंथ दिया। कांगड़ा की चित्रकला में कृष्ण का चित्रण अकसर पहाड़ी परिवेश में पहाड़ी बालाओं से घिरे पहाड़ी चरवाहे के रूप में किया गया है।[25] जहां मुगलों के अधीन लघु चित्रकला दरबारी जीवन के अनुभवों तक सीमित थी वहीं अठारहवीं सदी में वह व्यापकतर सामाजिक परिवेश के प्रति संवेदनशील होती जा रही थी। वस्तुतः यह उस काल में समग्र भारत में रचनात्मकता के क्षेत्र में आए महत्वपूर्ण विषय-परिवर्तन का सूचक था।

चित्रों की प्रस्तुति में राजस्थान और कांगड़ा के लघु चित्रों में सौंदर्यबोध के अति उच्च मानदंडों का निर्वाह किया गया। तफसीलों के प्रति अत्यंत सावधानी से ध्यान देना, कोमल और आकर्षक रंगों का इस्तेमाल, और कूंची का ऐसा सधा और मृदुल प्रयोग जिससे त्वचा और केशों में सजीवता के गुण तथा वस्त्रों में पारदर्शिता उभर आती थी, ये इन चित्रों की विलक्षण विशेषताएं थीं। दकन तथा अवध जैसे अन्य क्षेत्रों की चित्रकलाओं पर भी यही बात लागू होती है।[26] ह्रास के लक्षण उन्नीसवीं सदी में जाकर उभरने लगे, जब अति अलंकरण, अनुपातों के अभाव, अदक्ष रेखांकन, भारी हाथ से प्रयुक्त गाढ़े रंगों और भरी-भरी सतहों के फलस्वरूप चित्र बहुत स्थूल और गतिहीन से दिखाई देने लगे।[27]

साहित्य सृजन

इतिहासकारों और साहित्यालोचकों में अठारहवीं सदी के भारतीय साहित्य को पंडिताऊ, भ्रष्ट और ह्रासोन्मुख मानने की प्रवृत्ति रही है :

> इस भ्रष्ट युग में जिस साहित्य की सृष्टि हुई उसमें ये सभी दोष थे जिनसे स्वयं समाज ग्रसित था। उसका काव्य रीत्यानुगामी, शब्दाडंबर से बोझिल और दुरूह

था। उसका भाव छदो की कृत्रिम सीमाओं से बंधा हुआ था, और उसका मिजाज ऐहिकता और आध्यात्मिकता के बीच हिचकोले खाता रहता था, जिनमे से दोनों की गहन अनुभूति का अभाव था। वह निराशावाद और हताशा के बादलों से आच्छन्न था। वह यथार्थ से पलायन में शांति ढूढता था।[28]

बहुत से अन्य विद्वानों द्वारा व्यक्त यह दृष्टि[29] प्राक्-औपनिवेशिक काल के भारतीय साहित्य में उभरती कतिपय महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को अनदेखी कर देती है। सच तो यह है कि अठारहवीं सदी के साहित्य में रूप और अतर्वस्तु दोनों दृष्टियों से पूर्ववर्ती काल की 'रसी-पुती और चापलूसी भरी' सस्कृत परपरा के त्याग की प्रबल प्रवृत्ति दिखाई देती है। उर्दू में मीर और सौदा, उड़िया मे ब्रजनाथ बोडाजेना, बगला में भरतचद्र राय और तेलुगु में वेमना ने जनता के लिए साहित्यिक अनुभव के नए आयाम प्रस्तुत किए।[30] *चतुर विनोद, अंबिका विलास* और *समरतरगण* के रचयिता ब्रजनाथ बोडाजेना (1730-95) ने साहित्य-रचना को कई शैलियों में प्रयोग किया। *चतुर विनोद* अंशतः गद्य और अशत मुक्त छद मे लिखा गया। यह ऐसे समय मे एक नूतन प्रयास था जब भारतीय साहित्य मे न तो गद्य का विकास हुआ था और न मुक्त छद का। 'यह पूरे उड़िया साहित्य का अकेला ऐसा गद्य है जो मौलिक, सुनियोजित और सपूर्ण है। शैली अद्भुत ताजगी से भरी, उन्मुक्त, वार्तालापात्मक और आधुनिक गद्य के बहुत करीब है।'[31] इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि बोडोजेना की गद्य शैली आम आदमी की बोली के बहुत निकट थी। बगला में अठारहवीं सदी का पूर्वार्ध महान साहित्यिक हलचलों का काल था,[32] और रामेश्वर भट्टाचार्य तथा भरतचद्र राय नई प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे।[33] *अन्नपूर्णामंगल* त्रयी के लेखक भरतचद्र राय को रवींद्रनाथ ठाकुर के पूर्व बंगला का सबसे प्रमुख कवि माना जाता है। इस त्रयी का *विद्यासुदर* वाला भाग उन्नीसवीं सदी के लगभग अंत तक कलकत्ता के साहित्यिक क्षेत्र को प्रभावित करता रहा।[34] इस काल के बगला काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता रचना की लोकप्रिय शैली और देवताओं को आम आदमी की छवि मे उतारने की कोशिश थी। यह दूसरी खूबी समकालीन लघु चित्रकला की भी थी। रामेश्वर भट्टाचार्य कृत *शिव-सकीर्तन* (1710) में शिव एक मामूली और गरीब किसान है और नायिका (गौरी) उस गरीब किसान की पत्नी है, जो दो वक्त की रोटी और चद गज कपडे से संतुष्ट है।[35] अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में अतर्वस्तु में यह परिवर्तन और भी प्रबल हो उठा। इस काल मे लोकप्रिय शैली में लिखी बेगारी की दुर्दशा और दीवान की नियुक्ति के खिलाफ रैयत के विरोध जैसे कुछ विषयों को स्थान दिया गया।[36]

अठारहवीं सदी उर्दू शायरी का उत्कर्ष काल था। यद्यपि उसकी अतर्वस्तु रूमानी थी तथापि उसकी काव्यात्मक कल्पना अत्यधिक परिष्कृत थी। यह उर्दू साहित्य के

तीन अप्रतिम शायरों का काल था : सौदा (1713-80), मीर (1720-1810) और दर्द (1719-85)। शाही नगर की छीजती श्री-समृद्धि के प्रति वे जागरूक थे और उनकी शायरी में उस त्रासदी का चित्रण किया गया जिससे समाज ग्रस्त था। सामंती भाग्यवाद के अधीन मेहनत-मशक्कत करते आम आदमी की त्रासदी को प्रतिबिंबित करने वाली उनकी शायरी में उनके काल का सांस्कृतिक आचार-व्यवहार ऐसे मुहावरे में अभिव्यक्त हुआ जिसे आम आदमी समझ सकता था।

उड़िया, बगला, तेलुगु तथा मलयालम और शायद अन्य भाषाओं मे भी इस सदी में लोक साहित्य की दिशा में बढते कदम को स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता था। यह काल अति सस्कृतनिष्ठ शैली में उच्च वर्गों से सबधित विषयों को प्रधानता देने वाली साहित्यिक परंपरा से निश्चित मुक्ति का द्योतक था और जिन भाषाओं में यह मुक्ति पहले ही सपन्न हो चुकी थी उनमें नई दिशा में और भी प्रगति हुई। भाषा के देशीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे प्रबल होती चली गई। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, विषयों की दृष्टि से भी साहित्य राजदरबारों की सीमाओं को तोड़कर उससे बाहर के जीवन के सुख-दुःख की स्थितियों के प्रति अधिकाधिक संवेदनशील होता चला गया। शुद्धतावादियों ने इस परिवर्तन को ह्रास के रूप में देखा है, जबकि इसे एक स्वस्थ प्रवृत्ति मानना चाहिए। परंतु यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं सदी में समाप्त हो गई, और भारतीय साहित्य अपनी सहज ऊर्जा खोकर पश्चिम का जरूरत से ज्यादा अनुकरण करने लगा।

संगीत

जो बात चित्रकला तथा साहित्य के बारे में कही गई है वह रचनात्मकता के अन्य क्षेत्रों पर भी लागू होती है। कर्नाटक संगीत के क्षेत्र में अठारहवीं सदी प्रसिद्ध त्रिमूर्ति, त्यागराज (1759-1847), मुत्तुस्वामी दीक्षितर (1775-1835) और श्याम शास्त्री (1763-1827) का काल था। गीतरचना की प्रभूतता,[37] शैली की विलक्षणता और रागों की प्रस्तुति में मौलिकता से युक्त इन संगीत-साधकों ने संगीत को तत्कालीन परपरा में एक स्पष्ट परिवर्तन संपादित किया और कर्नाटक संगीत के इतिहास में एक नए युग का प्रवर्तन किया।[38] मुत्तुस्वामी और श्याम शास्त्री की रचनाओं में पांडित्य की अधिकता थी और इसलिए उन्हें समझना कठिन था, परंतु त्यागराज बहुत लोकप्रिय और भावनात्मक रूप से प्रभावित करने वाले रचनाकार थे। मुत्तुस्वामी दीक्षितर की रचनाए मुख्य रूप से संस्कृत में थीं, किंतु श्याम शास्त्री और त्यागराज ने तेलुगु का उपयोग किया। तीनों उच्च कोटि की सृजनात्मक क्षमता से सपन्न थे; उन्होने नए रागों और नए तालों की रचना की, और उनमे एक ही राग में नवोन्मेष करने की क्षमता थी।[39] श्याम शास्त्री ने मंजी कलागडा और चिंतामणि जैसे *अपूर्व रागों* में जो रचनाएं कीं वे इस बात का प्रमाण हैं कि उनमें ऐसे क्षेत्रों में भी नए रूपों को उद्घाटित करने की क्षमता थी जो

औरों के लिए स्पष्ट ही सर्वथा बजर थे। बोब्बिली निवासी केशवैया के साथ उनकी प्रतियोगिता उनकी सृजनात्मक क्षमता का शायद सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है। तंजौर के महाराजा के दरबार में आयोजित प्रतियोगिता में केशवैया ने एक राग प्रस्तुत किया और उसके बाद अलग-अलग जातियों और गतियों में तान पेश किया। श्रोता यह देखकर हर्षोल्लसित हो उठे और केशवैया हतप्रभ रह गए कि श्याम शास्त्री ने उन्हीं तानों को न केवल और भी कुशलता से प्रस्तुत कर दिया बल्कि उनमें कई ऐसे उपतान भी जोड़ दिए जिनकी केशवैया को कोई जानकारी तक नहीं थी।[40] कर्नाटक संगीत के इतिहास में महानतम रचनाकार त्यागराज की मेधा न केवल उनकी मौलिकता और उस नवोन्मेषक क्षमता में निहित थी जिसके सहारे वे एक ही राग की रचना को कई रूप दे देते थे बल्कि संगीत को उससे अपरिचित जनसाधारण तक ले जाने में भी समाहित थी। वे रचना के एक नए रूप और नई शैली के उद्भावक थे, जिसके उदाहरण गेय नाटकम (आपेरा) और घन राग पचरत्नम हैं।[41] उन्होंने कई नए रागों का भी सृजन किया, जिनमें महत्वपूर्ण हैं देवमित्र वर्षिणी, सारमती, फलरंजिनी और उमाभरनम।[42] त्यागराज की रचनाओं, विशेष रूप से उनके भक्ति गीतों ने आबादी के बहुत बड़े हिस्से को एक नई सांस्कृतिक अनुभूति की ओर आकृष्ट किया।

इस संगीत त्रिमूर्ति का काल भारत के सांस्कृतिक जीवन के अत्यधिक रचनाशील युगों में से था। उनके योगदान का मूल्यांकन करते हुए एस सीता ने लिखा है :

> त्रिमूर्ति की कृतियां रागों की सर्वप्रमुख परिभाषा हैं, और 'ध्वनि की अमूर्त तसवीर' की रागात्मक वैयक्तिकता के सजीव चित्रण से उनके लक्षणों के मानकीकरण में सहायता मिली। इसके फलस्वरूप मनोधर्म संगीत का, उसके विविध पहलुओं के साथ, विकास हुआ। इससे विभिन्न चरणों में राग की विस्तृत प्रस्तुति, व्यवस्थित तान और घनम के गायन तथा जटिल पल्लवी प्रस्तुति का उदय हुआ।[43]

अठारहवीं सदी में धर्मदर्शन के अध्ययन में शाह वलीउल्ला का योगदान,[44] नक्षत्र-विज्ञान तथा शहर-योजना के क्षेत्रों में महाराजा जयसिंह के प्रयत्न[45] और वास्तुकला का विकास ये सब भी अन्वेषण के महत्वपूर्ण क्षेत्र होने चाहिए।

धर्म

अठारहवीं सदी के 'अंधकार' और उन्नीसवीं सदी की 'आभा' की तुलना करने में धर्म और शिक्षा के क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कहा गया है कि अठारहवीं सदी में धर्म रूढ़िवादी और अंधविश्वासपूर्ण आचारों से ग्रस्त था, और इसके विपरीत यूरोपीय बौद्धिक प्रभाव से प्रेरित सुधार आंदोलन ने धर्म की आद्य शुद्धता को पुन प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार, यह राय भी जाहिर की गई कि अठारहवीं सदी को

वौद्धिक गतिहीनता और अज्ञान को मिटाने के लिए पाश्चात्य शिक्षा ने ज्ञान का प्रकाश फैलाया, जिससे अंत मे राजनीतिक और सामाजिक प्रगति भी संभव हुई। यह भारत संबंधी इतिहासलेखन का एक सुपरिचित विषय है, जिसका पल्लवन जे.एन. फर्कुहार से लेकर आर.सी. मजुमदार तक बहुत सारे इतिहासकारों ने किया। मजुमदार ने लिखा :

> सदियों से धार्मिक विचारों तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के एक निश्चल समूह के सांचे में ढले गतिशून्य जीवन पर अचानक एक नई विचारधारा फूट पड़ी । उससे धर्म के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का जन्म हुआ और राज्य तथा समाज के उद्भव की तलाश की भावना जाग्रत हुई, जिसके आधार पर उनकी उचित संभावना और कार्य निर्धारित किया जा सकता था।[46]

दो स्थितियों की यह विपरीतता दरशाने के पीछे भारतीय सामाजिक संस्थाओं के गतिहीन स्वरूप, नैतिक तथा आचारशास्त्रीय अध:पतन, शैक्षिक तथा वैज्ञानिक, पिछड़ेपन और सबसे बढ़कर भारतीय मानस को एक 'ह्रासोन्मुख' समाज की समस्याओं से दो-दो हाथ करने की अक्षमता की मान्यताएं विद्यमान थीं। वास्तविकता यह है कि उपनिवेशवाद के सिद्धांतकारों और उनके आधुनिक इतिहासकार रूपी अवतारों के लिए यह एक ऐसा सुविधाजनक ढांचा था जिसके माध्यम से औपनिवेशिक शासन को एक प्रकार की वैधता प्रदान की जा सकती थी, क्योंकि उनका कहना था कि यदि यूरोपीय ज्ञान ने भारतीय मानस को सचाइयों को देखने का प्रकाश न दिया होता तो उनमें अपने समाज के दोषों के प्रति एहसास भी नहीं जगता।

संप्रदायों और जातियों की जकड़ में पड़े अठारहवीं सदी के हिंदू समाज में लोकप्रिय धर्म जादू-टोने, सर्वचेतनावाद और अंधविश्वासों से ग्रस्त हो गया था। बहुदेववाद और मूर्तिपूजा ने धर्म को लंबे-चौड़े कर्मकांड का पर्याय बना दिया था, और धार्मिक आचारों तथा कर्मकांड में आत्मपीड़न और पशु-बलि की कुरीतियां समा गई थीं। अज्ञानी जनसाधारण के भोलेपन और अंधविश्वास का लाभ उठाकर पुरोहितों ने धर्म को, राममोहन राय के शब्दों में, 'ठगी की एक प्रणाली'[47] में परिवर्तित कर दिया था, और धार्मिक पूजा को 'देवता की पूजा नहीं, बल्कि देवता पर जोर-दबाव डालने की क्रिया, और उसके आवाहन को प्रार्थना नहीं बल्कि जादुई मंत्रों का प्रयोग'[48] बना दिया था। धर्म को कलुषित करने वाले इन दोषों का जिक्र कर देने के बाद असली जरूरत इस बात का पता लगाने की रह जाती है कि समाज ने इस परिस्थिति का क्या उत्तर दिया? क्या इस सबके प्रति उदासीनता और स्वीकृति की आम भावना थी, या कि धार्मिक जीवन को बदलने और शुद्ध बनाने का कोई प्रयत्न किया गया? अठारहवीं सदी के दौर में भारत के लगभग सभी हिस्सों में परंपरा-विरोधी संप्रदायों के उदय से दूसरे प्रकार के उत्तर की संभावना का संकेत मिलता है।

शिक्षा

एक अन्य आम मान्यता यह है कि अठारहवीं सदी के भारत मे घोर अज्ञान फैला हुआ था। वे कहते हैं, पाश्चात्य शिक्षा की मुक्तिदायी भूमिका के बिना भारतीय मानस प्रमाद की स्थिति में ही पडा रहता। आश्चर्य की बात है कि उन्नीसवीं सदी के आरभ में प्राच्यविदों और अंग्रेजवादियों के बीच जो विवाद छिडा हुआ था उसके बावजूद भारत मे शैक्षिक प्रगति से सबधित लगभग सभी बहसों में देशी शिक्षा प्रणाली और उन्नीसवीं सदी मे भारतीय बौद्धिक जनो द्वारा विकसित शिक्षा विषयक विचारों की ओर, जो औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली से भिन्न थे, कोई ध्यान नहीं दिया गया। उन्हें या तो अस्तित्वविहीन या निरर्थक मानकर खारिज कर दिया जाता है। दुर्भाग्यवश, प्राक्-औपनिवेशिक काल मे शिक्षा की स्थिति के सबध में हमारा ज्ञान संतोषजनक नहीं है; यहां तक कि उसके स्रोत भी सीमित और अपर्याप्त हैं। यूरोपीय यात्रियों तथा ब्रिटेन के अधिकृत प्रतिनिधियों द्वारा प्रसगवश कही गई कुछ छिटपुट बातों के अलावा समकालीन स्रोतो का लगभग कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसका एकमात्र समाधान यही है कि हम उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दौर में शिक्षा की स्थिति से सबंधित रिपोर्टों से प्रासंगिक निष्कर्ष निकाले, क्योंकि उनसे देशी शिक्षा प्रणाली के सगठन, विस्तार और अंतर्वस्तु के विषय मे हमे काफी अतर्दृष्टि प्राप्त होती है। मद्रास प्रेसिडेंसी के सबध में टामस मनरो की 1822 की रिपोर्ट, बबई प्रेसिडेंसी के विषय में माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन की 1823 की रिपोर्ट और बगाल प्रेसिडेंसी के बारे में विलियम एडम की 1835-38 की रिपोर्ट उनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनमें से भी जिलावार साख्यिकी से युक्त एडम की रिपोर्ट सर्वाधिक विस्तृत और ज्ञानवर्धक है। देशी शिक्षा प्रणाली से अपने गहरे लगाव के कारण उसने देशी शिक्षा की स्थिति के सबध मे तफसीलवार छानबीन की। बबई और मद्रास की रिपोर्टों में ऐसे उत्साह का अभाव था, यद्यपि एलफिंस्टन और मनरो मे पारंपरिक सस्थाओं के प्रति बहुत सम्मान था। फलतः इन दो प्रेसिडेंसियों से सबधित रिपोर्टें मोटे और प्राथमिक किस्म की रह गईं।

शिक्षा के महत्व के प्रति, खास तौर से समाज के ऊपरी वर्ग के सदस्यों मे, आम जागरूकता थी, यह स्पष्ट दिखाई देता था। विद्वानों और शिक्षकों दोनो को अभिजात वर्ग के लोग और आम आदमी बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे, और शिक्षित लोगों का समाज में विशिष्ट स्थान था। एडम का कहना है :

> सस्कृत विद्यालयों के शिक्षक और विद्यार्थी हिंदू समाज की अभ्यासपूर्वक निखारी गई प्रज्ञा हैं, और उनका वही सम्मान है और वही प्रभाव है जो अभ्यासपूर्वक प्रज्ञा प्राप्त करने वाले लोगों का हमेशा होता है। देशी समाज को उसकी वास्तविक लए, रूप और चरित्र देने में जितना प्रभाव इन शिक्षित लोगों के समूह का है उससे

अधिक समाज के और किसी वर्ग का नहीं है।[49]

राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण और निर्देश की अनुपस्थिति में शैक्षिक संस्थाओं का अनुरक्षण समाज के स्वैच्छिक प्रयत्नों के सहारे किया जाता था। शासकों और सरदारों द्वारा दिए जाने वाले विस्तृत अंशदान कलाओं और साहित्य को प्रश्रय देने का एक महत्वपूर्ण स्रोत थे। मराठा प्रदेशों का प्रभार संभालने पर एलफिंस्टन ने पाया कि पेशवा द्वारा 15,00,000 रुपए पारमार्थिक प्रवृत्तियों पर खर्च किए जाते थे और दक्षिणा की प्रथा से क्लासिकी विद्या के अध्ययन को प्रोत्साहन मिलता था।[50] बंगाल में, नदिया का राजा किशनचंद्र और राजशाही की रानी भवानी शिक्षा में गहरी रुचि लेती थी। कृष्णचंद्र चुगीघरों पर उपस्थित होने वाले प्रत्येक छात्र को 200 रुपए की छात्रवृत्ति देता था और रानी दान द्वारा संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन देती थी।[51] कर्नाटक में तंजौर, त्रावणकोर, कोचिन और लगभग सभी अन्य राज्यों में शासक और उनके अधीनस्थ सरदार ज्ञान की अभिवृद्धि मे योगदान करते थे।

शिक्षण संस्थाओं को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग था देशी प्राथमिक पाठशालाओं का और दूसरा उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं का। एडम ने पहले वर्ग में दो प्रकार की पाठशालाओं का उल्लेख किया है। पहले प्रकार की शालाएं मुख्य रूप से किसी एक ही धनाढ्य परिवार से समर्थन प्राप्त करती थीं और दूसरे प्रकार की शालाएं शहर या गांव के उस समुदाय से सहारा पाती थीं जिनके बीच वे स्थापित की जाती थीं। पहले प्रकार की पाठशालाओं का मुख्य उद्देश्य था :

> उन संपन्न हिंदुओं के बच्चों को शिक्षा देना जो उन्हें मुख्य रूप से समर्थन देते हैं; परंतु चूंकि शिक्षक को उस स्रोत से तीन रुपए माहवारी से अधिक कदाचित ही मिलता हो इसलिए उसे आसपास से उतने अतिरिक्त शिष्य जुटाने की छूट होती है जितने वह जुटा सकता है या जितने को संभाल सकता हो। वे उसे दो रुपए आठ आने माहवारी के हिसाब से अदायगी करते हैं, और इसके अतिरिक्त प्रत्येक शिष्य उसे महीने के अंत मे इतना चावल, दाल, तेल, नमक और सब्जियां देता है जितने में एक दिन गुजारा हो सकता है।[52]

परंतु यह व्यवस्था केवल सुखी-संपन्न परिवारों की ही जरूरत पूरी नहीं करती थी; कुल मिलाकर पड़ोस के बच्चे भी उसका लाभ उठाते थे।[53] इस घरेलू व्यवस्था को हिसाब में शामिल किए बिना प्राक्-औपनिवेशिक भारत की शैक्षिक सुविधाओं का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

दूसरे वर्ग के विद्यालयो का खर्च केवल विद्यार्थियों के अशदानों से चलता था। प्रत्येक विद्यार्थी चार आने से एक रुपया माहवारी देता था, जिसके अलावा शिक्षक को

प्रत्येक विद्यार्थी से एक महीने में एक दिन का खाना-पीना प्राप्त करने का हक था। अलग-अलग शिक्षकों द्वारा संचालित, या मंदिरों तथा मदरसों से संबद्ध अथवा पारमार्थिक संस्थाओं द्वारा समर्थित पाठशालाएं और मदरसे इसी वर्ग में आते थे।

अठारहवीं सदी में संस्कृत, अरबी और फारसी की उच्चतर शिक्षा के अनेक केंद्र फूल-फल रहे थे। फोर्ब्स ने दर्ज किया :

> बनारस तथा हिंदुस्तान के विभिन्न भागों में हिंदू महाविद्यालयों और ब्राह्मणीय विद्या मंदिरों को देखकर हमें बहुत हर्ष होता है, वे उपयोगी संस्थाएं हैं, और भले ही उनका लाभ खास-खास जातियों और खास-खास कोटियों के लोगों तक सीमित हो, फिर भी वे उस हद तक साहित्य, आरोग्य विद्या और विज्ञान के पालने का काम करते हैं जिस हद तक इन विषयों को हिंदुओं के बीच आवश्यक माना जाता है।[54]

संस्कृत विद्या के प्रमुख केंद्र बनारस, उज्जैन, तिरहुत, नदिया, राजशाही, तंजौर और त्रिवेंद्रम में थे। 1818 में कलकत्ता में संस्कृत के अध्ययन के 28 विद्या मंदिर थे, जिनमें 173 छात्र थे, 1801 में चौबीस परगने में 190 और नदिया में 31 विद्या मंदिर थे, जिनमें 747 छात्र थे। 1834-35 में एडम ने संस्कृत शिक्षा के 38 महाविद्यालय, हिंदू कानून के 19, सामान्य साहित्य के 13, तर्कशास्त्र के दो और वेदांत, तांत्रिक, पौराणिक तथा आरोग्य विद्या के चार महाविद्यालय राजशाही में पाए।[55] उसके अनुसार, बंगाल में 1,26,000 विद्या व्यसनी लोग संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में लगे हुए थे।[56] इस्लामी अध्ययन के केंद्र जौनपुर, लखनऊ और पटना थे।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में उपलब्ध शैक्षिक सुविधाओं का परिमाण विद्वानों के बीच विवाद का विषय रहा है। एडम का अनुमान था कि उन्नीसवीं सदी के आरंभ में बंगाल में 1,00,000 देशी प्राथमिक पाठशालाएं थीं।[57] प्रांत की आबादी का हिसाब 4,00,00,000 रखते हुए एडम इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्रत्येक 400 की आबादी पर एक ग्रामीण पाठशाला थी। उसने यह अनुमान भी लगाया कि विद्यालय जाने की उम्र के हर 73 बच्चों पर और हर 30-32 लड़कों पर एक ग्रामीण पाठशाला थी :[58]

> देखा जा सकता है कि ग्रामीण पाठशालाओं की प्रणाली विस्तृत रूप से प्रचलित है, अपनी पुरुष संतानों को शिक्षा देने की इच्छा निम्नतम वर्गों के माता-पिता के मन में भी बहुत तीव्र रही होगी, और उसके लिए संस्थाएं यही हैं, क्योंकि लोगों की आदत और देश के रिवाज से उनका चोली-दामन का संबंध है।[59]

उक्त प्राथमिक पाठशालाओं में उपलब्ध सीमित सुविधाओं और उनके शिथिल संगठन के बावजूद प्रत्येक 400 लोगों या पाठशाला जाने की उम्र के प्रत्येक 73 बच्चों पर ऐसी

एक पाठशाला का अनुपात विश्व के किसी भी देश की तुलना में बेहतर ही है। फिलिप हार्टोग ने इसे एक कोरी कल्पना और अविश्वसनीय अतिरंजना कहकर खारिज कर दिया है।[60] क्या यह एक कोरी कल्पना और अतिरंजना थी? एडम द्वारा एकत्र की गई सूचना के अनुसार, मुर्शिदाबाद, बीरभूम, बर्दवान, दक्षिण बिहार और तिरहुत जिलों में, जिनकी कुल आबादी 56,79,778 थी, 2,567 प्राथमिक पाठशालाएं थीं, जबकि प्रकल्पित अनुपात 1:400 के आधार पर उनकी संख्या 14,200 होनी चाहिए थी।[61] इस प्रकार एडम का हिसाब गलत लगता है। लेकिन इन पांच जिलों से संबंधित आंकड़ों में घरेलू शिक्षा के केंद्र शामिल नहीं किए गए, जो शैक्षिक संरचना के महत्वपूर्ण घटक थे। घरेलू पाठशालाओं को शामिल कर लेने से तसवीर में काफी बदलाव आ जाएगा। उदाहरण के लिए, मुर्शिदाबाद, दौलतबाजार, नांघिया, खुलना, जहानाबाद और भसरा के छह थानों की 4,96,974 लोगों की आबादी पर 288 प्राथमिक पाठशालाएं, 80 विद्या मंदिर, पाच अन्य विद्यालय तथा 1,747 घरेलू शिक्षा की शालाएं थीं, जिन सबको मिलाकर आंकड़ा 2,120 पर पहुचता है, जबकि 1:400 के अनुपात के लिए उसके 1,241 होने की जरूरत है।[62] 6,786 विद्यार्थियों में से 2,414 घरेलू केंद्रों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, इससे प्राक्–औपनिवेशिक भारत में घरेलू शिक्षा का महत्व उजागर होता है। घरेलू शिक्षा को हिसाब में शामिल करते ही एडम का आकलन न कोरी कल्पना रह जाता है और न अतिरंजना।

यद्यपि बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसियों से संबंधित सूचना उतनी विशद नहीं है जितनी बंगाल विषयक सूचना है, तथापि एडम के निष्कर्ष इन दो प्रांतों पर भी उतने ही लागू होते हैं। मद्रास में मनरो को हर गांव में, लगभग 1,000 की आबादी पर, एक प्राथमिक शाला मिली। जिला कलक्टरों से प्राप्त रिपोर्टों के अनुसार, इस प्रेसिडेंसी की 1,28,50,941 की आबादी पर 12,498 विद्यालय थे। इनमें घरेलू शालाओं से संबंधित सुविधाएं शामिल नहीं हैं। घरेलू केंद्रों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या अन्य शालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों से पांच गुना थी। मनरो का अनुमान यह था कि स्कूल जाने की उम्र के प्रत्येक तीन बच्चों में से एक शिक्षा प्राप्त करता था।[63] मैलकम की टिप्पणी थी कि मध्य भारत में सौ घरों के प्रत्येक गांव में एक प्राथमिक पाठशाला है।[64]

विश्वसनीय सूचना की अनुपस्थिति में अठारहवीं सदी के भारत में साक्षरता के स्तर का सही हिसाब नहीं लगाया जा सकता। तथापि बंगाल के पूर्णिया जिले में उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में बुकानन द्वारा की गई छानबीन से कुछ उपयोगी जानकारी मिलती है (देखिए आगे तालिका)।[65] इन आंकड़ों का मतलब यह होगा कि कुल आबादी का 13 प्रतिशत पढ़ और लिख सकता था, जिससे अंग्रेजी राज द्वारा फैलाई गई 'ज्ञान ज्योति' की तुलना में किसी भी तरह मंद तसवीर नहीं उभरती।

परंतु, शिक्षा की अंतर्वस्तु ज्ञान के क्षेत्र में, खास तौर से विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सामाजिक चिंतन में विश्व के अन्य भागों में हुई प्रगति को प्रतिबिंबित नहीं करती थी,

और न गणित तथा विज्ञान के पारंपरिक ज्ञान को आगे बढ़ाने का कोई प्रयत्न किया जा रहा था। इसके विपरीत, जोर साहित्यिक पाठों को कंठस्थ कर लेने और व्याकरण तथा धर्मतत्व के अध्ययन पर था। व्याकरण के अध्ययन में दो से लेकर बारह साल तक का समय लग जाता था। और कानून तथा दर्शन के अभ्यास में छह से दस साल तक का। *शिक्षा स्मृति का व्यायाम अधिक थी और बुद्धि को जाग्रत करने की कोशिश कम*, और गुरु-शिष्य संबंध परंपरा के अनुपालन को सुनिश्चित करता था और मौलिक चिंतन को कोई प्रोत्साहन नहीं देता था।[66] इस प्रणाली के दोषों की चर्चा करते हुए एडम को महसूस हुआ कि 'जिस चीज की जरूरत है वह है बुद्धि का विस्तार करने और उसे जाग्रत करने के लिए कुछ करने की, ताकि उसे रीति-परंपरा की जकड़ से मुक्त किया जा सके।'[67]

कुल आबादी	29,04,380
देशी भाषाओं की पाठशालाओं के शिक्षकों की संख्या	119
फारसी और अरबी मदरसों के शिक्षक	66
संस्कृत शिक्षक	643
सामान्य हिसाब-किताब रखने की योग्यता वाले लोग	18 650
हस्ताक्षर कर सकने वाले लोग	16,505
सामान्य कविता समझने में समर्थ पुरुष	1,830
सामान्य कविता समझने में समर्थ स्त्रियां	488
कुल योग	38,301

हालांकि वह शिक्षा-प्रणाली समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के प्रति जागरूक थी और उसमें कुछ उपयोगितावादी अंतर्वस्तु का भी समावेश किया गया। अरबी और संस्कृत की शिक्षा के क्रम मे गणित तथा विज्ञान का कुछ ज्ञान देने की व्यवस्था कर दी गई थी। इसके अलावा, पत्र-व्यवहार, हिसाब-किताब, व्यावसायिक और कृषि संबंधी लेखे का प्रशिक्षण भी कुछ विद्यालयों के पाठ्यक्रमों मे शामिल था।[68] एडम का कहना था कि 'जहा तक मुझे स्काटलैंड के ग्रामीण स्कूलों की याद है, मैं खुद को ऐसा कहने की स्थिति में नहीं पाता कि उनमें दी जाने वाली शिक्षा का दैनिक जीवन की बातों से उससे कुछ अधिक संबंध था जितना कि बंगाल की मामूली ग्रामीण शालाओं में दी जाने वाली शिक्षा का उससे है या होना अभिप्रेत है।[69]

अठारहवीं सदी का भारतीय समाज अपनी शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं के प्रति उदासीन नहीं था, इस विषय को और अधिक प्रतिपादित करने की जरूरत नहीं रह जाती। भारतीय मानस आगे भी साहित्यिक तथा क्लासिकी शिक्षा से जुड़ा हुआ रहता या नहीं, और वह विश्व के अन्य भागों में ज्ञान के क्षेत्र में की गई उन्नति से बेखबर

रहता अथवा नहीं, यह बात सामाजिक परिवर्तन और प्रगति से अविच्छेद्य रूप से सबद्ध है। हालांकि टीपू सुलतान की फ्रांस से वैज्ञानिक कौशल उधार लेने की कोशिश और जयसिंह द्वारा यूरोपीय नक्षत्र-वैज्ञानिकों के साथ किए गए आदान-प्रदान[70] से लगता है कि भारतीय अन्य समाजों द्वारा विकसित ज्ञान को ग्रहण करने के प्रति उदासीन नहीं थे। लेकिन औपनिवेशिक हस्तक्षेप के बाद चुनाव उनके हाथों में नहीं रह गया। औपनिवेशिक प्रभुत्व के फलस्वरूप पाश्चात्य ज्ञान के इस देश में छन-छनकर पहुचने की जो प्रक्रिया आरभ हो गई उसी से उसे ग्रहण करना भारतीयों की नियति बन गई। यदि बीच में औपनिवेशिक प्रभुत्व न आ गया होता तो पूरब और पश्चिम का सवाद, उनका आदान-प्रदान अधिक सार्थक और रचनात्मक होता, क्योंकि तब भारतीयों में आधुनिकता, आत्मविश्वास और अपने सास्कृतिक मूल्यों से जुड़े होने का भाव उत्पन्न होता।

अठारहवीं सदी के समाज के संबंध में सामान्यतः स्वीकृत कतिपय मान्यताओं पर आपत्ति करने के पीछे मंशा प्राक्-औपनिवेशिक भारत को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने या यह दिखलाने की नहीं रही है कि जब औपनिवेशिक हस्तक्षेप हुआ उस समय भारत सक्रमण के द्वार पर खड़ा था। हमारा आशय यह है कि मुगल साम्राज्यीय व्यवस्था के विघटित होने और आर्थिक जीवन में व्यतिरेक उत्पन्न होने के बावजूद बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में गतिशीलता और ऊर्जा कुंठित नहीं हुई। रचनात्मक सामर्थ्य मे असली व्यवधान भारत में अंग्रेजों के कारनामे के अंग के रूप में उत्पन्न हुआ।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 रेवेंड डब्ल्यू टेनाट, *थाट्स आन दि एफेक्ट्स आफ ब्रिटिश गवर्नमेंट आन दि स्टेट ऑफ इडोस्तान*, लदन, 1807, पृ 78-79
2 एल.एस.एस. ओ मैली, *माडर्न इडिया एड दि वेस्ट*, लदन, 1968, पृ 54-66, बी टी मैककली, *इंगलिश एजुकेशन एड दि आरिजिस आफ इडियन नेशनलिज्म*, नई दिल्ली, 1968, पृ 160, यदुनाथ सरकार, *दि डिक्लाइन एंड फाल आफ दि मुगल एंपायर*, I, कलकत्ता, 1950, पृ 343-44, ताराचंद, *हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इडिया*, I, नई दिल्ली, 1965, पृ 5.
3 के एन पणिक्कर, *ब्रिटिश डिप्लोमेसी इन नार्थ इडिया*, नई दिल्ली, 1968, पृ 43-49
4 एच जी कीन, *हिंदुस्तान अडर फ्री लासेज, 1770-1820*, लदन, 1907, और एडवर्ड टॉमसन, *दि मेकिंग आफ दि इडियन प्रिसेज*, लदन, 1943
5 बी पी एस रघुवशी, *इंडियन सोसायटी इन दि एटींथ सेंचुरी*, नई दिल्ली, 1969, पृ 8 में उद्धृत
6 फिलिप कैलकिंस, 'दि फार्मेशन आफ रीजनल एलीट्स इन बंगाल', *जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज*, अगस्त 1970, पृ 799-806
7. ए.पी इब्राहिम कुंजू, *राइज आफ त्रावणकोर : ए स्टडी आफ दि लाइफ एड टाइम्स आफ मार्तंड वर्मा*, त्रिवेंद्रम, 1978, पृ 7, 99-122. पी सकुन्नि मेनन, *तिरुवतनकोर चरितम्* (सी के करीम द्वारा अनूदित), त्रिवेंद्रम, 1913, पृ 89-145, और आर. नारायण पणिक्कर, *दि हिस्ट्री आफ*

त्रावणकोर, भाग I, त्रिवेंद्रम, 1933, पृ 84-150

8 अशोक सेन, 'ए प्रि-ब्रिटिश इकानामिक फार्मेशन', वरुण दे (स), *पर्सपेक्टिव्स इन सोशल साइंसेज,* कलकत्ता, 1977, पृ 46-119

9 वही, पृ 103

10 रघुवंशी, *इंडियन सोसाइटी इन दि एटींथ सेंचुरी,* पृ 24

11 वही, पृ 28

12 राबर्ट एस. लोपेक्स, 'हार्ड टाइम्स एंड इनवेस्टमेंट इन कल्चर', एंटनी मोल्हो, *सोशल एंड इकानामिक फाउंडेशन आफ इटैलियन रिनासां,* न्यूयार्क, 1969

13 हरमन गेज, *दि क्राइसिस आफ इंडियन सिविलाइजेशन इन दि एटींथ एंड अर्ली नाइनटींथ सेंचुरीज,* लंदन, 1938, पृ 6-7

14 एम एस रंधावा, *इंडियन मिनिएचर पेंटिंग,* नई दिल्ली, 1981, पृ 16

15 मुकुंदलाल, *गढ़वाल पेंटिंग,* नई दिल्ली, 1968, कार्ल खंडालावाला, *दि डेवलपमेंट आफ स्टाइल इन इंडियन पेंटिंग,* दिल्ली 1974, पृ 88-92, जमीला ब्रिजभूषण, *दि वर्ल्ड आफ इंडियन मिनिएचर्स,* टोकियो, 1979, पृ 113, एम एस रंधावा, *कांगड़ा रागमाला पेंटिंग्स,* नई दिल्ली, 1971, पृ 11-21

16 पर्सी ब्राउन, *इंडियन पेंटिंग अंडर दि मुगल्स,* न्यूयार्क, 1975, पृ 69-71

17 आनंदकुमार स्वामी, *राजपूत पेंटिंग,* न्यूयार्क, 1975, पृ 11-16

[illegible] मारियो बुस्सागली, *इंडियन मिनिएचर्स,* लंदन, 1966, पृ 31

19 रंधावा, *इंडियन मिनिएचर पेंटिंग,* पृ [illegible] और ब्रिजभूषण, *दि वर्ल्ड आफ इंडियन मिनिएचर्स,* पृ 166

20 मोतीचंद्र, 'जनरल सर्वे ऑफ राजस्थान पेंटिंग, बूंदी', *मार्ग,* XI, मार्च 1958

21 डब्ल्यू जी आर्चर, *इंडियन पेंटिंग्स फ्राम दि पंजाब हिल्स,* दिल्ली, 1973

22 बी एन गोस्वामी, *पहाड़ी पेंटिंग्स आफ दि नल-दमयंती थीम,* नई दिल्ली, 1975, पृ 2.

23 अठारहवीं सदी के राजस्थान का साहित्य, जिसने भक्ति आंदोलन से बहुत कुछ ग्रहण किया, इस प्रभाव का सूचक है

24 किशनगढ़ का शासक सावंत सिंह बनी ठनी के प्रेम में पड़ गया, बनी ठनी एक बहुत ही गुणी दासी थी, उसने बनी ठनी से विवाह करके सिंहासन का त्याग कर दिया और मथुरा चला गया.

25 ब्रिजभूषण, *दि वर्ल्ड आफ इंडियन मिनिएचर्स,* पृ 167

26 इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, उदाहरण देखिए 'दारा शिकोह की बरात', अवध, लगभग 1760, नं 58.58/38, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, 'रागिनी-भैरवी', दकन, लगभग 1725, नं [illegible] 3292, प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बंबई, और 'अपने शागिर्दों के साथ मौलवी', दकन, अठारहवीं सदी का प्रारंभ, नं 22.3427, प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बंबई

27 उदाहरणार्थ, देखिए ब्रिजभूषण कृत *दि वर्ल्ड आफ इंडियन मिनिएचर्स* में प्लेट 67, 75 और 79

28 ताराचंद, *हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया,* I, पृ 192

29 तमिल साहित्य के बारे में वरदराजन ने इस प्रकार लिखा है : 'इस काल का साहित्य वैयाकरणों की कष्टसाध्य कल्पनाओं और पंडिताऊपन के प्रयोगों से भरा हुआ है, और पूर्ववर्ती साहित्य की सरलता, स्पष्टता और सफलता तिरोहित हो जाती है इस काल के अधिकतर कवि न केवल आख्यान प्रस्तुति में बल्कि वर्णन में भी नकल और पुनरावृत्ति करते दिखाई देते हैं काव्य की रुचि में परिष्कृति आ गई थी और कवियों के महत्व का निर्धारण उनके अनुप्रासों की भरमार और छंदों की कलाबाजी के आधार पर किया जाता है इस काल की बहुत सी रचनाओं में उतनी कल्पनात्मकता नहीं है जितनी

कृत्रिमता है, और इसलिए इनमें से बहुत सी कृतियां विस्मृत हो गई हैं. नागेंद्र (■), *इंडियन लिटरेचर,* आगरा, 1959, पृ 43, साथ ही देखिए आर.के बरुआ, *हिस्ट्री आफ असमीज लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1964, पृ 102.'

30. मुहम्मद सादिक, *ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1964, पृ 66-116, राम बाबू सक्सेना, *ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर,* इलाहाबाद, 1940, पृ 54-66, जार्ज बोयर्स, 'इनटलेक्चुअल एंड कलचरल कैरेक्टरिस्टिक्स आफ इंडिया इन चेंजिंग एरा, 1740-1800', *जर्नल आफ एशियन स्टडीज,* नवबर, 1965, डब्ल्यू एच कैंबेल, 'दि वन ग्रेट पोएट आफ दि पीपुल', वी आर नारला (सं.), *वेमना थ्रू वेस्टर्न आइज,* नई दिल्ली, 1969, पृ 50-67, जी वी सीतापति, *हिस्ट्री आफ तेलुगु लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1968, पृ 36, मायाधर मानसिंह, *हिस्ट्री आफ उड़िया लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1962, पृ 155-62; और सुकुमार सेन, *हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर,* नई दिल्ली, 1960, पृ 151-62.
31. मानसिंह, *हिस्ट्री आफ उड़िया लिटरेचर,* पृ 156-57.
32. जे सी. घोष, *बंगाली लिटरेचर,* लंदन, 1948, पृ 85.
33. इन दोनों का जीवनकाल अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में पड़ता था.
34. सेन, *हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर,* पृ 153.
35. वही, पृ 151.
36. वही, पृ 158-59
37. त्यागराज ने लगभग 2,000 गीतों की और अन्य दो-दो सौ की दो रचनाएं की थीं. पी. शंभुमूर्ति, *श्याम शास्त्री एंड अदर फेमस फिगर्स आफ साउथ इंडियन म्यूजिक,* मद्रास, 1934, पृ 3
38. आर. रंगरामानुज अय्यंगार, *हिस्ट्री आफ साउथ इंडियन (कर्नाटक) म्यूजिक,* मद्रास, 1972, पृ 219-39, और आर. सीता, *तंजौर ऐज ए सीट आफ म्यूजिक,* मद्रास, 1981, पृ 200-14
39. पी. शंभुमूर्ति, *ग्रेट कंपोजर्स,* बुक I, मद्रास, 1978, पृ 5-6
40. शंभुमूर्ति, *श्याम शास्त्री एंड अदर फेमस फिगर्स,* पृ 30-31
41. शंभुमूर्ति, *ग्रेट कंपोजर्स,* बुक I, पृ 5-6.
42. वही, बुक II, पृ 13.
43. सीता, *तंजौर ऐज ए सीट आफ म्यूजिक,* पृ 200-14.
44. एस.ए.ए. रिजवी, *शाह वलीउल्ला एंड हिज टाइम्स,* नई दिल्ली, 1980.
45. जयसिंह ने दिल्ली, जयपुर, उज्जैन, मथुरा और बनारस में पांच वेधशालाएं स्थापित कीं. बवेरिया, फ्रांस और पुर्तगाल के नक्षत्र-वैज्ञानिक इस विषय पर चर्चा करने के लिए बहुधा उसके दरबार में आया करते थे, और फलतः जयसिंह ने नक्षत्र-विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप में हुई प्रगति की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी. यह इस बात का सूचक है कि भारत के ज्ञान का यूरोप में हुई प्रगति से किस प्रकार संपर्क और आदान-प्रदान हुआ होगा. यह बात भी महत्वपूर्ण है कि देश भर के विद्वान जयपुर में एकत्र हो गए थे. वी एस. भटनागर, *लाइफ एंड टाइम्स आफ सवाई जयसिंह,* दिल्ली, 1974, पृ 314, 343-46. जयपुर नगर की योजना तैयार करने का श्रेय जयसिंह को था. यह भारत में शायद पहला योजनाबद्ध नगर था. उसकी योजना *शिल्पशास्त्र* में दिए गए डिजाइनों के अनुसार नहीं, बल्कि जयसिंह के अपने डिजाइन के मुताबिक तैयार की गई थी. असीमकुमार राय, *हिस्ट्री आफ जयपुर सिटी,* नई दिल्ली, 1978, पृ XI, और सत्यप्रकाश, 'जयपुर एंड इट्स एनवाइरंस . ए स्टडी आफ आर्किटेक्चर', जे एन. असोपा (सं), *कलचरल हेरिटेज आफ जयपुर,* जयपुर, 1979. साथ ही देखिए हरमन गेज, 'लेटर मुगल आर्किटेक्चर', *मार्ग,* जिल्द XI, अंक 4, सितंबर 1958, और पर्सी ब्राउन, *इंडियन आर्किटेक्चर : इस्लामिक पीरियड,* बंबई, 1968, पृ 113

46 [illegible] (सं.) [illegible] जिल्द X, भाग II, बम्बई, 1965, पृ. 86.

47 [illegible] (सं.), [illegible], 1926, पृ. 496.

48 [illegible], [illegible], 1971, पृ. 25.

49 [illegible] हिस्ट्री ऑफ दि [illegible] ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, [illegible] कलकत्ता, 1943, पृ. 274, 423

50 [illegible], पृ. 172.

51 [illegible], हिस्ट्री ऑफ दि [illegible] ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, पृ. 166.

52 वही, पृ. 56.

53 [illegible] वही, पृ. 57, [illegible]

54 [illegible] जिल्द I, [illegible], 1834, पृ. 471

55 [illegible], हिस्ट्री ऑफ दि [illegible] ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, पृ. 175-83.

56 वही, पृ. 17

57 [illegible] वही, पृ. 6, [illegible]

58 वही, पृ. 6-7

59 वही, पृ. 7

60 [illegible] हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, [illegible], 1962, पृ. 11

61 वही, पृ. 14, 16.

62 वही.

63 [illegible], 1835, पृ. 568.

64 [illegible], जिल्द II, [illegible], 1832, पृ. 192.

65 [illegible], पृ. 196.

66 [illegible], हिस्ट्री ऑफ दि [illegible] ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, पृ. 18.

67 वही, पृ. 147

68 वही, पृ. 252.

69 वही, पृ. 146.

70 [illegible], पृ. 318.

3. इतिहासलेखन तथा अवधारणा संबंधी प्रश्न

इतिहास की एक यथेष्ट स्वायत्त शाखा या एक समेकनकारी उपकरण के रूप में विचारों का इतिहास आज भी भारतीय इतिहासलेखन का अंग नहीं बन पाया है। अब तक वह किसी व्यक्ति या काल के राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक चिंतन या किसी प्राचीन अथवा मध्यकालीन पोथी में निहित विचारों के अध्ययन तक ही सीमित रहा है।[1] अभी हाल तक तो जीवनियां भी समाज के संदर्भ में व्यक्तियों की बौद्धिक तसवीरों या विशद जीवन-चरितों के रूप में सामने नहीं आई हैं, हालांकि जीवनीकार के शिल्प की मूलभूत विशेषता यही है। संयुक्त राज्य में जेम्स हार्वे राबिन्सन द्वारा प्रवर्तित जिस 'नव-इतिहास' या *न्यू इंग्लैंड माइंड* में पेरी मिलर द्वारा आरंभ किए गए जिस पद्धतिशास्त्रीय नवाचार के फलस्वरूप 'बौद्धिक इतिहास' इतिहासलेखन की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया उसका भारतीय इतिहासलेखन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के इतिहास की विषयवस्तु कोई नई चीज हो; वस्तुतः बौद्धिक इतिहास के क्षेत्र में पड़ने वाली समस्याएं हमेशा से इतिहासकारों का सरोकार रही हैं। अंतर अपनाए गए पद्धतिशास्त्र का है। उदाहरण के लिए, सामाजिक जीवन और सामाजिक कार्रवाई पर धार्मिक विश्वासों का प्रभाव मिलर से पहले की भी अनेक कृतियों का विषय रह चुका था। परंतु जो चीज मिलर के निरूपण को उनके पूर्ववर्ती विद्वानों के निरूपणों से अलग करती है वह यह है कि उनके निरूपण में बौद्धिक हलचलों के अंतर्निर्भर स्वरूप को दरशाने और यह दिखलाने की सामर्थ्य है कि एक बौद्धिक क्षेत्र में घटित परिवर्तन से किस प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी परिवर्तन हुए।

पेरी मिलर और उनका अनुसरण करने वाली पूरी जमात ने बौद्धिक इतिहास (विचारों का इतिहास) के प्रति एक आंतरिक दृष्टिकोण, एक आदर्शवादी दृष्टि अपनाई, जिसका संबंध मुख्य रूप से चिंतन के अनुक्रम की तार्किक संगति से, एक विश्व-दृष्टि के पल्लवन से या बौद्धिक प्रगति को बढ़ावा देने वाले विचार-विशेष के प्रभाव से था। सारतः कहें तो ध्यान मानव बुद्धि की सृजनात्मक शक्ति पर केंद्रित था। उसके अंतर्गत विचारों को घटनाओं और सामाजिक यथार्थ से अलग करके प्रस्तुत किया गया और उन्हें मात्र विचारों के संदर्भ में व्यवस्थित रूप दिया गया। इस पद्धति ने बौद्धिक इतिहास को या तो बौद्धिक व्यक्तियों का इतिहास बनाकर रख दिया या फिर विचारों की प्रधानता वाली एक सामान्य सैद्धांतिक और दार्शनिक मान्यता के चौखटे के अंदर विचारों के इतिहास को स्थिति में डाल दिया।

दूसरी ओर, याह्यवादी दृष्टिकोण मे, बौद्धिक इतिहास की कार्यात्मक दृष्टि में, चिंतन और कर्म के बीच के सबध पर जोर दिया गया। विचारों को परिस्थिति-विशेष के प्रत्युत्तरों की श्रृखला भर मानने के इस दृष्टिकोण मे मानव बुद्धि की सृजनात्मक सभावना और नवाचारी क्षमता को नजरअदाज कर देने की प्रवृत्ति प्रबल हो गई। चूकि यहा जोर सामाजिक कर्म की गतिकी पर था, इसलिए विचारों का महत्व गौण ही था। विचारों के ऐतिहासिक महत्व को मापने का पैमाना कार्यात्मक उपयोगिता थी; इसलिए विचारों के महत्व का निर्णय उनमे जुडे कर्मों से किया गया।

यह तो निर्विवाद ही है कि बौद्धिक इतिहास में इन दोनो दृष्टिकोणो में से किसी में भी निहित धारणाओं को नजरअंदाज करने की गुजाइश नहीं है। लेकिन आवश्यकता दोनों के सयोग की नहीं, बल्कि ऐसे पद्धतिशास्त्र की है जो न तो आदर्शवादी हो और न प्राथमिकतावादी (रिडक्शनिस्ट) और फिर भी यह समझने में सहायक हो कि किसी ठोस ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश मे किस प्रकार अपने-आप में एक-दूसरे से भिन्न चिंतनों का उदय होता है। दूसरे शब्दो मे, उसे ऐसा पद्धतिशास्त्र होना चाहिए जो इस अवधारणा पर आधारित हो कि 'विचारों की, अवधारणाओं की, चेतना की उत्पत्ति प्रथमतः सीधे भौतिक क्रियाकलाप और मनुष्यों के भौतिक समागम से, वास्तविक जीवन की भाषा से जुड़ी हुई होती है', और 'चेतना चेतन अस्तित्व के अलावा और वास्तविक जीवन-प्रक्रिया में मनुष्यों के अस्तित्व के अतिरिक्त कभी कुछ और हो ही नहीं सकती।'[2] विचार 'भौतिक क्रियाकलाप और मनुष्यों के भौतिक समागम से ...सीधे जुड़े होते हैं', यह सिद्ध करना पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से कठिन और चुनौती भरा कार्य है। यह आधार (बेस) तथा अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के बीच के सबधों और अधिरचना के विभिन्न तत्वों के बारे में सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का एक अंग है।

ऊपर के सामान्य कथनों को ध्यान में रखकर इस अध्याय में औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक इतिहास के कुछ पहलुओं के अध्ययन के लिए एक अवधारणात्मक ढाचा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। वास्तविकता को जिस रूप में समझा गया उस पर ध्यान केंद्रित करते हुए, यहा उन्नीसवीं सदी में प्रादुर्भूत जटिल सास्कृतिक-बौद्धिक परिस्थिति में विचारधारा और चेतना के बीच के सबधो की छानबीन करने का प्रयास किया गया है। कहना यह है कि औपनिवेशिक प्रभुत्व के मात्र राजनीतिक तथा आर्थिक संदर्भों के सहारे न तो वास्तविकता-बोध के स्वरूप को समझा जा सकता है और न चेतना के आयामो को। उतनी ही महत्वपूर्ण सास्कृतिक-बौद्धिक प्रक्रियाए हैं—विशेष रूप से वे प्रक्रियाए जो पारंपरिक और औपनिवेशिक समाज से भिन्न एक आधुनिक समाज के विचारधारात्मक आधार की रचना करने की इच्छा से उद्भूत सास्कृतिक-बौद्धिक सघर्षों से उदित हुईं। इन सघर्षों के नायकों की पहचान करना और साथ ही उनके सामाजिक आधार एव रचनात्मक प्रभावों का निर्देश करना इन प्रक्रियाओं को

समझने के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

इस अध्याय के प्रथम भाग में वर्तमान इतिहासलेखन का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, और इस क्रम में उन प्रश्नों को रेखांकित किया गया है जो उन्नीसवीं सदी के विचारों के इतिहास के क्षेत्र से बाहर रह गए।

दूसरे भाग में बौद्धिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के रचनात्मक प्रभावों की छानबीन की गई है, और पाश्चात्य प्रभाव तथा बौद्धिक प्रतिबद्धता के बीच सीधा संबंध होने की सामान्यत: स्वीकृत धारणा के औचित्य पर विचार करने के साथ-साथ संबंधित व्यक्तियों को बौद्धिक बनावट के आधार पर उन्हें 'रूढ़िवादी', 'सुधारक' और 'आमूल परिवर्तनवादी' के रूप में चित्रित करने की परिपाटी पर गौर किया गया है। इस विवेचन के लिए प्रासंगिक एक और भी पहलू है बौद्धिक व्यक्ति का प्रातिनिधिक रूप—या तो अपने वर्ग के संदर्भ में उसका प्रातिनिधिक रूप या जो वर्ग उसके सामाजिक आधार का काम करता है उसके संदर्भ में उसका यह रूप। इस पहलू के सांगोपांग विवेचन का प्रयत्न नहीं किया गया है, और न इस आलेख के विस्तार में उसकी गुंजाइश है; फिर भी इतना निवेदन तो है ही कि अंग्रेज हुक्मरानों के देशी अभिकर्ता-सहयोगी (कम्प्राडोर-कोलेबोरेटर) वाला प्रतिमान भारतीय परिस्थिति में मौजू नहीं है।

तीसरे भाग में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक यथार्थ के बोध पर जोर दिया गया है, और यह दिखलाया गया है कि उपनिवेशवाद विरोधी चेतना के विकास में उसने किस प्रकार योगदान किया। यहां बुनियादी मान्यता यह है कि उन्नीसवीं सदी का बौद्धिक प्रयास पराधीनता के यथार्थ को समझने की जद्दोजेहद का एक अभिन्न अंग था। इसलिए यदि उस प्रक्रिया को समझना है जिससे उपनिवेशवाद विरोधी चेतना का जन्म हुआ तो प्रधान कार्रवाई के आधार पर, चाहे वह कार्रवाई सामाजिक-धार्मिक हो या राजनीतिक, चीजों को अलग-अलग खानों में बांटकर देखने से बाज आना है।

अंतिम भाग का संबंध सामाजिक तथा बौद्धिक परिप्रेक्ष्यों की रचना में सांस्कृतिक तत्वों की भूमिका से है। सांस्कृतिक क्षेत्र मे प्रवेश करने का तकाजा इस धारणा के अटपटेपन से आता है कि स्वयं को सशक्त बनाने और सामाजिक संस्थाओं में नवजीवन का संचार करने के उन्नीसवीं सदी के प्रयत्नों के पीछे धार्मिक पुनरुत्थानवाद और रूढ़िवाद की प्रेरणा थी। भाषा तथा कतिपय सामाजिक रीति-रिवाजों जैसे अन्य तत्वों के प्रति जागरूकता के अस्तित्व को स्वीकार करके, सांस्कृतिक बचाव की अवधारणा एक विकल्प के रूप में सुझाई गई है। बौद्धिक दृष्टिकोणों को समझने के लिए इस अवधारणा के फलितार्थों पर विस्तार से विचार करना होगा। यहा मात्र कुछ आरंभिक किस्म की बातें कही गई हैं।

उपनिवेशवाद विरोध के सांस्कृतिक मूल

किसी समाज में चेतना का, चाहे वह प्रतिष्ठित चेतना हो या संघर्षरत चेतना, विकास बौद्धिक इतिहास के प्रमुख विषयों मे से है। औपनिवेशिक भारत में समाज के अंदर विद्यमान अंतर्विरोधों पर आधारित परस्पर संघर्षरत चेतनाओं की विभिन्न धाराओं के अस्तित्व के बावजूद प्रतिष्ठित धारा उपनिवेशवाद-विरोधी चेतना के विकास की थी। इस चेतना की आरंभिक अभिव्यक्ति राजनीति के क्षेत्र मे ही हुई हो, यह कोई जरूरी नहीं है। सच तो यह है कि चूंकि औपनिवेशिक राज्य की संस्थाएं प्राक्-औपनिवेशिक संस्थाओं से अधिक प्रतिगामी नहीं थीं, इसलिए इस चेतना की आरंभिक अभिव्यक्ति विचारधारा और संस्कृति के क्षेत्र में हुई।[8] यह प्राक्-राजनीतिक और सहज तो नहीं लेकिन याद्यत, गैर-राजनीतिक चरण उस ऐतिहासिक प्रक्रिया की एक महत्वपूर्ण कड़ी था या नहीं जिसने उपनिवेशवाद-विरोधी चेतना को जन्म दिया, और अगर वह उसकी ऐसी कड़ी था तो कैसे, ये ऐसे प्रश्न हैं जो ऐतिहासिक छानबीन के दायरे के अंदर नहीं आ पाए हैं। उन्नीसवीं सदी की सांस्कृतिक-विचारधारात्मक जद्दोजहद प्रतिष्ठित चेतना से भिन्न नहीं थी और न उसमे एक सहायक तत्व थी बल्कि वह उसका एक हिस्सा थी, यह बात, मालूम होता है, इतिहासकारों की निगाह से चूक गई।

औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक-विचारधारात्मक जद्दोजहद के दो पहलू थे, जो आपस में एक-दूसरे के अनुपूरक थे। पहले की दिशा परंपरा, संस्कृति और विचारधारा के प्रतिगामी तत्वों के खिलाफ थी और उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं के सुधार और नवसंस्कार के रूप में हुई। दूसरा पहलू था औपनिवेशिक संस्कृति तथा विचारधारा के प्रतिरोध का प्रयत्न। पहला दूसरे का एक हिस्सा था, और जिस चीज से पहला पहलू उद्भूत हुआ था वह थी यह अनुभूति कि उपनिवेशवादी अतिक्रमण से प्रतिफलित नई परिस्थिति का मुकाबला करने की दृष्टि से पारंपरिक संस्थाएं अपर्याप्त हैं। चीन, जापान तथा पश्चिम एशियाई देशों में बौद्धिक बहस ने इस अनुभूति को स्वर दिया, और अनकहे तौर पर (प्रारंभिक चरण मे) भारतीय बौद्धिक विभूतियों के दृष्टिकोण ने भी यही काम किया। चीन और जापान जैसे देशों में देशी संस्थाओं में नवजीवन का संचार करने का प्रश्न औपनिवेशिक आघात के आरंभ से ही उनके राजनीतिक प्रारब्ध से जुड़ा हुआ था, परंतु भारत में इस संबंध के बोध में परिपक्वता बहुत धीरे-धीरे आई। तथापि नवजीवन का संचार करने के आंदोलनों से जो सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न हुई वह विकासमान प्रतिष्ठित चेतना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं थी, क्योंकि इस चेतना में उपनिवेशवादी प्रभुत्व से उत्पन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संकट का भी समावेश था।

यूरोपीय चिंतन और ज्ञान औपनिवेशिक भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को स्वीकृति और प्रगति की कल्पना के निर्णायक कारक थे, यह मान्यता विचारों के

इतिहास से संबंधित मौजूदा साहित्य के अधिकतर भाग की एक सामान्य विशेषता है। उस चिंतन और ज्ञान को सांस्कृतीकरण करने वाले तत्वों के रूप में देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस सांस्कृतीकरण का उदय भारत को देशी संस्कृतियों या उपसंस्कृतियों के साथ औद्योगिक यूरोप की संस्कृति के संपर्क के फलस्वरूप हुआ, और इसका परिणाम सांस्कृतिक संयोजन तथा रचनात्मक सम्मिश्रण के रूप में सामने आया। इस मान्यता से ग्रहण किए गए विश्लेषणात्मक ढांचों में इस तथ्य के प्रति संवेदनशीलता नहीं दिखाई देती कि दोनों की शक्ति का अंतर सांस्कृतिक-बौद्धिक समायोजन के मार्ग में एक बड़ी बाधा था।[4] इसी प्रकार इसमें इस बात के संबंध में भी कोई सजगता दिखाई नहीं देती कि उपनिवेशवाद के माध्यम से यहां के समाज में प्रविष्ट हो जाने के बाद पाश्चात्य विचार यहां वही प्रगतिशील कार्य नहीं करते थे जो वे अपने उद्‌भव के देशों में करते थे। जे.एन. फर्कुहार, आर.सी. मजुमदार और चार्ल्स हेम्सेथ की दृष्टि में अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी प्रभाव सामाजिक-सांस्कृतिक तथा बौद्धिक पुनरुज्जीवन को संभव बनाने वाले प्रमुख कारक थे। सलाउद्दीन अहमद तथा डेविड कॉफ की निगाह में ब्रिटेन की संस्थाओं ने इस पुनरुज्जीवन को आवश्यक गति दी। फर्कुहार ने लिखा, 'प्रेरणादायी शक्तियां लगभग निरपवाद रूप से पश्चिमी हैं, जैसे अंग्रेजी सरकार, अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य, ईसाइयत, प्राच्यवादी अनुसंधान, यूरोपीय विज्ञान और दर्शन, और पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक तत्व'।[5] चार्ल्स हैम्सेथ ने तो भारतीयों के विचारों का ही नहीं बल्कि उनके द्वारा अपनाए गए संगठन का भी श्रेय पाश्चात्य प्रेरणा को दिया।[6] डेविड कॉफ ने यह साबित करने की कोशिश की कि फोर्ट विलियम कालेज ने, जिसकी स्थापना ब्रिटिश अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए की गई थी, किस प्रकार उन्नीसवीं सदी में बंगाल में 'सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक परिवर्तन लाने में' निर्णायक भूमिका निभाई। उनकी दृष्टि में बंगाल का नवजागरण 'ब्रिटिश अधिकारियों और मिशनरियों के साथ हिंदू बुद्धिजीवी वर्ग के संपर्क का परिणाम' था।[7] इस प्रकार बौद्धिक और सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का मूल सीधे औपनिवेशिक शासन के माध्यम से भारतीय मानस पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों में निहित बता दिया जाता है। उन्नीसवीं सदी के भारत पर लिखे गए जिन इतिहास-ग्रंथों में सामाजिक सुधार, नए विचारों के उद्‌भव और राष्ट्रवाद के उदय पर विचार किया गया है उनमें से अधिकांश में यही गढ़ा-गढ़ाया स्पष्टीकरण दिया गया है।

इस संदर्भ में निर्णायक महत्व था, पाश्चात्य संसार की छवि और भारतीय मानस के लिए पाश्चात्य संसार के अर्थ का और ये दोनों चीजें 'पाश्चात्य प्रभाव' और 'पश्चिमी असर' जैसे सामान्य तथा वर्णनात्मक मुहावरों से भिन्न थीं। भारतीय बौद्धिक हस्तियां यूरोपीय बुद्धिवादी और मानवतावादी चिंतन, वैज्ञानिक ज्ञान, आर्थिक विकास और राजनीतिक संस्थाओं को पश्चिम की प्रगतिशील विशेषताओं के रूप में देखती थीं। वे

लोग पश्चिमी समाज की इन प्रगतिशील विशेषताओ को सराहना तथा अनुमोदन की दृष्टि से देखते थे और उनकी तुलना भारत की स्थितियो से करते थे, परतु जिन सामाजिक तथा बौद्धिक शक्तियों ने इन प्रगतियों को संभव बनाया था उनके प्रति उनका भाव सराहना का नहीं था। दूसरे शब्दों मे, उनकी दिलचस्पी पश्चिम की उस चीज में थी जो वस्तुगत दृष्टि से श्रेष्ठ और प्रगतिशील थी, परंतु जिस चीज ने इस वस्तुगत स्थिति को जन्म दिया था उसमें उनको कोई रुचि नहीं थी। इसलिए कम से कम आरंभ में बौद्धिक प्रयत्न वस्तुगत दृष्टि से इन श्रेष्ठ और प्रगतिशील विशेषताओ को अपनाने और दोहराने का था : तत्कालीन देशी सास्कृतिक तथा बौद्धिक परपराओं के संदर्भ मे उनके समाहार की संभावना को परखने का कोई प्रयास नहीं किया गया। जन-संस्कृति से विमुख और पारपरिक बौद्धिक परिवेश से सर्वथा बाहर खडा अग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्य वर्ग इस प्रयत्न का सामाजिक आधार था, इस कारण से यह प्रयास और भी सीमित हो गया। इसके अतिरिक्त चूकि पश्चिम की वस्तुगत विशेषताओं का उन ऐतिहासिक शक्तियों से कोई सबध नहीं था जिनकी वे उपज थीं इसलिए पश्चिम की प्रगति और उपलब्धि के प्रतिनिधि के रूप में औपनिवेशिक सत्ता ने भारतीयों के लिए विचारधारात्मक आयाम ग्रहण कर लिए। जो चीज पश्चिम के लिए एक वस्तुगत स्थिति थी वही उपनिवेशवाद के सदर्भ में एक छाया, एक विचारधारा बन गई। इस उलटी क्रिया ने भारतीय समाज के सामने *उपस्थित समस्याओं का सामना करने के लिए किसी देशी चिंतन-पद्धति के उद्‌भूत* होने की सभावना का रास्ता रोक दिया। कलकत्ता मे टाम पेन के लिए आपाधापी, मिल, स्पेंसर और लॉक के प्रति बौद्धिक जनों की मोहाधता, यूरोपीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओ के प्रति सराहना के भाव, पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण से लेकर भारतीय सविधान के रूपाकार देने तक जो अनेक उदाहरण सामने आते हैं वे इस यथार्थ के सूचक हैं। उन्नीसवीं सदी के भारतीय किस प्रकार इस बौद्धिक स्थिति तक पहुचे, इस बात को उपनिवेशवादी विचारधारा की भूमिका के अध्ययन के द्वारा ही समझा जा सकता है।

औपनिवेशिक परिस्थिति में सहज रूप से समाहित असुविधाओ को भोगते भारतीय मानस के लिए वस्तुगत दृष्टि से उन्नत पाश्चात्य ज्ञान, राजनीतिक विचारों और सामाजिक चिंतन के क्या फलितार्थ थे ? असमान राजनीतिक सबध और ऐसे सबंध से स्वाभाविक रूप से जुड़े आर्थिक शोषण तथा गतिशून्यता की स्थिति कोई ऐसा आदर्श सयोग प्रस्तुत नहीं करती जिसमे स्थायी किस्म का रचनात्मक बौद्धिक समायोजन सभव हो। पारपरिक इतिहासलेखन मे, जो मुख्य रूप से 'प्रभाव-प्रतिक्रिया' प्रवृत्ति से ग्रस्त है—चाहे उसमे जोर पाश्चात्य प्रभाव पर दिया गया हो या भारतीय प्रतिक्रिया पर—इस प्रश्न के प्रति कोई सवेदनशीलता नहीं है। उसमें मात्र उपनिवेशवाद के उन सिद्धातकारों द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण किया गया है जिनकी दृष्टि में ब्रिटेन की भूमिका लोगों को सभ्य

बनाने की थी। इस प्रवृत्ति के त्याग की दिशा में पहला आवश्यक कदम यह है कि पाश्चात्य विचारों के अपने उद्गम स्थान में जो कार्य थे और उन्होंने उपनिवेशों में जिस ढंग से काम किया उन दोनों में सहज समाहित अंतर को समझा जाए। इन विचारों के मूल देशों की सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप के अंतर को समझना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इन अंतरों के रहते उपनिवेशवादी सिद्धांतकारों द्वारा अपने गृह-देश में समर्थित उदारवादी सिद्धांतों तथा संस्थाओं की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका में उस हालत में संगति नहीं हो सकती जब उसे उपनिवेशों पर थोप दिया जाए। इसके दो विशिष्ट परिणाम होंगे : कार्यात्मक विकृति और कार्यात्मक अक्षमता। औपनिवेशिक समाजों में प्राच्यवाद और उपयोगितावाद की भूमिका कार्यात्मक विकृति का उदाहरण है। भारतीय बौद्धिक जनों ने आधुनिकीकरण का जो प्रयत्न किया और जो उनकी ऐतिहासिक परिस्थिति में सहज समाहित कमजोरियों से ग्रस्त था वह कार्यात्मक अक्षमता का दृष्टांत है। इन परिणामों के कुछ पहलुओं की ओर सबसे पहले आधुनिक भारतीय संस्कृति के अपने सारगर्भित अध्ययन[8] में डी.पी. मुखर्जी ने ध्यान दिलाया। कुछ साल बाद बंगाल नवजागरण पर सुशोभन सरकार के पथ-प्रदर्शक निबंधों में बंगाल की जागृति में पश्चिम की भूमिका को स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि 'यह निश्चित था कि अधीनस्थ जनसमाजों के पुनरुत्थान में विदेशी विजय और प्रभुत्व सहायता देने से अधिक बाधा ही उत्पन्न करेगा।'[9] साम्राज्यवाद ने 'पश्चिम के आलोचनात्मक विचारों के विरुद्ध भारतीय मानस में एक दीवार खड़ी कर दी, क्योंकि ये विचार उन स्रोतों से आते थे जिन्होंने भारत को दबाकर रखा था', इस बात की ओर ध्यान दिलाकर ए.के. भट्टाचार्य ने एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम को उद्घाटित किया।[10] मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा अपेक्षाकृत हाल में इस क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों में बौद्धिक परिघटनाओं को उपनिवेशवाद द्वारा उत्पन्न सीमाओं और अंतर्विरोधों के संदर्भ में रखकर उन पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है।[11] विद्यासागर के जीवन और कृतित्व का अशोक सेन ने जो अध्ययन किया है उसमें इस संदर्भ के परिणामों को सराहनीय रीति से उजागर किया गया है :

> औपनिवेशिक शासन के अधीन आधुनिकीकरण की संभावनाओं के विषय में विद्यासागर उन भ्रमों के शिकार थे जो इतिहास के उस दौर की विशेषता थे। जिस प्रक्रिया ने उनकी मेधा को एक प्रबल सामाजिक प्रतिबद्धता प्रदान की उसी ने सामाजिक आचरण के मामले में उन पर गंभीर मर्यादाएं थोप दीं। साम्राज्यवाद की आर्थिक दिशाओं में ऐसी मर्यादाएं सहज समाहित थीं। यहीं पर औपनिवेशिक परिस्थिति ने हमारे प्रथम 'आधुनिकों' के बीच एक महान विभूति ईश्वरचंद्र विद्यासागर को, उनकी आत्मविकास की सामाजिक आकांक्षा को एक गंभीर असंगति बनाकर रख दिया।[12]

मार्क्सवादी इतिहासलेखन में मुख्य रूप से यह दरशाने का प्रयत्न किया गया है कि उन्नीसवीं सदी के भारत में राजनीतिक-आर्थिक सरचनाओं ने किस प्रकार बौद्धिक परिघटनाओं को आवेष्ठित कर रखा था। हालांकि कहीं-कहीं उसमें बहुत खींचतान की गई है और नियतवाद (डिटरमिनिज्म) का सहारा लिया गया है फिर भी उसमें बौद्धिक प्रयास के प्रतिमानों को अवश्य परिभाषित किया गया है, और इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया है कि उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों को अपने सामाजिक-आर्थिक प्रयत्नों में क्यों अवश्यंभावी पराजय और त्रासदी का सामना करना पड़ा। हालांकि यह पूर्ववर्ती उपनिवेशवादी और उदारवादी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और मान्यताओं के स्पष्ट त्याग का सूचक था लेकिन इसमें इस बात को परिभाषित नहीं किया गया है कि जिन बौद्धिक बोधों और स्थितियों तक पहुचा गया उन तक कैसे पहुंचा गया। इस चीज को तभी देखा जा सकता है जब विश्लेषणात्मक केंद्र बिंदु ऐतिहासिक संदर्भ-विशेष की ओर निर्दिष्ट हो। संदर्भ अपने-आप में वास्तविक स्थिति-विशेष का स्पष्टीकरण नहीं करता, वह सिर्फ उसके सामान्य स्वरूप को परिभाषित करता है। हालांकि संदर्भ पर जोर देना महत्वपूर्ण है लेकिन उसमें भेदों को धुंधला करने की प्रवृत्ति है।

रचनात्मक प्रभाव

बौद्धिक इतिहास का एकमात्र सरोकार केवल बौद्धिक जनों द्वारा अभिव्यक्त किए गए विचार ही नहीं हैं। उसमें सभी सामाजिक वर्गों के सदस्यों की मनोदशाओं, विश्वासों, मूल्यों और विचारों का समावेश होता है। उदाहरण के लिए, समाज में अपनी स्थिति के संबध में किसी किसान या औद्योगिक श्रमिक की समझ और साथ ही आद्य विश्वासों को तर्कसंगत रूप देना या विचारधारा-विशेष का संप्रेषण उसकी चेतना की सृष्टि में एवं अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करने की उसकी सामर्थ्य में किस प्रकार योगदान करते हैं, ये बातें भी बौद्धिक इतिहास के क्षेत्र में आती हैं। लेकिन समाज में अपेक्षाकृत स्थायी और प्रभावकारी विचारों के उद्‌भावकों, पुनरोद्‌भावकों तथा प्रचारकों पर अब तक जो जोर दिया जाता रहा है, उसके महत्त्व को ये चीजें कम नहीं करतीं। इसके अलावा, छानबीन का विषय बन जाने भर से ये बातें पद्धतिशास्त्रीय प्रगति मे कोई योग नहीं देतीं और न इनसे ऐतिहासिक प्रक्रिया को अधिक पूर्णता के साथ समझने में कोई सहायता मिलती है। इसलिए, हालांकि किसी समाज का बौद्धिक इतिहास केवल उसके बौद्धिक जनों का इतिहास नहीं है फिर भी उनकी वर्चस्वी भूमिका को देखते हुए उनकी सामाजिक तथा बौद्धिक बनावट, उनके सामाजिक-राजनीतिक कार्य तथा उनके विचारों की छानबीन बेशक बौद्धिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग है।

औपनिवेशिक भारत मे बौद्धिक जन कौन थे? सामाजिक तथा बौद्धिक दृष्टियों से उनका अस्तित्व किस प्रकार कायम हुआ, और सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति-

विशेष में उन्होंने कौन सा कार्य संपादित किया? विचारों के उद्भावकों तथा प्रचारकों और साथ ही प्रारंभिक सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं का वर्णन करने में कई वर्गीकरणों का सहारा लिया गया है : समाज-सुधारक, सीमांत लोग, सांस्कृतिक दलाल, पश्चिमीकरणकर्ता और पाश्चात्य-पिछलग्गू (कंप्राडोर) इसके कुछ उदाहरण हैं। ये सभी वर्गीकरण समाज में उनकी भूमिका की या तो आंशिक या ग़लत समझ पर आधारित हैं। वे मूलत: लोक-विरोधी, तत्कालीन सामाजिक स्थितियों के आलोचक और सामाजिक-राजनीतिक प्रगति और उन्नति संपादित करने के उद्देश्य से विचारों को जन्म देने या उन्हें अपनाने तथा उनका प्रचार करने का सामाजिक कार्य करने वाले लोग थे। उनमें मात्र मुट्ठी भर कार्यकर्ता ही शामिल नहीं थे बल्कि बड़ी संख्या में अपेक्षाकृत कम जाने-माने ऐसे लोग भी शरीक थे जो विचारों के पल्लवन और प्रचार के काम में लगे हुए थे। जो चीज उन्हें आम बौद्धिक कार्यकर्ताओं से अलग करती थी वह उनके द्वारा संपादित किया जाने वाला विशिष्ट सामाजिक कार्य था, जिसका वर्णन ग्राम्शी ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :

117967

> बौद्धिक जनों का एक नया वर्ग तैयार करने की समस्या का मतलब है प्रत्येक व्यक्ति में किसी न किसी हद तक पहले से ही विद्यमान बौद्धिक प्रवृत्ति का आलोचनात्मक दृष्टि से परिष्कार करना, एक नए संतुलन की दिशा में शारीरिक-मानसिक प्रयत्न के साथ उसके संबंधों को संशोधित करना और यह सुनिश्चित करना कि जिस हद तक वह शारीरिक-मानसिक प्रयत्न, जो हमेशा एक नए भौतिक और सामाजिक संसार की तलाश में रहता है, सामान्य व्यावहारिक कार्रवाई का एक तत्व है उस हद तक वह स्वयं ही विश्व की एक नई और एकीकृत अवधारणा का आधार बन जाए।[13]

बौद्धिक जनों की पहचान एक अलग सामाजिक वर्ग के रूप में करने में उनका विशिष्ट सामाजिक कार्य, जिसे ग्राम्शी एक नए संतुलन की सृष्टि और भौतिक तथा सामाजिक संसार की हमेशा चलने वाली तलाश कहते हैं, बौद्धिक विकास पर प्रणीत अधिकांश कृतियों का मुख्य सरोकार रहा है।[14] रिचर्ड पाइप्स द्वारा 'सांस्कृतिक वस्तुवादी' और 'दार्शनिक' व्यक्तिवादी बुद्धिजीवी वर्ग के बीच किया गया भेद,[15] थियोडोर गीजर और बोरिस एल्किन द्वारा शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्गों के बीच निर्दिष्ट अंतर, बुद्धिजीवियों से बौद्धिक जनों का भेद बताने के लिए मिलनीकोव द्वारा प्रयुक्त समकेंद्री वृत्तों की अवधारणा,[16] और बौद्धिक जनों की परिभाषा के आधार के रूप में 'सांस्कृतिक दृष्टि से वैधीकृत पेशे, सामाजिक-राजनीतिक भूमिका और सार्वजनीन तत्वों से संबंधित चेतना' की बात करना[17] इसके कुछ उदाहरण हैं।

ऊपर निर्दिष्ट भेदों से कई सवाल खड़े होते हैं, जिनमें हमारे प्रयोजन के लिए

सबसे अधिक महत्वपूर्ण ये हैं : कौन-सी चीज 'आलोचनात्मक दृष्टि से बौद्धिक प्रवृत्ति के परिष्कार' को संभव बनाती है, जिससे एक विशिष्ट सामाजिक कार्य के लिए प्रतिबद्धता की स्थिति उत्पन्न होती है, और विचारधारात्मक एवं सांस्कृतिक प्रणालियों तथा सामाजिक सरचनाओं का स्वरूप और दिशा सज्ञानात्मक क्षमता को किस हद तक प्रभावित करती है ? पहले प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न में रचनात्मक शैक्षिक प्रभावों को आम तौर पर निर्णायक कारण माना गया है, और सामाजिक अनुभव की भूमिका को अर्थात इस बात को लगभग कोई स्थान नहीं दिया गया है कि बौद्धिक जनों की सरचना और चेतना के विकास में सामाजिक कारक किस प्रकार अपनी भूमिका निभाते हैं। इस तरह जोर देने का एक कारण बौद्धिक इतिहास के लेखक को उन कारकों की पहचान करने की फिक्र है जो सज्ञानात्मक क्षमता के निर्माण में योगदान करते हैं। रूस के सबंध में लिखते हुए रिचर्ड पाइप्स, चीन पर लिखते हुए जोसेफ लेविंसन और भारत पर विचार करते हुए एडवर्ड शिल्स इस परिप्रेक्ष्य के प्रतिनिधियों के रूप में सामने आते हैं। भारत में सामाजिक सुधार और राष्ट्रवाद के उदय पर लिखे गए अधिकतर साहित्य में यही दृष्टिकोण दिखाई देता है। उन्नीसवीं सदी में सुधार और पुनरोदय पर लिखते हुए चार्ल्स हेमसैथ, डेविड कॉफ तथा आर सी मजुमदार और राष्ट्रवादी आदोलन पर लिखते हुए डेविड मैकक्युली, अनिल सील और ताराचंद इसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एस डी. कोलेट कृत *राममोहन राय की जीवनी,* मेरेडिथ बार्थविक की लिखी *केशवचंद्र सेन की जीवनी* तथा जे टी.एफ जोर्डन्स रचित *दयानंद सरस्वती की जीवनी* इसी कोटि में आती हैं। यह दृष्टिकोण उपनिवेशवादी, उदारवादी और राष्ट्रवादी इतिहासकारों तक ही सीमित नहीं है, अधिकतर मार्क्सवादी इतिहासकार भी इसी मार्ग का अनुसरण करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण एक ऐसे पद्धतिशास्त्र की रचना में बाधक रहा है जो बौद्धिक इतिहास को ज्ञान के समाजशास्त्र के करीब ले जाता है।

इस दृष्टिकोण मे एक सहज समाहित मान्यता यह है कि आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा यथार्थ की स्वीकृति के विकास में पाश्चात्य ज्ञान और दार्शनिक विचारों का मूलभूत महत्व था। क्या औपनिवेशिक भारत के विषय में यह मान्यता सही है ? यदि हम रचनात्मक शैक्षिक प्रभावों की दृष्टि से देखे तो भारतीय बौद्धिक जनों में दो मोटे वर्ग सामने आते हैं . एक पारंपरिक ज्ञान के द्वारा सपोषित हुआ और दूसरा पाश्चात्य तथा पारंपरिक ज्ञान के सयोग द्वारा। राधाकात देव, दयानंद सरस्वती तथा नारायण गुरु प्रथम वर्ग के थे, राममोहन राय, विवेकानद, बाल गगाधर तिलक और जवाहरलाल नेहरू दूसरे के।

उन्नीसवीं सदी के अनेक बौद्धिक जनों के सबंध में उपलब्ध जीवनीगत सूचना इतनी पूर्ण नहीं है कि उनके आधार पर उनका सही-सही बौद्धिक मूल्याकन किया जा सके। इसलिए उनकी चेतना में आए गुणात्मक परिवर्तन और उसके फलस्वरूप सामाजिक

समस्याओं के प्रति उनकी संवेदना में आए परिवर्तन अस्पष्ट और अनबूझ रह जाते हैं। यहां तक कि कई मामलों में प्राथमिक जीवनीगत रूपरेखाएं भी उपलब्ध नहीं हैं और जिन मामलों में हैं उनमें भी बहुत से क्षेत्र धूमिल हैं। उदाहरण के लिए, 1815 से पहले की अवधि में राममोहन पर पड़ने वाले बौद्धिक प्रभावों तथा उनके सामाजिक अनुभव का सही-सही वृत्तांत लिखा जाना आज भी शेष है; जिस कारण से दयानंद वैदिक विद्वान से समाज सुधारक बन गए वह हमें मालूम नहीं है; जिस चीज को रानाडे पसंद नहीं करते थे उसे स्वीकार करने के लिए उन्होंने अपने मन को कैसे मना लिया, यह उनकी पत्नी के ज्ञानवर्धक संस्मरणों के बावजूद पूरे तौर पर स्पष्ट नहीं है। ये चंद उदाहरण भर हैं; इसी तरह के अंतराल लगभग हर मामले में मौजूद हैं।

इन सीमाओं के बावजूद, राममोहन और दयानंद के बौद्धिक विकास का संदर्भ लेते हुए रचनात्मक प्रभावों के बारे में सामान्य ढंग की कुछ मोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं। राममोहन का जन्म शायद 1772 में एक श्रद्धालु वैष्णव परिवार में हुआ था, लेकिन उन पर यदि कोई वैष्णव प्रभाव पड़ा तो वह नकारात्मक ही था।[18] राममोहन के जीवन के 1772 से 1776 के दौर के बारे में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है। उनकी एक सबसे प्रारंभिक जीवनीकार सोफिया डाबसन इस दौर के बारे में कोई जानकारी नहीं देतीं और उनके बाद के जीवनीकार भी उनसे बहुत आगे नहीं जा पाए हैं। हालांकि यह काफी हद तक निश्चित है कि 1800 तक राममोहन ने इसलामी धर्मतत्व का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, विशेष रूप से मुतजल्लों के बुद्धिवादी संप्रदाय तथा हिंदू धर्मग्रंथों का।[19] पटना में किसी मदरसे से उनका कोई संबंध था या नहीं और अगर था तो उस मदरसे का पाठ्यक्रम क्या था, यह हमें मालूम नहीं है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनके जीवन के आरंभिक दौर में उन पर सबसे अधिक प्रभाव इसलामी धर्मतत्व का था। यह बात हमें उनकी प्रथम उपलब्ध कृति *तुहफात-ए-मुवाहिद्दीन* से स्पष्ट है, जिसकी रचना उन्होंने 1800 में की थी।[20] इस प्रभाव के स्रोत के संबंध में कोई खास जानकारी न होने से इसलामी परंपरा के उनके ज्ञान के संदर्भ में *तुहफात* का पाठगत विश्लेषण उपयोगी होगा। जिस प्रकार से उन्हें हिंदू दर्शन और धर्मग्रंथों का ज्ञान प्राप्त हुआ वह भी उतना ही अज्ञात है। एक राय यह है कि उन्हें हिंदू दर्शन का ज्ञान हरिहरानंद तीर्थस्वामी नामक रंगपुर निवासी एक तांत्रिक से प्राप्त हुआ था। इस बात की छानबीन करना दिलचस्प होगा कि उनकी वाराणसी-यात्रा के पीछे शास्त्रों का अधिक प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त करने की उनकी इच्छा की प्रेरणा थी या नहीं, और अगर थी तो जिन पंडितों के संपर्क में वे आए उनसे संबंधित जानकारी से उनके बौद्धिक विकास की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ने में सहायता मिलेगी—विशेष रूप से इसलिए कि *तुहफात* के पीछे लगभग पूर्ण रूप से इसलाम की प्रेरणा है और वह इस प्रकार के हिंदू प्रभाव से मुक्त है। बहरहाल, यह निश्चित है कि राममोहन पर पहला प्रभाव हिंदू तथा मुसलिम

दोनों तरह की भारतीय परंपरा का पड़ा, और यूरोपीय भाषा, चिंतन तथा दर्शन से उनका संपर्क बाद में हुआ।[21] इस प्रकार, पारंपरिक भारतीय ज्ञान राममोहन के बौद्धिक संसार की रचना में एक निर्णायक कारक था, और जिस प्राच्य-पाश्चात्य समन्वय के लिए आम तौर पर उनकी प्रशंसा की जाती है उसके लिए देश की मिट्टी में पैर जमाए रहकर उन्होंने प्रयत्न किया। विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक और जवाहरलाल नेहरू जैसे कई अन्य बौद्धिक जन, लगता है, इससे उलटी बौद्धिक प्रक्रिया से गुजरे; आरंभ में उनका *संपर्क पाश्चात्य ज्ञान तथा दर्शन से हुआ और बाद में वे स्वदेशी स्रोतों की ओर लौटे।*[22] आरंभ में यूरोपीय दर्शन से अनुप्रेरित होने के बाद विवेकानंद ने रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिकता में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य राजनीतिक आचार-व्यवहार के अपने ज्ञान के बावजूद बाल गंगाधर तिलक ने अपनी मार्ग-दर्शिका *गीता* को बनाया। हैरो और कैंब्रिज के प्रशिक्षण के फलस्वरूप पूर्वी और पश्चिमी दोनों दुनियाओं में एक हद तक अनुपयुक्त बन गए जवाहरलाल नेहरू को खुद अपनी खोज करने के लिए भारत की खोज करनी पड़ी। इन दृष्टांतों से किसी बौद्धिक व्यक्ति की बनावट और अपने सामाजिक-राजनीतिक दायित्व के निर्वाह की उसकी क्षमता में देशी परंपरा का महत्व प्रबल रूप से उदाहृत होता है। सच तो यह है कि जो लोग अपनी परंपरा से अपना संबंध स्थापित नहीं कर पाए वे ऐसे बौद्धिक धरातल तक नहीं पहुंच पाए कि वे सामाजिक तथा राजनीतिक नेतृत्व संभाल सकते : वे सिर्फ मध्यवर्गीय मूल्यों का परिष्कार करने के काम में ही लग सकते थे। भारत में अंग्रेजी शिक्षा में सहज समाहित अन्तर्विरोधों में से सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के उदय का स्पष्टीकरण करने वाले अधिकांश साहित्य में इस पहलू की उपेक्षा कर दी गई लगती है।

इसके विपरीत, राधाकांत देव और नारायण गुरु की तरह दयानंद सरस्वती लगभग पूर्ण रूप से भारतीय बौद्धिक परंपरा की उपज थे। काठियावाड़ के एक शैव परिवार में उत्पन्न उस अकाल-परिपक्व बालक मूलशंकर को सुधारक दयानंद बनने के पूर्व शिक्षा के नाम पर जो कुछ प्राप्त हुआ था वह था वेदांत, संस्कृत व्याकरण, तंत्रवाद और योग का ज्ञान एवं विस्तृत यात्राओं द्वारा प्राप्त देश की सामाजिक अवस्थाओं का व्यावहारिक अनुभव। उन्हें यूरोपीय चिंतन और दर्शन का कोई ज्ञान नहीं था और न उन्होंने अपने कई समकालीनों की तरह उसे प्राप्त करने का कोई प्रयत्न किया। इस बौद्धिक बनावट का उनकी संज्ञानात्मक क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि लगता है, उलटे इससे उन्हें यह सामर्थ्य प्राप्त हुई कि अपने प्रयोगों द्वारा वे उन स्रोतों को कसौटी पर कसें जिनसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था।[23] उससे उन्हें सामाजिक समस्याओं का सामना करने के लिए आवश्यक बौद्धिक ऊर्जा भी प्राप्त हुई।

राममोहन की ही तरह दयानंद की भी जीवनी की शृंखला की बहुत सी कड़ियां टूटी हुई हैं। 1860 से लेकर 1863 तक जो तीन साल उन्होंने मथुरा में स्वामी विरजानंद

के मार्गदर्शन में बिताए और जो अगले चार साल देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते बिताए वे उनके बौद्धिक विकास तथा उनके सामाजिक सपने के स्वरूप ग्रहण करने की दृष्टि से निर्णायक महत्व के प्रतीत होते हैं। मोक्ष का अनुसंधान करते एक संन्यासी के रूप में वे मथुरा पहुंचे थे, परंतु इन सात वर्षों के अंत में वे एक ऐसे सुधारक के रूप में सामने आए जो तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार से अत्यधिक क्षुब्ध था। जिस प्रक्रिया से उनका यह कालाकल्प हुआ वह उनकी असंख्य जीवनियों में से किसी में भी छानबीन का विषय नहीं रही है। इसका एकमात्र अपवाद उनकी अद्यतन जीवनी है, जिसके लेखक जे.टी.एफ. जोर्डन्स हैं। जोर्डन्स की राय में हिंदू धर्म के पुनरुद्धार से विरजानंद का जुड़ाव, अपने शिष्य को ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रंथों तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए दी गई सलाह तथा अपने मथुरा प्रवास के दौरान दयानंद ने वहां हिंदू धर्म का जो रूप देखा उस पर उनकी प्रतिक्रिया, ये सब इस कायाकल्प के संभावित कारण हो सकते हैं।[24] देश के विभिन्न भागों का भ्रमण करते हुए दयानंद द्वारा प्राप्त सामाजिक अनुभव का इस कायाकल्प में कितना योगदान था, इस बात की छानबीन करना लाभकारी होगा।

यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि हालांकि इन दो समूहों के सदस्यों पर पड़ने वाले शैक्षिक प्रभावों में अंतर था लेकिन उनके यथार्थ बोध तथा सामाजिक रूपांतरण के सपने में अद्भुत समानता दिखाई देती है। सामाजिक तथा राजनीतिक आचार-व्यवहारों के बीच के संबंध को उनकी समझ, अंग्रेजी राज के दैवी इच्छा का परिणाम होने के संबंध में उनके बोध तथा बहुदेववाद, जाति और मूर्तिपूजा के प्रति उनके दृष्टिकोण में यह समानता काफी स्पष्ट है। सच तो यह है कि उन पर पड़ने वाले रचनात्मक प्रभावों तथा विभिन्न सामाजिक प्रश्नों के विषय में उनकी विशिष्ट स्थिति के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। इसलिए उन पर पड़ने वाले पारंपरिक, पाश्चात्य तथा मिश्रित बौद्धिक प्रभावों के आधार पर मौजूदा इतिहासलेखन में सामान्यतः प्रयुक्त क्रमशः 'रूढ़िवादी', 'आमूल परिवर्तनवादी' और 'सुधारवादी' विशेषणों का औचित्य संदिग्ध है। जिस प्रकार पाश्चात्य प्रभाव सहज ही किसी को 'प्रगतिशील' सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना की ओर नहीं ले जाते थे उसी प्रकार पारंपरिक प्रभावों का परिणाम हमेशा रूढ़िवादी दृष्टिकोण ही नहीं होते थे। वास्तविकता यह है कि जिनकी जड़ें पारंपरिक ज्ञान और संस्कृति में जमी हुई थीं उनमें से कुछ लोग कई सामाजिक प्रश्नों पर अपने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त समकालीनों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील विचार रखते थे। स्त्री-शिक्षा के प्रति राधाकांत देव का दृष्टिकोण तथा जाति के प्रति नारायण गुरु का रवैया इसके उदाहरण हैं। इस विषय की छानबीन दिलचस्प होगी कि क्या पारंपरिक बौद्धिक परिवेश में ऐसे विचारों को उत्तेजन देने की संभावना थी जो पाश्चात्य समाजों में पहले ही उदित हो चुके थे। जिन स्रोतों से अक्षयकुमार दत्त और वीरेशलिंगम ने

समाज के एक सजीव सत्ता (आरगेनिक) होने का विचार ग्रहण किया तथा जिन स्रोतों से प्रेरणा लेकर राममोहन तथा नारायण गुरु ने धार्मिक सार्वजनीनता के विचार का विकास किया उनसे इस संबंध में गौर करने लायक संकेत मिलते हैं।

राममोहन तथा दयानंद के बौद्धिक विकास की इस छानबीन से लगता है कि रचनात्मक शैक्षिक प्रभाव महत्वपूर्ण तो था, लेकिन वह उन्नीसवीं सदी में भारतीय बौद्धिक जनों की संरचना को निर्धारित करने वाला अकेला प्रभाव नहीं था। उससे यह भी प्रतीत होता है कि रचनात्मक शैक्षिक प्रभावों के स्वरूप में अंतर होने से सामाजिक प्रक्रिया में समान कार्रवाई करने का मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ। इससे उलटा हम यह भी कह सकते हैं कि बौद्धिक प्रभावों की समानता का परिणाम समान संज्ञानात्मक क्षमता या सामाजिक कार्रवाई के रूप में सामने नहीं आता था। ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक पूर्व शर्त है लेकिन यह अपने आप में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उससे जो होता है वह सिर्फ यह कि सामाजिक अनुभव को, जो बौद्धिक जनों की संरचना में निर्णायक भूमिका निभाता है, आत्मसात करने की क्षमता की सृष्टि होती है। ज्ञात ज्ञानशास्त्रीय (एपिस्टेमोलाजिकल) घटकों के संयोजन या गुणात्मक दृष्टि से नए विचारों की अभिव्यक्ति का सामाजिक महत्व हो ही, ऐसा जरूरी नहीं है। उन विचारों का कोई सामाजिक महत्व तभी होता है जब वे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक हितों से या उनके विरोध से कम से कम संभावित रूप से जुड़ जाते हैं। ऐसा संबंध स्थापित करने की योग्यता किसी बौद्धिक व्यक्ति की संरचना में एक निर्णायक घटक होती है। बंगाल में राममोहन, पंजाब में दयानंद, आंध्र में वीरेशलिंगम और त्रावणकोर में नारायण गुरु की भूमिका की मुख्य विशेषता यह थी कि उनके विचार कतिपय तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों से बाहर निकलने के लिए प्रयत्नशील नए वर्गों की सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप थे। हालांकि उन वर्गों की गतिकी ने उनकी सामाजिक-राजनीतिक कार्रवाई के प्रतिमान निर्धारित कर दिए और अकादमिक से बौद्धिक स्थिति की ओर उनके संक्रमण में अपनी भूमिका भी निभाई लेकिन उसने उनकी सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि को उन वर्गों के हितों की हदों में बांध नहीं दिया। इसके बजाए, उनके प्रयत्न एक ऐसी चेतना विकसित करने की ओर अभिमुख थे जो एक खास ऐतिहासिक मुकाम पर प्रगतिशील थी। उन्नीसवीं सदी के भारत के बौद्धिक जनों की भूमिका तथा चरित्र और साथ ही उनकी 'सजीवता' को इसी संदर्भ में रखकर देखना है। उन्हें विदेशियों के सहयोगियों या लगभग सहयोगियों और वर्ग-विशेष अथवा जाति-विशेष के प्रतिनिधियों के रूप में पेश करने की प्रवृत्ति का मतलब सबसे महत्वपूर्ण मुद्दे की ओर से आंखें बंद कर लेना है। जो बात कार्ल मार्क्स ने रिकार्डो के बारे में कही थी वह यहां भी संगत है :

रिकार्डो की अवधारणा कुल मिलाकर *औद्योगिक बुर्जुआ* के हक में है, सो केवल

इसलिए और उसी हद तक जिस हद तक उनके हित उत्पादन के या मानव श्रम के उत्पादक विकास के हितों से मेल खाते हैं। जहां बुर्जुआ का इससे टकराव होता है वहां वह (रिकार्डो) उसके प्रति भी उतना ही निर्मम हो जाता है जितना कि अन्य अवसरों पर सर्वहारा या अभिजात वर्ग के प्रति है।[25]

औपनिवेशिक यथार्थ का बोध

समाज में चेतना के विकास को समझने के लिए यथार्थबोध के स्वरूप का अध्ययन आवश्यक है। उन्नीसवीं सदी में विचारों के इतिहास पर उपलब्ध साहित्य में मुख्य रूप से आंदोलनों और उनके द्वारा प्रचारित विचारों पर ध्यान केंद्रित है; जिन यथार्थबोधों ने इन आंदोलनों को जन्म दिया वे इस मुख्य सरोकार में प्रसगवश ही चर्चित हुए हैं। यथार्थबोध और चेतना के बीच के सबंधों को भी पृष्ठभूमि में ढकेल दिया गया है। या तो उन पर संदर्भ-विच्छिन्न रूप से विचार किया गया है, या यथार्थबोध को ही चेतना का पर्याय मान लिया गया है। वस्तुगत यथार्थ तथा बोधगत यथार्थ के बीच के अंतर में हाल मे जो दिलचस्पी जगी है वह भारतीय सामाजिक विकास पर उपनिवेशवाद के प्रभाव के अध्ययन का अभिन्न अंग है। उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जन औपनिवेशिक शासन के सच्चे रूप को क्यों नहीं समझ पाए, यह दिलचस्पी का केंद्र बिंदु रहा है। इसके जो कारण बताए गए हैं उनमें से कुछ हैं गलत चेतना, विदेशियों से सहयोग की वृत्ति और वर्गगत हित। उपनिवेशवादी विचारधारा और उपनिवेशवादी राज्य तथा राज्य-संस्थाओं ने यथार्थबोध के स्वरूप को प्रभावित किया, यह एक आम और शायद जरूरत से ज्यादा स्पष्ट कथन मालूम होता है। हालांकि जिस ढंग से उपनिवेशवादी राज्य के तंत्रों ने विचारधारा के प्रचार के उपकरणों के रूप में काम किया और जिस तरीके से उपनिवेशवादी राज्य की संस्थाओं ने (जो उपनिवेश की 'संरचना के संदर्भ में अति विकसित' थीं)[26] विचारधारात्मक उपकरणों के रूप में काम करते हुए राजनीतिक नियंत्रण में सहायता की, उसकी कोई छानबीन नहीं की गई है।

अंग्रेजों द्वारा भारत में अपनाई गई प्रत्येक नीति में विचारधारा का प्रचार सहज समाहित था, लेकिन जिन सिद्धांतों पर राज्य की संस्थाएं संगठित की गई उनमें औपनिवेशिक प्रभुत्व के यथार्थ को धूमिल बना देने की प्रवृत्ति थी। अपना सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए औपनिवेशिक राज्य तथा उसके सिद्धांतकारों ने उपनिवेशीकृत समाजों के संबध में अनेक मिथकों की सृष्टि और प्रचार करने का प्रयत्न किया, और कालांतर में स्वयं उपनिवेशीकृत समाजो ने उनमें विश्वास करना आरभ कर दिया।[27] इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने भारत में जिन संस्थाओ की सृष्टि की उनका स्वरूप ऐसा था जिससे उनके राज्य को कुछ विचारधारात्मक आयाम प्राप्त हो गए। कारण यह था कि ये संस्थाएं

एक उन्नत राज्यव्यवस्था और अर्थव्यवस्था को अनुप्राणित करने वाले सिद्धातो पर आधारित थीं और इसलिए वे उपनिवेश की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति को देखते हुए जरूरत से कहीं ज्यादा विकसित थीं। उपनिवेशवादी राज्य के उपनिवेशीकृत समाज पर अपना वर्चस्वी नियत्रण स्थापित करने के प्रयत्न मे इस वस्तुगत यथार्थ से सहायता मिली। भारतीय बौद्धिक जनों ने स्थिति को जिस रूप में समझा वह कम से कम अशत: इन्हीं बातों पर या यदि फ्रैंसिस बेकन के शब्दों मे कहें तो 'मनुष्य के मस्तिष्क पर शासन करने वाली प्रतिमाओ'[28] पर आश्रित था। सच तो यह है कि ये प्रतिमाए पारंपरिक विचारधारा और सस्कृति से भी प्रतिफलित हुईं।

औपनिवेशिक शासन के यथार्थ को समझने मे उन्नीसवीं सदी के भारत के बौद्धिक जनों ने विदेशी और देशी सरकार के बीच कोई भेद किए बिना राज्य के प्रति एक आदर्शीभूत दृष्टि अपनाई। उपनिवेशवादी अधिकार के पूर्व की अर्थव्यवस्था के प्रति जागरूक तथा उदारवादी सिद्धांतों पर आधारित सुस्थापित राज्य प्रणाली से रू-ब-रू अधिकाश बौद्धिक जनों ने अग्रेजी राज को स्वीकार कर लिया, बल्कि यहा तक कि दैवी इच्छा के रूप में उसका स्वागत भी किया।[29] यह रुख विदेशी शासन से सहयोग करने के एवज में कोई व्यक्तिगत लाभ उठाने की वृत्ति का नहीं बल्कि इस विश्वास का परिणाम था कि अग्रेजी राज उदारवादी और सावैधानिक सिद्धांतो पर आधारित राजनीतिक भविष्य को साकार करने में सहायक होगा।[30] उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ब्रिटेन की राज्यव्यवस्था और अर्थव्यवस्था विश्व मे सबसे अधिक उन्नत थी, और जब कभी यूरोप मे निरकुश शासकों द्वारा राजनीतिक और व्यक्तिगत स्वतत्रताओं के लिए खतरा उपस्थित किया जाता था तब वह 'यूरोप के मुक्तिदाता' की भूमिका निभाता था, इन बातों से उक्त विश्वास को बल मिला।[31] इसलिए अग्रेजी राज को भारत को राजनीतिक तथा आर्थिक आधुनिकीकरण की राह ले जाने वाला 'खास चुना हुआ उपकरण' माना जाता था। राममोहन ने इगलैंड का वर्णन ऐसे लोगों के राष्ट्र के रूप में किया जिन्हे न केवल 'नागरिक तथा राजनीतिक स्वतत्रता का उपभोग करने का वरदान प्राप्त है बल्कि (जो) अपने प्रभाव-क्षेत्र में आने वाले राष्ट्रो के बीच स्वतत्रता तथा सामाजिक सुख-शाति को और साथ ही साहित्यिक तथा धार्मिक विषयों के स्वतत्र अन्वेषण को प्रोत्साहन देने में भी रुचि लेते हैं।'[32] अंग्रेजी राज के आरभिक चरण में उसके प्रति यह दृष्टिकोण उसके प्रगति का उपकरण बनने से संबंधित धारणा का अभिन्न अग था।

जब राममोहन से पूछा गया कि क्या पूजीपति यूरोपियों को भारत में जायदादें खरीदकर उनमे बसने देना लाभदायक होगा तो उन्होंने *चरित्रवान और धनी-मानी* यूरोपियों को ऐसा करने देने के पक्ष में राय जाहिर की, क्योंकि 'उससे आम तौर पर देश के ससाधनों में और देशी आबादी की अवस्था में भी सुधार होगा, सो इस कारण

से कि उन्हें खेतीबारी के बेहतर तरीके और अपने श्रमिकों तथा आश्रितों के साथ उचित व्यवहार देखने को मिलेंगे।'[30] उनकी यह राय भी थी कि अपने मूल देश को लौटने वाले यूरोपीयों को अगर अपने परिवारों के साथ भारत में बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाए तो उससे देश के संसाधनों में बहुत अधिक सुधार होगा।[34] लेकिन वे सभी तरह के यूरोपियों को यहां बसने की इजाजत देने के खिलाफ थे, क्योंकि 'इस तरह के कदम को तो देशी बाशिंदों को पूरे तौर पर उखाड़ फेंकने और देश से बाहर निकाल देने के उद्देश्य से उठाया गया कदम माना जाएगा।'[35] स्पष्ट ही राममोहन को उद्योगीकरण के लिए आवश्यक पूर्वशर्तों, अर्थात पूंजी और प्रौद्योगिकी की फिक्र थी। पूंजी के अभाव तथा प्रौद्योगिकी के पिछड़ेपन का उन्नीसवीं सदी के आर्थिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण स्थान था। अंग्रेजों से संबंधों के सहारे उसका एक समाधान तलाशने का प्रयत्न किया गया।

परंतु इसके साथ ही उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी राज के स्वरूप के संबंध में एक अलग ढंग का बोध भी विकसित हो रहा था। यह औपनिवेशिक शासन के आर्थिक दृष्टि से शोषक तथा राजनीतिक दृष्टि से प्रभुत्ववादी स्वरूप को समझने के बौद्धिक प्रयत्न का परिणाम था। अंग्रेजों के भारतीय पुनरुत्थान के 'खास तौर से चुने हुए उपकरण' होने के बोध के समानांतर बोध के रूप में विकसित होने के बजाए ठीक उसी बोध के अंदर से विकसित होने वाले इस बोध के उदय का कारण स्वयं औपनिवेशिक शासन की अपनी प्रकृति में सहज समाहित अंतर्विरोध था। उसकी शुरुआत देशभक्ति और राष्ट्रीय अभिमान की एक अस्पष्ट ढंग की भावना और पराधीनता की असुविधाओं की सैद्धांतिक चर्चा के रूप में हुई परंतु उसका अंत अंग्रेजी प्रभुत्व से मुक्त भविष्य के सपने के रूप में हुआ। काशी प्रसाद घोष की कविताएं, कैलाशचंद्र दत्त, शारदाप्रसाद घोष, प्रसन्नकुमार ठाकुर, श्यामाचरण दत्त आदि के भाषण और लेख, बंगाल की समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में अनेक अज्ञात नाम लोगों के लेख, *बांबे गजट* में भास्कर पांडुरंग तरकडकर तथा अनेक अनाम पर्चेबाजों के लेख राजनीतिक यथार्थ से दो-दो हाथ करने के आरंभिक प्रयत्नों के सूचक थे। प्रसन्नकुमार ठाकुर द्वारा संपादित *रिफार्मर* में प्रकाशित एक लेख में इंगलैंड और भारत के आपसी संबंधों पर विचार करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष दिया गया :

> भारत के विजेता और अधिपति के रूप में इंगलैंड पर उसकी (भारत की) निर्भरता के बिना उसकी राजनीतिक स्थिति अधिक सम्मानजनक होगी और उसके निवासी अधिक धनवान तथा समृद्ध होंगे। अमरीका का उदाहरण, जिससे मालूम होता है कि जब वह इंगलैंड के अधीन था तब क्या था और अपनी स्वतंत्रता के बाद क्या हो गया है, हमें इसी प्रकार के निष्कर्ष पर ले जाता है।[36]

यह कोई अकेला उदाहरण नहीं था। शारदाप्रसाद घोष 'राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित किए जाने को हमारे कष्ट और पतन का कारण' मानते थे।[37] कैलाशचंद्र दत्त ने अपने सौ साल आगे के भारत के सपने पर लिखे निबंध में अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंकने के लिए सशस्त्र विद्रोह की कल्पना प्रस्तुत की।[38] अक्षयकुमार दत्त स्वयं भारत की पराधीनता को लेकर अत्यधिक चिंतित थे, जिसे वे हिंदुओं का नरक, ईसाइयों का हेल्ल और मुसलमानों का जहन्नुम मानते थे।[39]

नई राजनीतिक परिस्थिति के संबंध में बढ़ती हुई चिंता महाराष्ट्र से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रतिबिंबित हुई। *बाबे गजट* में 1841 में 'एक हिंदू' के छद्म नाम से लिखे लेखों की एक शृंखला में भास्कर तरकडकर ने अपने अनेक पूर्ववर्तियों की तरह न केवल प्रशासनिक भूलों तथा अन्याय की ओर ध्यान आकृष्ट किया बल्कि अंग्रेजी राज के स्वरूप तथा परिणामों को भी समझने का प्रयत्न किया।[40] आरंभ में ही उन्होंने यह दरशाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार अंग्रेजी हुकूमत पराई और भारत में अपने साम्राज्य स्थापित करने वाले पूर्ववर्ती विजेताओं से भिन्न थी। यह भिन्नता बताने के लिए दो मापदंडों का उपयोग किया गया - प्रशासनिक तथा आर्थिक। नौकरियां देने और न्याय करने जैसे प्रशासनिक मामलों में मुसलमान शासकों ने धार्मिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता, लेकिन अंग्रेज स्पष्ट रूप से अपने देशभाइयों के प्रति पक्षपात करते थे।[41] अंग्रेज न्याय करने में किस प्रकार गोरों के साथ पक्षपात करते थे, इसके उदाहरण देते हुए, कानून के शासन के सिद्धांत और उसके व्यवहार के बीच का अंतर दरशाया गया।[42] लेकिन इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण था औपनिवेशिक हितों को आगे बढ़ाने में कानून और न्याय-व्यवस्था की भूमिका का बोध। तरकडकर ने लिखा, 'जब कभी आपको (अंग्रेजों को) दमन की कोई कार्रवाई करनी होती है तब आप पहला एहतियात यह बरतते हैं कि अपनी भारतीय विधि-संहिता में उसे दाखिल कर देते हैं और उसे न्याय और समानता का रंग दे देते हैं।'[43]

अंग्रेजी राज के पराए स्वरूप की पहचान के लिए तरकडकर ने जिस दूसरे मापदंड का प्रयोग किया वह था उसकी आर्थिक गतिविधि का मापदंड। उसे ऐसा रूप दे दिया गया था जिससे भारत का धन बहकर इंगलैंड चला जा रहा था, 'जिससे भारत के गरीब और निरीह निवासियों की सुख-समृद्धि का दुःखद ह्रास हो रहा था।'[44] उन्होंने दिखलाया कि किस प्रकार पूर्ववर्ती शासकों का ऐसा कोई इरादा नहीं था। इस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी राज्य को अन्य शासनों से अलग करने वाले एक निर्णायक तत्व के प्रति अपनी सजगता का परिचय दिया। उन्हें इस बात का भी एहसास था कि अंग्रेज देश के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से अपना कोई तादात्म्य स्थापित नहीं करना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के प्रथम तीन चरणों तक आर्थिक अवस्थाओं की समझ और इसलिए आर्थिक समस्याओं की चिंता सीमित ढंग की ही थी। तथापि बौद्धिक जन न

तो देश की सामान्य आर्थिक अवस्था के प्रति उदासीन थे और न औपनिवेशिक शासन के फलितार्थों से बेखबर। जनसाधारण की गरीबी, समाज में विद्यमान असमानता, किसानों की दुरवस्था, दस्तकारों के विनाश और व्यापार के माध्यम से देश के धन के विदेश निर्गम की ओर उनका ध्यान बेशक आकृष्ट हुआ। राममोहन राय से लेकर विवेकानंद तक लगभग प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति गरीबी और असमानता से चिंतित था। कुछ लोगों ने जनसाधारण के कष्टों पर केवल दुःख व्यक्त किया, लेकिन कुछ अन्य लोगों ने उन कष्टों के कारणों पर विचार किया। राममोहन ने उनका कारण प्रशासनिक आचार-व्यवहार में देखने की कोशिश की,[45] अक्षयकुमार दत्त और बंकिमचंद्र ने उनका कारण समाज के तत्कालीन सामाजार्थिक संबंधों को माना।[46] बंकिमचंद्र कृत *साम्य*, जो राममोहन के *तुहफात* की तरह भारत के बौद्धिक इतिहास का एक मील का पत्थर था, असमानता की समस्या का विवेचन करने वाला उन्नीसवीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतित्व था। अनेक यूरोपीय चिंतकों के विचार उधार लेने के कारण अंतर्वस्तु की दृष्टि से उदारतापूर्ण कृति *साम्य* औपनिवेशिक तथा आधुनिक भारत में बौद्धिक विकास का एक अच्छा संकेतक है।[47] हालांकि इसमें दार्शनिक चिंतन और सैद्धांतिक विवेचन के प्रति ऐसे रुझान का परिचय दिया गया था जो उन्नीसवीं सदी के भारत में लगभग अनुपस्थित था लेकिन इसमें विदेशी बौद्धिक परंपरा पर बहुत ज्यादा निर्भर होने की प्रवृत्ति थी, एक ऐसी प्रवृत्ति जो हमारे समकालीन बौद्धिक जीवन की लगभग एक कमजोरी बन गई है।

मौजूदा ऐतिहासिक लेखन में इस बात की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है कि उन्नीसवीं सदी के यथार्थ-बोध में ब्रिटिश प्रभुत्व के आर्थिक परिणामों, विशेष रूप से राष्ट्रीय धन के निर्गम तथा दस्तकारियों के पतन का भी समावेश था। राममोहन इस बात से बाखबर थे कि अंग्रेज अधिकारियों तथा कर्मचारियों के वेतनों, अंग्रेज पेशेवर लोगों की आयों की बचतों और साथ ही अंग्रेज व्यापारियों, एजेंटों, बागान मालिकों की कमाइयों के अलावा इंग्लैंड में खर्च किए जाने वाले भारतीय राजस्वों के रूप में भारत का धन बाहर जा रहा था। 'बंगाल में एक दायित्वपूर्ण पद पर आसीन कंपनी के एक सुयोग्य अमले' द्वारा सुलभ कराए गए प्रमाण के आधार पर उन्होंने अनुमान लगाया कि '1765 से लेकर 1820 तक सरकारी और निजी नजराने के तौर पर भारत से 11 करोड़ पाउंड की राशि का दोहन किया गया।'[48] कालांतर में इस प्रश्न की ओर और अधिक ध्यान दिया जाने लगा। अंग्रेजी राज की तरकडकर की आलोचना की मुख्य दलील देश के धन के निर्गम पर ही आधारित थी। सच तो यह है कि उनके पत्रों का उद्देश्य ही 'यह दिखलाना था कि भारत की संपत्ति का दोहन करके उसे दरिद्र बनाने में अंग्रेजों की वर्तमान रीति व्यवहारतः कितनी निर्ममतापूर्ण रही है।'[49] वे देश के आर्थिक दोहन का मुख्य उपकरण अंग्रेजों के व्यापार को मानते थे। उन्होंने कहा कि 'इन कवालों

(निजामियों तथा रुहेलियों) की लूटपाट ने कोई पांच–छह सौ वर्षों में हमें जितना विपन्न बनाया था, चंद सालों के दौरान हमारी थैलियों को उससे भी अधिक खाली' इस व्यापार ने कर दिया है।[50] राममोहन की राय में, इस दोहन का मुख्य परिणाम आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूंजी का अभाव था, लेकिन तलखडकर को इसमें भारत की गरीबी का एक महत्वपूर्ण कारण दिखाई दिया।[51]

देशी दस्तकारियों पर अंग्रेजी आर्थिक नीतियों का प्रभाव भी उन्नीसवीं सदी की उदीयमान चेतना का अंग था। राममोहन तथा उनके समकालीनों और उनके शीघ्र बाद के कई लोगों को भी उन कारीगरों की दुरवस्था का एहसास नहीं था 'जिनकी हड्डियां तक बंगाल में चून ली गई थीं'। इसी तरह उन्हें उपभोग और बाजार के बदलते रंग की भी खबर नहीं थी। उद्योगीकरण के संबंध में उनके दृष्टिकोण को देखते हुए यह बेखबरी सर्वथा आश्चर्यजनक नहीं थी। तथापि परिवर्तन के महत्व की पूरे तौर पर उपेक्षा नहीं कर दी गई, खास तौर से महाराष्ट्र के बौद्धिक जनों द्वारा। 'फिलैथापो' के छद्म नाम से *बाॅंबे गजट* में प्रकाशित एक पत्र में कोंकण और दकन के निवासियों के कष्टों का मुख्य कारण देशी उद्योग के विनाश को बताया गया, जो 'जीवन के लिए सभी आवश्यक तथा सुख–सुविधाओं की वस्तुओं का' ग्रेट ब्रिटेन से आयात करने और इस प्रकार 'देश में उत्पादित वस्तुओं को पूर्ण रूप से स्थान च्युत कर देने' का परिणाम था।[52] कोंकण के बुनकरों का उदाहरण देते हुए, पत्र में कहा गया कि कारीगर अपनी जीविका का साधन खोते जा रहे हैं और खेतीबारी के लिए मजबूर हो रहे हैं।[53] इस विचार को गोपाल हरि देशमुख ने और भी पल्लवित करते हुए स्वदेशी की और विदेश में तैयार की गई वस्तुओं के बहिष्कार की हिमायत और कच्चे माल के निर्यात का विरोध किया :

> हमारे लोगों को संयुक्त रूप से दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि हम विदेशी माल नहीं खरीदेंगे, उन्हें केवल देश में बनी चीजें ही खरीदनी चाहिए, भले ही वे घटिया ही क्यों न हों। हमें अपने देश में उत्पादित कपड़े, अपने देश में बनाए छाते आदि का ही इस्तेमाल करना चाहिए। इस तरह हम अपने धन को अपने देश के अंदर रोक कर रख पाएंगे। सभी व्यापारियों और उत्पादकों को संकल्प कर लेना चाहिए कि हम अंग्रेजों को केवल तैयार माल ही बेचेंगे, लेकिन कच्चा माल नहीं।[54]

उन्नीसवीं सदी के भारत से संबंधित साहित्य इन आरंभिक सोचों और उपनिवेश–विरोधी चेतना के बीच के संबंधों को लगभग पूरे तौर पर नजरअंदाज कर देता है। प्राक्–राष्ट्रवादी और राष्ट्रवादी चरणों को एक–दूसरे से अलग और स्वतंत्र मानते हुए पहले को तो सामाजिक–धार्मिक सुधार के खाने में रख दिया जाता है और दूसरे को अधिक 'प्रगतिशील' राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधि की कोटि में। ऐसे विश्लेषणों में यह महत्वपूर्ण मुद्दा उपेक्षित रह जाता है कि प्राक्–राष्ट्रवादी बौद्धिक जन सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक

संघर्ष के अग्रदूत थे, और इस प्रकार वे औपनिवेशिक भारत की उदीयमान वर्चस्वी चेतना के भागीदार और योगदानकर्ता थे। उनके प्रयत्न का सार एक ऐसी विचारधारा का विकास था जो पारंपरिक तथा औपनिवेशिक दोनों विचारधाराओं का प्रत्याख्यान करती थी। उनमें जो द्विधा है वह उक्त दोनों विचारधाराओं के उपयुक्त तत्वों को ग्रहण करने के कशमकश के कारण। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां पुनर्विचार का तकाजा रखती हैं।

देशी परंपरा का बचाव

उन्नीसवीं सदी के भारतीय बौद्धिक जनों को जितना बोध राजनीतिक तथा आर्थिक यथार्थ का था उसकी तुलना में देश की सामाजिक-धार्मिक अवस्थाओं के संबंध में उनकी दृष्टि अधिक स्पष्ट थी। धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की अंतर्निर्भरता और पारस्परिक संबंध, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक दोषों का एक-दूसरे से रिश्ता, धर्मग्रंथों और धार्मिक ज्ञान के विकृतीकरण तथा उनकी गलत व्याख्या, उपासना की कतिपय प्रचलित पद्धतियों के सामाजिक फलितार्थ, और जाति जैसे सामाजिक संस्थाओं के प्रतिकूल प्रभाव उनके सामाजिक-धार्मिक बोध के अंग थे। इस क्षेत्र में सुधार उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों द्वारा अंगीकृत मुख्य कार्य था, परंतु उस सुधार की प्रेरणा केवल वस्तुपरक अवस्थाओं से ही नहीं मिली थी, बल्कि उसके पीछे यह एहसास भी काम कर रहा था कि उपर्युक्त बातों का संबंध समाज के प्रारब्ध से है। औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक-सामाजिक संघर्ष की आरंभिक अभिव्यक्ति इसी दायरे में हुई। लेकिन इस बात को कि सामाजिक-धार्मिक सुधार अपने-आप में कोई साध्य नहीं था, इस विषय पर प्रणीत असंख्य कृतियों में से अधिकांश में कोई स्थान नहीं मिल पाया है।[55]

इस जागरूकता के लगभग साथ-साथ भारतीय समाज में उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक-विचारधारात्मक फलितार्थों के संबंध में चेतना का उदय हुआ। चूंकि देशी संस्कृति का विनाश करना या उसकी हीनता दिखलाना प्रभुत्व और नियंत्रण के तरीकों का अभिन्न अंग था, और चूंकि औपनिवेशिक शासन ने सरकार के रूप या राज्य की संस्थाओं में कोई भारी उलट-पलट नहीं किया इसलिए विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष की आरंभिक अभिव्यक्ति संस्कृति के क्षेत्र में हुई। पारंपरिक संस्कृति में सहज समाहित संभावना को साकार करने की बौद्धिक तलाश इस संघर्ष का एक हिस्सा थी।

इन दो प्रवृत्तियों को, जिनमें से पहली की विशेषता पारंपरिक संस्कृति के पिछड़े तत्वों के विरुद्ध संघर्ष तथा समाज के आधुनिकीकरण की विचारधारा थी और दूसरी की भविष्य को वांछित रूप देने के लिए पारंपरिक संस्कृति तथा विचारधारा की शक्ति पर निर्भरता थी, क्रमशः सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी कहा गया है। क्या यह संभव है कि इन दोनों लड़ियों को उसी एक प्रक्रिया का हिस्सा माना जाए जिसने पारंपरिक

तथा औपनिवेशिक संस्कृतियों और विचारधाराओं के विरुद्ध दोहरे संघर्ष में योगदान किया ? बौद्धिक जनों द्वारा आरंभ किए गए और आगे बढ़ाए गए इस संघर्ष के आधार का काम करने वाले विशिष्ट वर्गों (लघु बुर्जुआ और बुर्जुआ) को दोनों प्रकार के सांस्कृतिक-बौद्धिक परिवेश से विमुखता के दौर से गुजरना पड़ा, आरंभ में पारंपरिक सांस्कृतिक-बौद्धिक परिवेश से और बाद में औपनिवेशिक सांस्कृतिक-बौद्धिक परिवेश से। कलकत्ता, बंबई और मद्रास के राजधानी नगरों में इन्हीं वर्गों के अंदर सुधारवादी प्रेरणा सबसे पहले उदित हुई। यही बात 'स्रोतों की ओर वापसी' के प्रयत्न पर भी लागू होती है, हालांकि यह वापसी अपने-आप में परंपरा की ओर वापसी नहीं थी बल्कि उपनिवेशवादियों की संस्कृति की श्रेष्ठता के झूठे दावे को नकारने और साथ ही उपनिवेशीकृत समाज की सांस्कृतिक पहचान को पुनः प्रतिष्ठित करने की कोशिश थी। यह कोई 'स्वेच्छा से उठाया गया कदम नहीं' था 'बल्कि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित और उपनिवेशीकृत समाज तथा औपनिवेशिक शक्ति के बीच के अनिवार्य अंतर्विरोध द्वारा संवर्धित ठोस आवश्यकता की मांग का एकमात्र संभव उत्तर था।'[56] औपनिवेशिक भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन, जिसे सर्वथा सटीक तौर पर नहीं लेकिन मोटे तौर पर 'नवजागरण' (रिनासां) की संज्ञा दी गई है, इस दोहरी विमुखता और संघर्ष का परिणाम था।[57]

मुक्ति संघर्षों में संस्कृति की भूमिका की ओर ध्यान देने वाले मुट्ठी भर राजनीतिक कार्यकर्ताओं में शामिल एमिलकर कैब्रल इस संघर्ष का आधार लघु बुर्जुआ की दोहरी विमुखता में देखते हैं,[58] जिसने उपनिवेशीकृत समाजों में नवजीवन का संचार करने वाले सांस्कृतिक-बौद्धिक संघर्ष को सामाजिक आधार प्रदान किया। चूंकि इस संघर्ष के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण विस्तार से नहीं किया गया है इसलिए अभी इसे या तो पाश्चात्य प्रेरणा पर अथवा आंतरिक गतिकी पर आधारित मौजूदा व्याख्याओं के एक संभावित विकल्प के रूप में ही सामने रखा जा सकता है।

औपनिवेशिक प्रभुत्व को, जो अनिवार्यतः उपनिवेशीकृत समाज के सांस्कृतिक अस्तित्व पर प्रहार करता था, 'एक संपूर्ण जीवन-पद्धति' के रूप में देखा गया है, जिसमें भाषा, धर्म, कलाओं, दर्शन आदि जैसे सभी 'प्रतीकात्मक तत्वों' का समावेश है। जिन दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सांस्कृतिक सजगता को स्वर मिला वे थे भाषा और धर्म के क्षेत्र। भाषा के एक महत्वपूर्ण घटक होने के बोध के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग के परिणामों को स्पष्ट रूप से समझा। उन्होंने जोर देकर कहा कि अंग्रेजी ऐसे लोगों की एक जमात तैयार कर रही है जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृति से और फलतः अपने देशवासियों से कटे हुए हैं।[59] उन्हें विचारों, चिंतन, भावना और जीवन-पद्धति की दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों (जो बंकिम की निगाह में सतही तौर पर शिक्षित लोग और विवेकानंद के अनुसार रीढ़-

विहीन प्राणी थे) तथा अनपढ़ जनसाधारण को एक-दूसरे से अलग करने वाली खाई का एहसास था। इसलिए उनके राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के कार्यक्रम में देशी भाषाओं के अभ्यास का एक महत्वपूर्ण स्थान था। 'यंग बंगाल' और अक्षयकुमार दत्त से आरंभ होकर सैयद अहमद खां और डान सोसायटी तक यह एक अजस्र प्रवाहित और सतत विकासशील चेतना थी। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा की जोरदार हिमायत करते हुए, उदय चंद्र आढ्या ने राजनीतिक स्वतंत्रता की मंजिल तक पहुंचाने वाली प्रगति तथा पुनरुज्जीवन की आवश्यक पूर्वशर्त के रूप में 'देश की भाषा के यथेष्ट ज्ञान' पर जोर दिया।[60] लगभग चार दशक आगे चलकर सैयद अहमद खां ने यह बात और भी जोरदार ढंग से कही :

> इगलैंड की सभ्यता का कारण यह है सारी कलाएं और विज्ञान देश की भाषा में उपलब्ध हैं। जो लोग भारत को सुधारने और बेहतर बनाने के लिए कटिबद्ध हैं उन्हें यह बात याद रखनी चाहिए कि इस काम को करने का एकमात्र तरीका यह है कि वे सभी कलाओं और विज्ञानों का अनुवाद अपनी भाषा में कराएं। मैं तो चाहूंगा कि यह बात मोटे-मोटे अक्षरों मे हिमालय पर लिख दी जानी चाहिए ताकि भावी पीढ़ियां इसे याद रखें।[61]

देशी भाषाओं को समृद्ध करने पर दिए गए इस जोर को अपने-आप में अलग करके नहीं देखना चाहिए। वस्तुतः यह औपनिवेशिक शिक्षा के सांस्कृतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक परिणामों का उत्तर था। अंग्रेजी के मुकाबले देशी भाषाओं को सोच-समझकर दी जाने वाली प्राथमिकता और एक वैकल्पिक शिक्षा पद्धति विकसित करने के प्रयत्न मे यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है।[62] बड़ी संख्या में प्रकाशित देशी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएं इस प्राथमिकता की सूचक थीं, साथ ही कई संगठनों का अपनी कार्रवाइयां देशी भाषाओं में चलाने का फैसला भी इसका प्रमाण था। उदाहरण के लिए 1833 में स्थापित सर्वतत्व दीपिका सभा ने अपनी चर्चाएं मातृभाषा में चलाने और केवल मातृभाषा में बात करने का निर्णय किया।[63] बंगाल के शिक्षित देशवासियों के बीच राष्ट्रीय भावना को प्रश्रय देने के लिए स्थापित राजनारायण बोस की सोसायटी ने भी ऐसा-ही किया। उसने अंग्रेजी के स्थान पर मातृभाषा सीखने, संस्कृत का अभ्यास करने, भारतीय पुरा-इतिहास के क्षेत्र मे किए गए अनुसंधानों के परिणामों को बंगला में प्रकाशित करने तथा बातचीत और बैठकों की कार्रवाइयों की भाषा के रूप में बंगला का प्रयोग करने की हिमायत की।[64] नवगोपाल मित्र, भूदेव मुखर्जी, पंडित गुरुदत्त तथा अन्य बीसियों लोगों ने इस आदर्श के अनुगमन का प्रबल प्रयास किया, जिसकी परिणति नेशनल एजुकेशनल कौंसिल[65] और सोसायटी फार यूनिफार्म स्क्रिप्ट[66] के विचारों और कार्यकलाप में हुई। भारतीय चिकित्सा पद्धति में नया प्राण फूंकने, प्राक्-औपनिवेशिक प्रौद्योगिकी की

संभावनाओं की पडताल करने तथा पारंपरिक ज्ञान को नए सिरे से संवारने के प्रयत्नों को इसी सांस्कृतिक संदर्भ में देखना चाहिए।[67]

जब कभी ऐसा लगा कि औपनिवेशिक राज्य की प्रशासनिक कार्रवाइयों या ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार के प्रयत्नों से धार्मिक विश्वासों और आचारों को आघात पहुंच रहा है तब सांस्कृतिक सरोकार की अभिव्यक्ति सबसे प्रबल रूप से हुई। सामाजिक मामलों के संबंध में कानून बनाने का मतलब प्राचीन रीति-प्रथाओं में हस्तक्षेप लगाया गया। सती प्रथा के उन्मूलन और लेक्स लोसी अधिनियम के खिलाफ पेश किए गए प्रार्थनापत्र इसके प्रमाण हैं।[68] कलकत्ता के हिंदुओं द्वारा जारी किए गए एक गश्ती पत्र में कहा गया कि यह अधिनियम 'हिंदू जाति के विनाश का हथियार' साबित होगा 'और हिंदू धर्म के वृक्ष को उखाड फेंकेगा',[69] यह 'उनके धर्म की नींव को खोखला बना' देगा।[70] कलकत्ता के 14,000 हिंदुओं द्वारा हस्ताक्षरित एक प्रार्थनापत्र में इस आशंका को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए, अंग्रेजी सरकार से अपनी निराशा का इजहार किया गया और कहा गया कि हमें लगता है कि वह ईसाई धर्म के प्रचार को बढावा और सहायता दे रही है। *हिंदू इंटेलीजेंसर* ने लिखा कि 'लगता है, भारत सरकार और साथ ही लीडेन हाल में बैठे सत्ताधारी लोग मिशनरियों से मिल गए हैं और उनके उद्देश्य को अपना बना लिया है।'[71] अन्य प्रांतों के हिंदुओं ने भी इस अधिनियम के प्रयोजन और परिणामों के बारे में ऐसी ही आशंका व्यक्त की। सच तो यह है कि तीनों प्रांतों के साथ-साथ विरोध प्रदर्शन का आयोजन करने की कोशिश की गई, और इस विरोध में खेती करना और लगान अदा करना बंद कर देने का आह्वान भी शामिल था।[72]

यह संदेह बढता ही जा रहा था कि अंग्रेज अधिकारी ईसाई धर्म के प्रचार में सक्रिय सहायता दे रहे हैं। जिला मुख्यालयों में अधिकारियों तथा मिशनरियों के बीच घनिष्ठ सामाजिक संलाप, विवादों में अधिकारियों द्वारा मिशनरियों और धर्मांतरितों के प्रति पक्षपात,[73] शिक्षा में ईसाई अंतर्वस्तु के समावेश के प्रयत्नों,[74] और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के धर्मांतरण से इस संदेह को और भी बल मिला। धर्मांतरित लोगों, उनकी पत्नियों और बच्चों की हिरासत तथा अन्य संबंधित मामलों में किए गए अदालती फैसलों के कारण न्यायपालिका भी पक्षपातपूर्ण दिखाई देने लगी।[75] उपनिवेशवादियों की उपस्थिति के सांस्कृतिक फलितार्थों तथा हिंदू जीवन-पद्धति को सुरक्षित रखने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता इन्हीं बोधों का परिणाम थी। बाइबिल मिनट के प्रति विरोध जिसमें न केवल राधाकांत देव और आशुतोष देव जैसे रूढिवादी बल्कि देवेंद्रनाथ ठाकुर जैसे उदारपंथी भी शामिल थे,[76] और मद्रास से भेजा भीमकाय प्रार्थनापत्र, जिस पर 70,000 लोगों ने हस्ताक्षर करके धार्मिक प्रचार के लिए शिक्षा के उपयोग पर नाराजगी जाहिर की थी और धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप किए बिना शिक्षा देने की मांग की थी, इस जागरूकता के सूचक थे।[77]

इस प्रकार, देशी संस्कृति और संस्थाओं का बचाव तथा उनकी शक्ति और विगत वैभव का आत्म-चिंतनात्मक अध्ययन औपनिवेशिक सांस्कृतिक अतिक्रमण के परिणाम थे। एक पूर्ववर्ती दलील को दोहराएं तो कहेंगे कि यह कोई स्वैच्छिक कार्रवाई नहीं थी, बल्कि ऐतिहासिक शक्तियों ने ऐसी कार्रवाई को अनिवार्य बना दिया था, क्योंकि उनके कारण अपनी पहचान की पुनर्परिभाषा जरूरी हो गई थी। उपनिवेशवाद जिन चीजों का भी प्रतिनिधित्व करता था उन सबको अस्वीकार करते हुए देशी परंपरा में पहचान की तलाश आरंभ की गई। हालांकि यह प्रवृत्ति उपनिवेशवादियों की विजय से उद्भूत हुई थी लेकिन इसका प्रस्फुटन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जाकर हुआ, जब उपनिवेशवाद के साथ सांस्कृतिक और विचारधारात्मक अंतर्विरोध में परिपक्वता आ गई। चूंकि इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे इसलिए इसने धार्मिक विशिष्टतावाद को, बल्कि दरअसल तो सांप्रदायिकता को भी संभव बनाया। लेकिन इसका उद्भव सांप्रदायिक भेदों के बोध या सांप्रदायिक अंतर्विरोध से नहीं बल्कि औपनिवेशिक संस्कृति तथा विचारधारा के खिलाफ प्रतिक्रिया से हुआ। इस दृष्टि से देखें तो अतीत की दुहाई देना और उसकी पुनर्व्याख्या करना अपने-आप में प्रतिगामी नहीं था, वह भविष्य के किसी सपने का आधार नहीं था बल्कि अपने-आपको शक्तिशाली बनाने का एक उपाय था। पारंपरिक संस्कृति की ऊर्जा पर निर्भर रहने और समकालीन समाज के तकाजों को पूरा करने के लिए उसकी पुनर्व्याख्या करने की प्रवृत्ति, जिसकी अभिव्यक्ति बंकिम, दयानंद, राजनारायण बोस, भूदेव मुखर्जी, पंडित गुरुदत्त, सैयद अलवी और मकती तंगल के चिंतन में हुई, इसी प्रयत्न का एक हिस्सा थी। वह सांस्कृतिक पुनर्स्थापनावाद नहीं बल्कि सांस्कृतिक बचाव था। वह अपने-आपमें कोई साध्य नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक भारत में सर्वप्रधान चेतना के विकास का एक घटक था। शायद उससे धर्मनिरपेक्ष चरित्र के विकास में बाधा बढ़ी, लेकिन वह तो सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्ष और राजनीतिक संघर्ष को कारगर ढंग से आपस में जोड़ने की आम विफलता का अंग था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 इसके दो आरंभिक उदाहरणों में ए.जे. कार्लाइल कृत *ए हिस्ट्री आफ मेडिवल पालिटिकल थियरी इन दि वेस्ट* के नमूने पर लिखी यू.एन. घोषाल की कृति *हिस्ट्री आफ इंडियन पालिटिकल आइडियाज*, 1959 और बी.बी. मजुमदार की *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज*, कलकत्ता, 1967 के नाम लिए जा सकते हैं

2 कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, *दि जर्मन आइडियोलाजी*, मास्को, 1964, पृ. 37.

3 राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में संस्कृति के महत्व का जोरदार प्रतिपादन आमिलकर कैब्रेल ने किया है. उन्होंने लिखा, 'मुक्ति संघर्षों के इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है कि उनके पूर्व सामान्यतः सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का उद्दाम विस्फोट हुआ है, जो क्रमिक रूप से ऐसे सफल या निष्फल प्रयत्न में घनीभूत हो गई हैं जो शोषक की संस्कृति की अस्वीकृति की कार्रवाई द्वारा शोषित जन-

समाज के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने की दिशा में अभिमुख होता है ऐसे समाज की विदेशी प्रभुत्व की अधीनता की स्थितियां चाहे जो हों और इस प्रभुत्व के प्रयोग के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कारक चाहे जैसे भी हों, लेकिन चुनौती का *जो अंकुर मुक्ति आंदोलन की संरचना और विकास के रूप में प्रस्फुटित होता है वह सामान्यतः सांस्कृतिक कारक में ही सन्निहित होता है ' यूनिटी एंड स्ट्रगल,* लंदन 1980, पृ 143 जोर हमारी ओर से

4 फान ग्रुनबाम ने इसलामी सभ्यता के संदर्भ में ऐसा दरशाया है जी ई फान ग्रुनबाम, *माडर्न इसलाम : दि सर्च फार कलचरल आइडेंटिटी,* न्यूयार्क, 1964, पृ 32

5 जे एन फर्कुहार, *माडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इंडिया,* दिल्ली, 1967, पृ 433 साथ ही देखिए आर.सी मजुमदार (स), *ब्रिटिश पैरामाउंटसी एंड इंडियन रिनासां,* जिल्द X, भाग II, बंबई, 1965, पृ 89

6 चार्ल्स एच हेम्सैथ, *इंडियन नेशनलिज्म एंड हिंदू सोशल रिफार्म,* प्रिंसटन, 1964, पृ 46

7 डेविड काफ, *ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म एंड बंगाल रिनासां,* बर्कले, 1969, पृ 1

8 डी पी मुखर्जी, *माडर्न इंडियन कलचर,* 1948, बंबई, पृ 25-28

9 सुशोभन सरकार, 'रवींद्रनाथ टैगोर एंड रिनासां इन बंगाल', *बंगाल रिनासां एंड अदर एसेज,* नई दिल्ली, 1970, पृ 150

10 ए.के भट्टाचार्य, 'अक्षय दत्त, पायनियर आफ इंडियन रिनासां', *दि रैशनलिस्ट एनुअल,* 1962, पृ 29

11 अशोक सेन 'राममोहन एंड बंगाल इकानामी', और सुमित सरकार, 'राममोहन एंड दि ब्रेक विद दि पास्ट', वी सी जोशी (स), *राममोहन एंड दि प्रासेस आफ माडर्नाइजेशन इन इंडिया,* नई दिल्ली, 1975, बरुण दे, 'ए हिस्टोरियोग्रैफिक क्रिटिक आफ रिनासां एनेलाग्स आफ नाइनटींथ सेंचुरी इंडिया', बरुण दे (स), *पर्सपेक्टिव इन सोशल साइंसेज,* कलकत्ता, 1979, और 'दि कोलोनियल कंटेक्स्ट आफ बंगाल रिनासां', सी एच फिलिप एंड मेरी डोरीन वेनराइट (स), *इंडियन सोसायटी एंड दि बिगिनिंग्स आफ माडर्नाइजेशन सर्का 1830–1850,* लंदन, 1976, दीपेश चक्रवर्ती, 'दि कोलोनियल कंटेक्स्ट आफ दि बंगाल रिनासां : ए नोट आन अर्ली रेलवे थिंकिंग इन बंगाल', *दि इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* मई 1974, अशोक सेन, *ईश्वरचंद्र विद्यासागर एंड हिज एल्युसिव माइलस्टोन्स,* कलकत्ता, 1977

12 सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, पृ 154

13 एंटोनियो ग्राम्शी, *सेलेक्शंस फ्राम दि प्रिजन नोटबुक्स,* न्यूयार्क 1971, पृ 9

14 इसका एक उल्लेखनीय अपवाद एडवर्ड शिल्स हैं, जो इस शब्द का प्रयोग 'स्वतंत्र साहित्यकार, सैद्धांतिक और प्रायोगिक दोनों तरह के वैज्ञानिक, विद्वान, विश्वविद्यालय प्राध्यापक, पत्रकार, सुशिक्षित प्रशासक, न्यायाधीश या सांसद' इन सबके लिए करते हैं *दि इंटलेक्चुअल बिटवीन ट्रैडिशन एंड माडर्निटी दि इंडियन सिचुएशन,* हेग, 1961, पृ 9 परंतु शिल्स उन्नत देशों में एक अलग सामाजिक हेतु को लेकर चलने वाले लोगों को एक समूह के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन नव-स्वतंत्र देशों में नहीं 'पालिटिकल डेवलपमेंट इन दि न्यू स्टेट्स', *कंपेरेटिव स्टडीज इन सोसायटी एंड हिस्ट्री,* भाग II, 1960

15 रिचर्ड पाइप्स, 'दि हिस्टोरिकल इवाल्युशन आफ रशियन इंटेलिजेंसिया', रिचर्ड पाइप्स (स), *दि रशियन इंटेलिजेंसिया,* न्यूयार्क, 1961, पृ 48

16 मार्टिन मेलिया, 'व्हाट इज इंटेलिजेंसिया' और बोरिस एल्किन, 'दि रशियन इंटेलिजेंसिया आन दि ईव आफ दि रिवाल्यूशन', रिचर्ड पाइप्स (स), *दि रशियन इंटेलिजेंसिया,* पृ 1–18, 32

17 फिलिप रिफ (स), *आन इंटलेक्चुअल-थियोरेटिकल स्टडीज, केस स्टडीज,* न्यूयार्क, पृ 81 में

उद्धृत. साथ ही देखिए सैयद हुसैन अलतास, *इंटलेक्चुअल्स इन डेवलपिंग सोसाइटीज़,* लंदन, 1977, पृ 8-9

18 चरुण दे, 'ए बायोग्रैफिकल पर्सपेक्टिव आन दि पालिटिकल एंड इकानामिक आइडियाज आफ राममोहन राय', वो सी जोशी (स), *राममोहन एंड दि प्रासेस आफ माडर्नाइजेशन,* पृ 14

19 राममोहन के मित्र और प्रशसक लैंट कैपेंटर ने लिखा है . 'अपने पिता के घर उन्होंने देशी शिक्षा के प्राथमिक तत्व ग्रहण किए और फ़ारसी भी सीखी उसके बाद उन्हें अरबी पढने के लिए पटना भेज दिया गया और अत मे हिंदुओं को पवित्र भाषा सस्कृत सीखने के लिए बनारस पटना में उनके शिक्षकों ने अरस्तू और यूक्लिड के लेखन के कुछ अरबी अनुवादों का अध्ययन करने के लिए भेजा सभव है कि इस प्रकार उन्हें जो प्रशिक्षण दिया गया उससे उनकी बुद्धि में सतुलन और तर्क-शक्ति आई उधर मुसलमानों मे उन्होंने उनके धर्म के बारे में जो ज्ञान प्राप्त किया उसमे उन्हें उस धर्म की ऐसी गहरी छानबीन करने की क्षमता प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप उन्होंने अत में उसमें उसकी प्रारंभिक सादगी को फिर से प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया ' रमाप्रसाद चद और यतींद्रकुमार मुखर्जी (स), *सेलेक्शन फ्राम आफिशियल लेटर्स एंड डाक्युमेंट्स रिलेटिंग टु दि लाइफ आफ राजा राममोहन राय,* कलकत्ता, 1938, पृ XXX

20 *तुहफात* मे राममोहन ने सैद्धांतिक और सामान्य धरातल पर धर्म के उद्‌भव और धार्मिक प्रणाली के स्वरूप पर विचार किया उन्होंने कुरान के भरपूर उद्धरण दिए, और उनकी दलीलें इसलामी परपरा के अतर्गत बुद्धिवादी विवेचन से मेल खाती थीं जे सी घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* इलाहाबाद, 1906, पृ 941-58

21 राममोहन ने बहुत देर से 1796 में अंग्रेजी सीखना आरंभ किया और जब 1801 में विलियम डिग्बी उनसे मिले तब 'वे अंग्रेजी इतनी अच्छी बोल लेते थे कि उनकी बात समझ में आ जाए, लेकिन उसे खास शुद्ध नहीं लिख सकते थे ' सोफिया डाब्सन कालेट, *लाइफ एंड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय,* कलकत्ता, 1962, पृ 24

22 'स्रोत की ओर वापसी', इस अवधारणा का प्रयोग कैब्रेल ने औपनिवेशिक सस्कृति और प्रभुत्व के प्रत्युत्तर के अर्थ में किया है 'स्रोत की ओर वापसी' विदेशी प्रभुत्व (औपनिवेशिक और नस्लवादी) के खिलाफ *संघर्ष* नहीं है और न हो सकता है, और अब इसका मतलब जरूरी तौर पर परपरा की ओर वापसी ही नहीं है यह लघु बुर्जुआ द्वारा पराधीन जन-समाज की संस्कृति के मुकाबले प्रभुत्वशाली शक्ति की सस्कृति की श्रेष्ठता के दावे की अस्वीकृति है और उस लघु बुर्जुआ को उस पराधीन जाति की सस्कृति से अपने को जोडना होता है *रिटर्न टु दि सोर्स : सेलेक्टेड स्पीचेज़ आफ आमिलकर कैब्रेल,* न्यूयार्क, 1973, पृ 63

23 कुछ धर्मग्रंथों मे वर्णित शरीर-रचना की सत्यता की जांच करने के लिए उन्होंने गढमुक्तेश्वर में एक शव की चीरफाड़ की. जब उन्होंने देखा कि उन ग्रथों मे किया गया शरीर का वर्णन चीरफाड के परिणामों से बिलकुल मेल नहीं खाता है तो उन्होंने उस शव के साथ उन ग्रंथों को भी नदी में फेंक दिया के सी यादव (स), *आटोबायोग्राफी आफ दयानद सरस्वती,* दिल्ली, 1976, पृ 38

24 जे टी.एफ जोर्डन्स, *दयानद सरस्वती : हिज लाइफ एंड आइडियाज,* दिल्ली, 1978, पृ 33-39

25. कार्ल मार्क्स, *थियरीज आफ सरप्लस वैल्यू,* जिल्द 2, पृ 117-18.

26 हमजा अलवी, 'दि स्टेट इन पोस्ट-कोलोनियल सोसाइटीज : पाकिस्तान एंड बांग्लादेश', *न्यू लेफ्ट रिव्यु,* अक 74, जुलाई-अगस्त 1972, पृ. 61.

27 सैयद हुसैन अलतास ने दिखलाया है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान किस प्रकार मलेशिया के देशी बाशिंदों के आलस्य के मिथक की सृष्टि हुई सैयद हुसैन अलतास, *दि मिथ आफ दि लेज़ी*

नेटिव, लंदन, 1977 प्रसिद्ध फिलीपिनी देशभक्त और शहीद तथा अपने युग के एक प्रमुख बौद्धिक व्यक्ति जोस रिजाल इस ओर ध्यान आकृष्ट करने वाले पहले लोगों में से थे उनका कहना था कि फिलीपिनो लोगों की सुस्ती पैतृक नहीं, बल्कि ऐतिहासिक कारणों की उपज है ई आलजोना (स), *सेलेक्टेड एसेज एंड लेटर्स आफ जोस रिजाल,* मनीला, 1964 भारत में भी भारतीयों का पाखंड, बेईमानी और अविश्वसनीयता उसकी आत्म-छवि के अंग औपनिवेशिक काल में बने आज अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजन वर्ग आम जनता के इन दोषों को मानने के लिए हमेशा तैयार बैठा रहता है राममोहन को इस बात का एहसास था कि भारतीयों ने इन दोषों को कैसे ग्रहण किया. 'बड़े-बड़े शहरों, मुख्य स्टेशनों और अदालतों से दूर निवास करने वाले किसान और ग्रामीण लोगों का आचरण किसी भी अन्य देश के लोगों के आचरण से कम सरल, संयमित और नैतिक नहीं है', इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए उन्होंने कहा "नगरों, शहरों या स्टेशनों के निवासियों का अदालतों में, जमींदारों के यहां और विदेशियों तथा सभ्यता की एक अलग अवस्था में जीने वाले अन्य लोगों के साथ संपर्क होता है और फलत वे आम तौर पर उनकी आदतें और विचार ग्रहण कर लेते हैं इसलिए उनके धार्मिक विचार डगमगा जाते हैं और कोई अन्य सिद्धांत उनका स्थान भी नहीं ले पाते नतीजतन इनमें से बहुत सारे लोग चरित्र की दृष्टि से प्रथम वर्ग के लोगों (ग्रामीणों तथा किसानों)की अपेक्षा हीन होते हैं और अक्सर उन्हें गलतबयानी और जालसाजी के जघन्य कार्यों का औजार बनाया जाता है " घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 296-97 भारत में प्रचलित मटमूल और गलत औपनिवेशिक धारणाओं के एक दिलचस्प अध्ययन के लिए देखिए ज्ञानेंद्र पांडे, 'दि बाइगाटेड जुलाहा', *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली,* जिल्द XVIII, अंक 5, 29 जनवरी 1983, इस आलेख का एक परवर्ती पाठ उनकी कृति *दि कान्स्ट्रक्शन आफ कम्युनिज्म इन कोलोनियल नार्थ इंडिया,* नई दिल्ली, 1990 में प्रकाशित हुआ है

28 ई कर्टिस और जान डब्ल्यू पेट्रास (स), *दि सोशियालोजी आफ नालेज : ए रीडर* लंदन, 1970, पृ 7

29 राममोहन राय, 'एन अपील टु दि किंग इन काउंसिल', घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 446-47, वीरेशलिंगम, *कंप्लीट वर्क्स* (तेलुगु), राजामुंद्री, 1951, पृ 9, केशवचंद्र सेन, *लेक्चर्स इन इंडिया,* लंदन, 1904, पृ 320, और टी वी पर्वते, *महादेव गोविंद रानाडे : ए बायोग्राफी,* बंबई, 1963, पृ 226

30 उदाहरण के लिए, केशवचंद्र ने कहा "यह मनुष्य का कार्य नहीं है, बल्कि ईश्वर का है, जिसे वह ब्रिटिश राष्ट्र का इस्तेमाल अपने औजार की तरह करते हुए अपने हाथों से कर रहा है " *केशवचंद्र सेन इन इंगलैंड,* कलकत्ता, 1938, पृ 90

31 घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 367.

32 राममोहन राय, 'फाइनल अपील टु दि क्रिश्चियन पब्लिक', वही, पृ 284

33 वही, पृ 284

34 वही, पृ 285

35 वही, पृ 284

36 गौतम चट्टोपाध्याय (स), *अवेकनिंग इन बंगाल इन दि अर्ली नाइनटींथ सेंचुरी,* कलकत्ता, 1965, पृ XIV

37 *बंगाल हरकारा,* अक्तूबर 1841, जिसे गौतम चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित *बंगाल : अर्ली नाइनटींथ सेंचुरी,* कलकत्ता, 1978, पृ XII में उद्धृत किया गया है

38 कैलाशचंद्र दत्त, *'ए जर्नल आफ 48 आवर्स आफ दि ईयर 1945',* *कलकत्ता लिटरेरी गजट,* 6 जून 1835, वही, पृ XL में से उद्धृत

39 मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 74
40. भास्कर पांडुरंग तरकडकर के विचारों के सामान्य सर्वेक्षण के लिए देखिए जे वी नाइक, 'एन अर्ली एप्रेजल आफ दि ब्रिटिश कोलोनियल पालिसी', *जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ बांबे,* जिल्द XLIV-XLV, अंक 80-81, 1975-76
41 'ए लेटर फ्राम ए हिंदू', 18 जुलाई 1841, *बांबे गजट* 30 जुलाई 1841, जिल्द LIII, न्यू सिरीज, अंक 25, पृ 103
42 'अपने देशभाइयों के प्रति आपका पक्षपात इतहाई है और ऐसे अवसर कोई विरल नहीं होते जब हम देखते हैं कि अपने देशभाई को जान बचाने के लिए या उसकी सजा को कम करने के लिए आप अपनी अंतरात्मा को बलि चढा देते हैं और अपने कानून को अपने पैरों तले रौंद डालते हैं तथा अन्य सारे विवेकों को दरकिनार कर देते हैं, चाहे उसका अपराध जितना भी जघन्य क्यों न हो और चाहे वह कड़ी सजा पाने का जितना भी भागी क्यों न हो ' *बांबे गजट,* 30 जुलाई 1841, अंक 25, पृ 103
43 *बांबे गजट,* 18 अगस्त 1841, अंक 37, पृ 138
44 वही
45 सुशोभन सरकार (सं), *राममोहन आन इंडियन इकानामी,* कलकत्ता, 1965, पृ 9
46 मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 74, और एम के हालदार, *रिनासां एंड रिएक्शन इन नाइनटींथ सेंचुरी बंगाल,* कलकत्ता, 1965 हालदार की पुस्तक का शीर्षक भ्रामक है यह बंकिम के *साम्य* का अनुवाद है और लेखक ने अपनी ओर से एक भूमिका जोड दी है.
47 बंकिम के विचारों के अच्छे विवेचन के लिए देखिए बी एन गांगुली, *कंसेप्ट आफ इक्वलिटी : दि नाइनटींथ सेंचुरी इंडियन डिबेट,* शिमला, 1975
48 राममोहन राय, एपेंडिक्स टु 'क्वेश्चंस एंड आनसर्स आन रेवेन्यू सिस्टम आफ इंडिया', घोष (सं), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 311 में उद्धृत
49 *बांबे गजट,* 30 जुलाई 1841, अंक 25, पृ 103
50 *बांबे गजट,* 20 अगस्त 1841, अंक 46, पृ 174-75.
51 *बांबे गजट,* 18 अगस्त 1841, अंक 37, पृ 138-39
52 नाइक कृत 'एन अर्ली एप्रेजल' में उद्धृत
53 वही.
54 मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 202.
55 यह दलील दी गई है कि उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जन धर्म को समाज का आधार मानते थे. एस.एन मुखर्जी, 'दि सोशल इंप्लिकेशन आफ दि पालिटिकल थाट आफ राजा राममोहन राय', आर.एस. शर्मा और वी झा (सं), *इंडियन सोसायटी : हिस्टोरिकल प्रोबिंग्स,* नई दिल्ली, 1974, पृ 372 में उद्धृत. मुखर्जी ने राममोहन के विचारों का गलत अर्थ लगाया है और उसी को अपनी दलील का आधार बनाया है. दरअसल राममोहन यह बता रहे थे कि किस प्रकार धर्म का उद्भव संपत्तिक अधिकारों और सबकों की रक्षा की सामाजिक आवश्यकता से हुई, राममोहन राय, *तुहफत-उल-मुवाहिदीन,* घोष द्वारा संपादित *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 947 इस संदर्भ में उन्नीसवीं सदी में धर्मग्रंथों की व्याख्या और उपयोग, खास तौर से राममोहन, विद्यासागर, बंकिमचंद्र और विवेकानंद द्वारा की गई व्याख्या और उपयोग, भी महत्वपूर्ण हैं.
56. अमिलकर कैब्रेल, 'दि रोल आफ कलचर इन दि स्ट्रगल फार इंडिपेंडेंस', नस्ल, पहचान और गरिमा की अवधारणा पर पेरिस में 3-7 जुलाई 1972 को आयोजित 'यूनेस्को' कांफ्रेंस में प्रस्तुत आलेख

57 औपनिवेशिक भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के विवेचन में नवजागरण नमूने से उधार लेने की प्रवृत्ति बहुत अधिक रही है यह नमूना भारतीय परिस्थिति पर कहां तक लागू किया जा सकता है, इस सवाल पर हाल में कुछ ध्यान दिया गया है देखिए वरुण दे, *पर्सपेक्टिव्स इन सोशल साइंसेज,* और रजत राय, 'मेन, वुमेन एंड दि नावेल - दि राइज आफ ए न्यू कांशसनेस इन बंगाल, 1858-1947', *दि इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* जिल्द XVI, अंक 1, जनवरी-मार्च 1979

58 कैब्रेत, *रिटर्न टु दि सोर्स,* पृ 63

59 *अक्षयकुमार दत्त, तत्त्वबोधिनी पत्रिका के शक संवत 1768, अंक 36, पृ 309-11 में*

60 उदयचंद आद्या, 'ए प्रोपोजल फार दि प्रापर कल्टिवेशन आफ दि बंगाली लैंग्वेज एंड इट्स नैसेसिटी फार दि नैटिव्स आफ दि कंट्री', चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित, *अवेकनिंग इन बंगाल* के पृ 26 में

61 शाह मोहम्मद (सं), *राइटिंग्स एंड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खां,* बंबई, 1972, पृ 231-32

62 उन्नीसवीं सदी के शिक्षा संबंधी विचारों और उनके फलितार्थों के विवेचन के लिए देखिए इसी पुस्तक का पहला आलेख

63 चट्टोपाध्याय (सं), *अवेकनिंग इन बंगाल,* पृ XXX.

64 डेविड काफ, *ब्राह्मो समाज एंड दि शेपिंग आफ दि माडर्न इंडियन माइंड,* प्रिंसटन, 1979

65 कौंसिल का उद्देश्य 'प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयी शिक्षा की प्रचलित प्रणाली के विरोध में नहीं बल्कि उससे अलग रहते हुए, साहित्यिक और साथ ही वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा राष्ट्रीय पद्धति पर और पूर्ण रूप से राष्ट्रीय नियंत्रण में देना' था. उमा और हरिदास मुखर्जी, *दि ओरिजिंस आफ दि नेशनल एजुकेशन मूवमेंट,* कलकत्ता, 1959, पृ 44

66 वही, पृ 230

67 इन प्रयत्नों के संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए देखिए काफ, *ब्राह्मो समाज*

68 मुहम्मद मोहर अली, *दि बंगाली रिएक्शन टु क्रिश्चियन मिशनरी एक्टिविटीज,* चटगांव, 1965, पृ 117 36 और एस.आर. मेहरोत्रा, *दि इमर्जेंस आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस,* दिल्ली, 1971, पृ 47-50

69 वही पृ 47

70 मोहर अली, *दि बंगाली रिएक्शन,* पृ 130

71 मेहरोत्रा *इमर्जेंस आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस,* पृ 44 में उद्धृत.

72 वही, पृ 48

73 तिनेवेल्ली दंगे का मामला इसका अच्छा उदाहरण है लगभग एक सौ हिंदुओं को, जिन पर मिशनरी-विरोधी दंगे में भाग लेने का आरोप लगाया गया, स्थानीय मजिस्ट्रेट ने जेल भेज दिया लेकिन अपील करने पर सत्र न्यायाधीश ने उन्हें बरी कर दिया मद्रास के गवर्नर को न्यायाधीश का यह फैसला अच्छा नहीं लगा और उसने उसे तिनेवेली से स्थानांतरित कर दिया देखिए रावर्ट एरिक फ्राइकेनबर्ग, 'दि इंपैक्ट आफ कनवर्शन एंड सोशल रिफार्म अपोन सोसायटी इन साउथ इंडिया ड्यूरिंग दि लेट कंपनी पीरियड क्वेश्चन्स कंसर्निंग हिंदू-क्रिश्चियन एनकाउंटर्स विद स्पेशल रेफरेंस टु तिनेवेल्ली', फिलिप और मेनराइट (सं), *इंडियन सोसायटी एंड दि बिगिनिंग्स आफ माडर्नाइजेशन,* पृ 187-243

74 कई अधिकारियों ने स्कूली पाठ्यक्रम में बाइबिल की कक्षाएं आरंभ करने की हिमायत की. बाइबिल को अंग्रेजी की एक पाठ्य पुस्तक बनाकर ट्विडेल लार्ड ने उसे दाखिल कर दिया अपने विवादास्पद 'बाइबिल मिनट' में उसने दर्ज किया "मुझे तो यही एक तरीका मालूम है जिसके जरिए देशी

लोगों को उन विज्ञानों का व्यावहारिक ज्ञान दिया जा सकता है जिनसे वे तमाम ऊंचे गुण जन्म लेते हैं जिनको उन लोगों के चरित्र की खूबियों के तौर पर वे इतनी अधिक प्रशंसा करते हैं जिन्हें ईश्वर ने उन पर शासन करने के लिए नियुक्त किया है.' मेहरोत्रा कृत *इमर्जेंस आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस,* पृ 40 में उद्धृत.

75 मोहर अली, *दि बंगाली रिएक्शन,* पृ 101-16

76 *हरकारू,* 13 दिसंबर 1847

77 11 नवंबर 1839 को फोर्ट सेंट जार्ज के गवर्नर जान एल्फिन्स्टन को दिया गया प्रार्थनापत्र, पी.जे टामस, *दि ग्रोथ आफ हायर एजुकेशन इन सदर्न इंडिया,* मद्रास, तिथिरहित, पृ 5

4. संस्कृति और विचारधारा

औपनिवेशिक भारत मे बौद्धिक क्षेत्र मे घटित परिवर्तनों के केंद्र में सास्कृतिक-विचारधारात्मक सघर्ष थे, जो एक साथ दो धरातलों पर चल रहे थे : एक ओर पारंपरिक व्यवस्था के विचारधारात्मक आधार के खिलाफ और दूसरी ओर औपनिवेशिक वर्चस्ववाद के विरुद्ध। उपनिवेशवादियों की विजय ने पारपरिक व्यवस्था की कमजोरियों को और उसकी सस्थाओं में सुधार तथा नवजीवन के संचार की आवश्यकता को रेखांकित किया। हालांकि औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रस्तुत पश्चिमी नमूने में विकल्प की तजवीज नहीं की गई, जिसका मुख्य कारण भारतीयों के मन में घर कर गई यह आशका थी कि औपनिवेशिक राज्य का सास्कृतिक तथा बौद्धिक अभियान उसके राजनीतिक नियत्रण का एक औजार है। पारपरिक संस्कृति पश्चिमी दुनिया द्वारा उपस्थित की गई चुनौती का मुकाबला करने की दृष्टि से अपर्याप्त लगती थी लेकिन औपनिवेशिक वर्चस्ववाद मे तो स्वय परंपरा को ही नष्ट कर देने की प्रवृत्ति थी। इसलिए दोनों के खिलाफ एक सघर्ष खड़ा हो गया, जिसने औपनिवेशिक भारत की बौद्धिक परिस्थिति को रूपाकार दिया।

भारतीय समाज के भविष्य को रूपाकार देने का बौद्धिक प्रयत्न, जो इस द्वैध सघर्ष पर आधारित था, परपरा तथा आधुनिकता के प्रति अपने रुख में ढुलमुल और बहुधा तो अतर्विरोधपूर्ण स्थिति में बना रहा। पराधीन जाति का अपने इतिहास के अविच्छिन्न विकास के दावे को पुन. प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न उसकी परंपरा की शक्ति पर ही आधारित हो सकता है। इसलिए अतीत पर जोर देने, और अगर अमिलकर कैब्रेल के मुहावरे का प्रयोग करे तो 'स्रोत की ओर वापसी'[1] का मतलब जरूरी तौर पर प्रगति की समकालीन शक्तियों के मुकाबले अतीत को फिर से जीवित करना नहीं था। इसी तरह, आधुनिकता का मतलब भी अतीत की अस्वीकृति नहीं थी, क्योंकि परपरा आधुनिकता को साकार करने का एक शक्तिशाली औजार था। सच तो यह है कि उपनिवेशीकृत जाति के लिए इतिहास ने अतीत और भविष्य के बीच भेद की स्पष्ट रेखा खींचने की कोई संभावना ही प्रस्तुत नहीं की। फलतः अतीत और भविष्य की उनकी अवधारणाएं ऐसी थीं जो एक-दूसरे का अतिक्रमण करती थीं। सास्कृतिक-विचारधारात्मक सघर्षों का मार्ग और स्वरूप दोनों इस अतिक्रमणशीलता से उत्पन्न

दुलमुलपन और अनिश्चितता से प्रभावित हुए; और ऐसा ही बौद्धिक रूपांतरण के साथ भी हुआ, जिसने इन संघर्षों से अपनी खुराक हासिल की।

बौद्धिक समुदाय की रचना

सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्षों के विकास में बुद्धिजीवी वर्ग से भिन्न और क्षेत्रीय, धार्मिक और जातिगत सीमाओं से परे बौद्धिक जनों (इटलेक्चुअल्स) के एक समुदाय की रचना का निर्णायक महत्व था।[7] औपनिवेशिक शासन द्वारा सृजित वस्तुगत स्थितियों से उसकी रचना का तो मार्ग प्रशस्त हुआ, परंतु उसे एक सक्रिय समुदाय के रूप में एकीकृत करने का काम सबकी शिरकत वाले सामाजिक-राजनीतिक प्रयत्नों ने किया। इस समुदाय के अंदर जो जुड़ाव पैदा हुआ वह राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के सक्रिय चरण में ही हुआ। हालांकि उसकी रचना की प्रक्रिया बहुत पहले, उन्नीसवीं सदी के लगभग शुरुआती दिनों में ही आरंभ हो गई थी, जब सामाजिक-सांस्कृतिक उपक्रमों के फलस्वरूप व्यक्तियों का अलगाव मिट चला था और आरंभ में क्षेत्रीय स्तर पर तथा बाद में राष्ट्रीय धरातल पर संपर्क के सूत्र स्थापित हो गए थे। यह एकीकरण कोई समान सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों का परिणाम नहीं था; विचारों के भेदों से भी इस प्रक्रिया में उतनी ही मदद मिली, क्योंकि सभी बौद्धिक जनों का उद्देश्य समाज में नवजीवन का संचार करना था। इसलिए जब वे लोग अलग-अलग विचारों के साथ आपस में बहस करते थे तब भी वे एक ऐसे समुदाय के अंग बनते जा रहे थे जो समाज के कायाकल्प के लिए प्रतिबद्ध था।

उन्नीसवीं सदी के दौरान सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर चलने वाले संघर्षों की श्रृंखला ने बौद्धिक जनों को एक साथ लाने का काम किया, चाहे उनका यह साथ विरोधियों का साथ रहा हो या सहयोगियों का। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक हिस्से में बंगाल में सती प्रथा के उन्मूलन को लेकर चलने वाली बहस से लेकर उस सदी के अंतिम दशकों में विवाह वय विधेयक को लेकर छिड़े विवाद के बीच कई सार्वजनिक प्रश्न उन सबका सरोकार बन गए। धर्मांतरण-विरोधी अभिवेदन, मूर्तिपूजा-विरोधी प्रार्थनापत्र, लेक्स लोसी अधिनियम, विधवा विवाह अधिनियम और सिविल विवाह अधिनियम इसके चंद उदाहरण हैं। इन प्रश्नों पर चलने वाले आंदोलनों के दौर में स्थानीय तथा क्षेत्रीय बौद्धिक समुदायों की रचना और अंत में एक राष्ट्रीय समुदाय की दिशा में उनका संक्रमण देखा जा सकता है।

बौद्धिक जनों के समुदाय की आरंभिक रचना उन सामाजिक-सांस्कृतिक संगठनों और स्वैच्छिक संघो के इर्द-गिर्द हुई जिनमें औपनिवेशिक भारत की आरंभिक बौद्धिक उथल-पुथल की अभिव्यक्ति हुई। सामाजिक-धार्मिक सुधारों में जुटे जाने-माने संगठनों के अलावा, कई अन्य छोटे और बहुधा अल्पायु लेकिन फिर भी स्थानीय स्तर पर संबंध-

सूत्र स्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण संगठन भी थे। उनमें से अधिक महत्वपूर्ण कलकत्ता के अकादमिक एसोसिएशन और सोसायटी फार दि एक्विजिशन आफ जनरल नालेज, बंबई की स्टूडेंट्स लिटेररी एंड साइंटिफिक सोसायटी तथा ज्ञान-प्रसारक सभा एवं मद्रास की लिटेरेरी सोसायटी थी।

औपनिवेशिक अधिकारियों तथा सिद्धांतकारों द्वारा स्थापित ऐसे बहुत से स्वैच्छिक संघ भी थे जिन्होंने औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के प्रचार के माध्यमों का काम किया, और उसमें भारतीय बौद्धिक जनों ने भी शिरकत की। भारतीयों द्वारा स्थापित संघों के विपरीत, इन संघों ने अंतर्सामुदायिक संपर्क को संभव बनाया। उदाहरण के लिए, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी में 1818 में चार हिंदू और चार मुसलमान शामिल थे।[3] यही बात विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं पर—जैसे हार्टिकलचरल सोसायटी आदि पर—भी लागू होती थी। लेकिन इन संस्थाओं में शिरकत करने से भारतीय सदस्यों की समझ में यह बात आई कि जब वे अंग्रेजों के साथ देखने में समानता के धरातल से काम कर रहे होते हैं तब भी उनकी स्थिति अधीनता की ही होती है। रामगोपाल घोष के साथ हार्टिकलचरल सोसायटी में और राजेंद्रलाल मित्र के साथ फोटोग्रैफिक सोसायटी में जैसा व्यवहार किया गया वह इसका अच्छा उदाहरण है। रामगोपाल को अंग्रेजों के विचारों का विरोध करने के लिए सोसायटी से निकाल दिया गया और राजेंद्रलाल मित्र को भारत में गैर-सरकारी यूरोपियों की आलोचना करने के कारण संस्था से निवृत्त हो जाने के लिए कहा गया।[4] भारत स्थित गोरों ने भारतीयों की सक्रिय भागीदारी के साथ 'देशी' पुस्तकालयों को स्थापित करने तथा बढ़ावा देने में भी दिलचस्पी ली।[5] औपनिवेशिक विचारधारा के प्रचार के हथकंडे होते हुए भी इन संस्थाओं ने बौद्धिक आदान-प्रदान के लिए एक उपयोगी मंच सुलभ कराया। सच तो यह है कि सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाने वाले बहुत से लोगों को सार्वजनिक कार्य की दीक्षा इन्हीं संस्थाओं में मिली थी।

ये संस्थाएं हालांकि आपसी संपर्क के लिए अवसर उपलब्ध कराने की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं, लेकिन बौद्धिक समुदाय की रचना के नजरिए से ज्यादा अहम सामाजिक-सांस्कृतिक मसलों पर चलने वाली वास्तविक हलचलें और आंदोलन थे। औपनिवेशिक भारत में इसका सबसे प्रारंभिक उदाहरण सती प्रथा के उन्मूलन पर छिड़ा प्रसिद्ध विवाद है। इसके फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दौर के भारत के दो महत्वपूर्ण बौद्धिक व्यक्ति, राधाकांत देव तथा राममोहन राय और उनके समर्थक, जो आम तौर पर क्रमशः 'रूढ़िवादी' और 'सुधारवादी' कहलाते थे हालांकि जिनका यह वर्णन हमेशा उपयुक्त ही नहीं होता था, खुलेआम एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हो गए। राममोहन ने 1818 में दो पत्रकों के माध्यम से अभियान आरंभ किया। इनमें उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक मसलों को सती के एक हिमायती तथा एक विरोधी के बीच संवाद के रूप में उठाया।

यह अभियान कलकत्ता के बुद्धिजीवी वर्ग के बीच अभूतपूर्व बहस का आरंभ था।[6] सती के उन्मूलन की हिमायत करने में राममोहन ने अपनी दलीलों का आधार धर्म ग्रंथों के प्रमाणों और साथ ही मानवीय प्रश्नों को भी बनाया।[7] उनके विरोधी पारंपरिक रीति-रिवाजों में परिवर्तन करने के प्रयत्न को लेकर अधिक चिंतित दिखाई देते थे। लेकिन ध्यान देने की बात है कि 'रूढ़िवादी' नेता खुद अपने परिवारों में सती प्रथा का पालन नहीं करते थे। एक राय यह है कि जिस प्रकार बाद में तिलक के संबंध में देखने को मिला उसी प्रकार राधाकांत देव भी इस बात को लेकर अधिक चिंतित थे कि जो परिवर्तन किए जा रहे हैं वे विदेशी हस्तक्षेप से किए जा रहे हैं। यह राय ध्यान देने योग्य है, खास तौर से इसलिए कि वे स्त्रीशिक्षा जैसे प्रगतिशील प्रयत्नों के हिमायती थे।[8] उनके कई समर्थकों को स्त्रीशिक्षा के संबंध में उनका रुख नापसंद था और इसलिए वे उनके दल से हट भी गए।[9] अपने उपयोगितावादी रुझानों के बावजूद स्वयं राममोहन को यह बात ज्यादा पसंद थी कि परिवर्तन की प्रेरणा अंदर से उठे।

सती प्रथा को लेकर चलने वाले आंदोलन की लामबंदी की संभावना मुख्य रूप से बंगाल तक सीमित थी; फिर भी उससे सामाजिक रूपांतरण के कुछ बुनियादी मसले खड़े हुए, जो भारत भर के बौद्धिक जनों के लिए एक आम सरोकार बन गए। इस अर्थ में सती प्रथा पर चलने वाली बहस केवल क्षेत्रीय ही नहीं बल्कि 'राष्ट्रीय' बौद्धिक समुदाय की शुरुआत थी। उससे दो प्रश्न उठे—एक तो था प्रचलित सामाजिक आचार-व्यवहारों को बदलने के लिए धर्मग्रंथों की व्यवस्था की पूर्व-शर्त का प्रश्न और दूसरा सामाजिक-सांस्कृतिक मामलों में राज्यों के हस्तक्षेप की वांछनीयता का प्रश्न।

उन्नीसवीं सदी के दौरान ये दोनों प्रश्न तीनों प्रांतों में विधवा विवाह तथा ईसाई बन जाने वाले हिंदुओं को पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार देने के मसलों से संबंधित बहस का अंग बन गए।

हालांकि विधवा विवाह आंदोलन अखिल भारतीय आधार पर नहीं चलाया जा रहा था[10] फिर भी उससे संबंधित बहस का स्वरूप अखिल भारतीय हो गया। बंबई, बंगाल तथा मद्रास में बहस अखबारों के माध्यम से चली, जिससे इस उद्देश्य के समर्थकों और विरोधियों को एक ही तरह की दलीलों का सहारा लेने की सुविधा मिली।[11] विद्यासागर के प्रसिद्ध प्रबंध 'मैरिज आफ हिंदू विडोज' के 1856 में प्रकाशित होने के बहुत पहले ही भोपाल के सिहोर नामक कसबे के निवासी सूबाजी बापू तथा पुणे के एक ब्राह्मण पंडित के मराठी में लिखे दो पत्रक प्रकाशित हो चुके थे। सूबाजी बापू ने अपना निबंध बाल शास्त्री जांबेकर द्वारा संपादित *बांबे दर्पण* में 1835 में प्रकाशित पत्रों की एक श्रृंखला के उत्तर में लिखा था।[12] बापू ने विधवा विवाह को स्त्रियों की सामान्य मुक्ति के अंग के रूप में देखा और इसलिए स्त्रीशिक्षा के महत्व पर जोर दिया।[13] पुणे के पंडित ने विधवा विवाह का पक्ष-पोषण मुख्य रूप से मानवीय भावनाओं

को ध्यान में रखकर किया।[14] इन पत्रकों पर चलने वाली सार्वजनिक बहस में धर्मग्रंथों के प्रमाण का उपयोग किया गया। पंडितजी की दलीलों का जिक्र करते हुए दर्पण में लिखा गया :

> हमें दु ख के साथ कहना पड़ता है कि अपने पूरे निबंध में वे अपने विचार के समर्थन में शास्त्रों का एक भी प्रमाण नहीं दे पाए हैं ... शास्त्रों से दिया गया एक ठोस प्रमाण इन तमाम उद्धरणों से सौ गुना अधिक मूल्यवान होता ... हमें शास्त्रों से प्रमाण चाहिए, और चूंकि ऐसे प्रमाण नहीं दिए जा सकते इसलिए इस प्रथा में निहित कठिनाई तथा असुविधा के आधार पर विद्वान शास्त्रीजी ने जिस प्रकार अपनी बात सिद्ध करने की कोशिश की है वह तो साध्य को ही सिद्ध मानकर चलने जैसा है। इस लेखक के पांडित्य और शोध का कोई हमसे बड़ा प्रशंसक नहीं है, और हमें मालूम है कि हम जो कमी देख रहे हैं वह और किसी कारण की अपेक्षा उनके विचार के समर्थन में प्रमाण के अभाव से उपजी है।[15]

विधवा विवाह में उसके पक्षधरों तथा विरोधियों के बीच विवाद का मुख्य मुद्दा यह था कि क्या उसे शास्त्रों से समर्थन मिलता है ? उसके पक्षधरों—बंगाल में विद्यासागर और देवेंद्रनाथ ठाकुर, महाराष्ट्र में विष्णु शास्त्री पंडित और विष्णु बाबा ब्रह्मचारी तथा मद्रास में रघुनाथ राव और वीरेशलिंगम—का कहना था कि हम कोई ऐसा कदम उठाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं जिसे धार्मिक स्वीकृति प्राप्त न हो।[16] ठीक इसी बात की मुखालफत विरोधी कर रहे थे और उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि हिंदू धर्मग्रंथों में ऐसा कुछ नहीं है जो सुधारकों के पक्ष का समर्थन करे।[17] इस प्रकार धर्मग्रंथों का प्रमाण दोनों को स्वीकार्य था, अंतर सिर्फ व्याख्या का था।

इस संबंध में भी काफी सहमति थी कि यदि मौजूदा सामाजिक रीति-रिवाजों को सुधारना है तो मानसिक और भौतिक बदलाव लाना जरूरी है। राममोहन पहले ही यह दलील दे चुके थे कि स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार दिए बिना उनकी अवस्था में कोई सारभूत सुधार नहीं हो सकता।[18] उन्होंने उनकी 'हीनता' के मुख्य कारण के रूप में शिक्षा के अभाव का भी निर्देश किया था।[19] इस प्रकार, बुर्जुआ पितृसत्तात्मक ढांचे के अंतर्गत ही सही लेकिन आमतौर पर सभी सुधारकों की सामान्य दृष्टि नारी-मुक्ति की थी। *हिंदू पैट्रिअट* ने सामाजिक रीति-रिवाजों में बदलाव लाने की एक पूर्व-शर्त के तौर पर शिक्षा के महत्व पर जोर देते हुए लिखा : "हम सिर्फ यह चाहते हैं कि यह अत्यधिक वांछनीय सुधार (विधवा विवाह) शिक्षा में से विकसित हो और हमारे देश की स्त्रियों के बीच ज्ञान के प्रचार से प्रतिफलित हो।"[20]

विधवा विवाह के प्रति विरोध भी इसी तर्क-भूमि पर आधारित था : अलग-अलग सुधार प्रभावकारी और सफल सिद्ध हों, इसके लिए अनुकूल वातावरण का होना जरूरी

है, क्योंकि अन्यथा वे अपरिपक्व प्रयत्न साबित होंगे और उनसे 'घरेलू हलके में बहुत अशांति और मतभेद खड़े हो जाएंगे।'[21] *हिंदू इंटेलीजेंसर* मे, जो विधवा विवाह पर कानून बनाया जाना पसंद नहीं करता था, इस विचार को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया :

> विद्वान पंडित (विद्यासागर) द्वारा उद्धृत पराशर-स्मृति के उस अवतरण से, जिसकी वैसी अलग-अलग व्याख्याएं की जा सकती हैं जैसी कि की गई हैं, लगभग हजार साल पुरानी प्रथा एकाएक खारिज नहीं हो सकती। बीज का कोई परिणाम तभी निकलेगा जब वह सही जमीन में गिरे। लोकमत को परिवर्तन के लिए परिपक्व होना चाहिए। .हमें लगता है कि हमारी विधवाओं के विवाह का रास्ता क्रमिक रूप से ही तैयार किया जा सकता है, जिसके लिए सबसे पहले स्त्रियों को शिक्षित और जाग्रत करना होगा, और यह काम चुपचाप, बिना किसी शोर-शराबे के किया जाना चाहिए। जब तक यह प्रारंभिक कदम नहीं उठाया जाता है और स्त्रियों के मन को ज्ञान के प्रकाश से नहीं भरा जाता है तब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था में विधवा विवाह जैसा महान परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना बेकार है।[22]

इस प्रकार, 'सुधारकों' तथा 'रूढ़िवादियों' दोनों की राय 'जमीन तैयार करने' के मुद्दे पर आकर एक हो गई। यही कारण है कि राधाकांत देव ने विधवा विवाह आंदोलन का विरोध करने के साथ ही स्त्रीशिक्षा के निमित्त बेथुन के प्रयत्नों का समर्थन किया।[23]

विधवा विवाह की बहस में स्त्री-मुक्ति के बुनियादी सवाल और औपनिवेशिक भारत में विद्यमान स्थितियों में उसके लिए अपनाए जाने वाले तरीकों की ओर ध्यान दिया गया। हालांकि इस आंदोलन का संगठन क्षेत्रीय और जातीय आधार पर किया गया, तथापि इस समस्या को समान रूप से सभी हिंदुओं पर लागू समस्या के रूप में देखा गया, और तीनों केंद्रीय प्रांतों के बौद्धिक जनों ने एक-दूसरे से दलीलें और प्रति-दलीलें उधार लेने में कोताही नहीं की। विधवा विवाह संबंधी बहस से सामान्य धर्मग्रंथों के प्रमाणों के आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर एक हिंदू समुदाय की रचना करने के प्रयत्न का भी संकेत आ रहा था। 1837 में *दर्पण* ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि विधवा विवाह केवल ऊंची जातियों में ही वर्जित है, लेकिन उस सदी के उत्तरार्ध में चलने वाली बहस में ऐसे किसी भेद का जिक्र नहीं हुआ।[24]

ईसाई बन जाने वाले हिंदुओं को पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार देने के लिए 1845 में पेश किए गए विधेयक और अंत में 1851 में उसके लेक्स लूसी अधिनियम के रूप में सामने आ जाने के खिलाफ तीनों प्रांतों में एक साथ आंदोलन छिड़े। विधेयक के पेश होते ही बौद्धिक जनों ने प्रस्तावित कानून का विरोध करने के लिए एक-दूसरे से संपर्क स्थापित किया, क्योंकि विधेयक को उन्होंने अपने सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप के कूट उद्देश्य से किया गया प्रयत्न माना।[25] सभाएं आयोजित की गईं और विधेयक

का विरोध करते हुए प्रार्थनापत्र पेश किए गए।[26] प्रार्थनापत्र आपस में सलाह-मशविरा करके तैयार किए गए, और एक ऐसे देशव्यापी आंदोलन की योजना बनाई गई जिसमें राजस्व की गैर-अदायगी और खेतीबारी बंद करने तक का समावेश था। गवर्नर-जनरल के नाम एक खुले पत्र में 'एक ब्राह्मण' ने जोर देकर कहा : 'मुझे पूरा भरोसा है कि तीनों प्रांतों के मेरे देशवासी अपने ही हितों की खातिर एकजुट हो जाएंगे, और हमारे यहां के तथा अन्य स्थानों के समाज में उसके बेहतर प्रचार के लिए देश की आम भाषाओं में उसका अनुवाद करेंगे।'[27] इन संघर्षों के माध्यम से उन्नीसवीं सदी के दौरान समाज के कायाकल्प के लिए प्रतिबद्ध राष्ट्रीय स्तर पर एक बौद्धिक समुदाय का अस्तित्व कायम हुआ। यह समुदाय ऊपर उल्लिखित सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्ष का वाहक और साथ ही राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का अग्रगामी दस्ता था। यद्यपि कई सामाजिक तथा सांस्कृतिक मसलों पर इस समुदाय के सदस्यों के विचार आपस में मेल नहीं खाते थे फिर भी उनके विचारधारात्मक तर्काधार उल्लेखनीय रूप से समान थे।

विचारधारात्मक तर्काधार

औपनिवेशिक भारत में बौद्धिक समुदाय बुर्जुआ-उदारवादी विचारधारा के चौखटे के अंदर काम करता था। इसका अपवाद बीसवीं सदी का दूसरा चतुर्थांश था, जब उसका एक हिस्सा मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुआ। राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा समाज के स्वरूप के उनके चुनाव में बुर्जुआ उदारवाद का प्रभाव स्पष्ट था। यह चुनाव बहुत हद तक उस विचारधारात्मक प्रणाली से प्रभावित था जिसकी सृष्टि औपनिवेशिक शासन ने की थी। इसी प्रकार यह चुनाव विचारधारात्मक उपकरणों से निथरकर आने वाले पाश्चात्य विचारों से भी प्रभावित था। हालांकि वह सिर्फ उन्हीं पर निर्भर नहीं था, बल्कि यह औपनिवेशिक तत्वावधान में पूंजीवादी व्यवस्था की ओर—चाहे वह व्यवस्था जितनी भी कुंठित और विकृत रही हो—संक्रमण की प्रक्रिया का अभिन्न अंग था।

औपनिवेशिक भारत के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और गतिविधियां एक बुर्जुआ-लोकतांत्रिक व्यवस्था की क्रमिक निष्पत्ति के आदर्श पर आधारित थीं। प्राक्-औपनिवेशिक राजनीतिक संस्थाओं तथा औपनिवेशिक राज्य के स्वरूप को इसी चौखटे के अंदर समझा और परखा गया। इसीलिए आरंभ में प्राक्-औपनिवेशिक राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना की गई और अंग्रेजी हुकूमत को दैवी इच्छा के रूप में स्वीकार किया गया। 'दि ब्रिटिश राज कंट्रास्टेड विद इट्स प्रीडिसेसर्स' (ब्रिटिश राज का अपने पूर्ववर्ती राज्यों से अंतर) शीर्षक एक परचे में दोसाभाई फ्रामजी ने जो विचार व्यक्त किए वे इस समझ को प्रतिबिंबित करते हैं .

अंग्रेजी राज के क्रमिक फैलाव के पीछे-पीछे देश की सभी सीमाओं के अंदर

> शांति की स्थापना होती चली गई है। कानूनों का दृढ़तापूर्ण और ईमानदाराना प्रवर्तन तथा जान-माल की हिफाजत की स्थिति भारतीय अतीत में दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती, लेकिन आज इन दोनों कार्यों को संपन्न करके उक्त शांति की स्थापना की गई है। बच्चे यह भूल चुके हैं कि उनके पिता किन विपदाओं में जीते थे। जिस रक्तरंजित और अराजकतापूर्ण अत्याचार से अंग्रेजों ने भारत के लोगों को उबारा उसका स्वरूप यही है; और इस लेखक का उद्देश्य दु खद अतीत की मिटती यादों को ताजा करके अंग्रेजी राज के शांतिपूर्ण अनुभव से उनका अंतर बताना था।[28]

दोनों व्यवस्थाओं के अंतर्गत विद्यमान अवस्थाओं के बीच का घोर अंतर राज्यव्यवस्था के स्वरूप के अंतर को प्रतिबिंबित करता था, एक निरंकुश, मनमानेपन पर आधारित और अत्याचारपूर्ण थी, और दूसरी उदार तथा लोकतांत्रिक थी।[29] सांविधानिक सरकार की कल्पना प्राक्-औपनिवेशिक राज्यव्यवस्था का अंग नहीं थी और इसलिए, सैयद अहमद खां के शब्दों में, 'जनता की आवाज पर कान नहीं दिया जाता था।'[30]

यदि उदारवाद के मापदंड पर खरा न उतरने के कारण प्राक्-औपनिवेशिक व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया गया तो उसी मापदंड पर खरा उतरने के कारण औपनिवेशिक शासन का स्वागत किया गया, क्योंकि उपनिवेशवाद को उदार, लोकतांत्रिक और सांविधानिक सिद्धांतों के साथ ही सामाजिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान के भी वाहक के रूप में देखा गया।[31]

मिल, स्पेंसर, रूसो और टाम पेन 'यंग बंगाल' के लिए एक प्रकार का नशा बन गए। उन युवाओं ने अपने समाज के लिए जिस राजनीतिक भविष्य की कल्पना की वह इन चिंतकों द्वारा निर्दिष्ट पद्धतियों के सांचे में ढला हुआ था। भारतीय बौद्धिक जन का विश्वास था कि तब की ब्रिटिश व्यवस्था में इन सिद्धांतों को सबसे अच्छी तरह साकार किया गया था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि ब्रिटेन को इन्हें सिद्धांतों का सच्चा पक्षधर, 'ऐसे लोगों का राष्ट्र' माना जाता था जिन्हें न केवल नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के उपभोग का वरदान प्राप्त है बल्कि (जो) अपने प्रभाव के दायरे में आने वाले राष्ट्रों के बीच स्वतंत्रता तथा सामाजिक सुख को बढ़ावा देने और साथ ही साहित्यिक तथा धार्मिक विषयों में निर्बंध गवेषणा को प्रोत्साहित करने में भी रुचि लेते हैं।[32]

इसलिए बुर्जुआ व्यवस्था को अंग्रेजी हुकूमत का तार्किक परिणाम माना जाता था। भारतीय बौद्धिक जनों के सार्वजनिक प्रयत्न राजनीतिक प्रक्रिया के संबंध में इसी विश्वास से अनुप्राणित था। समाचारपत्र विनियम के खिलाफ राममोहन का विरोध तथा दादा भाई नौरोजी का औपनिवेशिक शासन को ब्रिटेन के लिए अशोभनीय बताना इन्हीं तर्काधारों की अभिव्यक्ति थे। सर्वोच्च न्यायालय से अपनी अपील में राममोहन तथा

उनके सह-आवेदनकर्ताओं ने बताया :

> अब कलकत्ता के निवासियों के लिए इस बात का गर्व करना उचित नहीं होगा कि वे बड़े सौभाग्यशाली हैं कि ईश्वर ने उन्हें ब्रिटिश राष्ट्र या इंगलैंड के राजा के संरक्षण में रखा है और उनके लार्ड तथा आम जनता के प्रतिनिधि उनके विधायक हैं एवं वे उसी नागरिक तथा धार्मिक सुविधा के उपभोग की निश्चित स्थिति में हैं जिसके हकदार इंगलैंड में अंग्रेज लोग हैं।[33]

अर्थव्यवस्था तथा समाज में भी जिन परिवर्तनों की तजवीज थी वे पक्के तौर पर बुर्जुआ परिप्रेक्ष्य के अंदर आते थे। आर्थिक चिंतन की आधारभूत मान्यता जब औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ होती थी तब भी वह पूंजीवादी व्यवस्था की ओर ही उन्मुख होती थी। राजस्वव्यवस्था और संपत्ति के खंडीकरण को बढ़ावा देने वाली और इस तरह पूंजी के संग्रह में बाधक उत्तराधिकार प्रणाली की आलोचना, पूंजी तथा प्रौद्योगिकी के आयात पर जोर, धन के विदेश-निर्गम तथा कच्चे माल के निर्यात एवं उद्योगीकरण से प्रबल प्रतिबद्धता, ये सब बुर्जुआ व्यवस्था के सपने के अंग थे। हालांकि इनमें से अधिकांश विचार उपनिवेशवाद की आलोचना के तौर पर विकसित हुए फिर भी उनका सहज विचारधारात्मक तथा वर्गगत स्वरूप स्पष्ट था।

उदारवादी और लोकतंत्रवादी तर्काधारों का प्रभाव सामाजिक चिंतन तथा कार्रवाई मे भी स्पष्ट था। लेकिन यह चिंतन और कार्रवाई मोटे तौर पर बुर्जुआ मानवतावाद के दायरे तक सीमित रही। सामाजिक तथा धार्मिक पुनरुज्जीवन के प्रयत्न मुख्य रूप से एक ऐसे लोकाचार की सृष्टि की दिशा मे अभिमुख थे जो उदीयमान बुर्जुआ व्यवस्था के लिए सहायक हो। सुधार आंदोलन ने जिन 'परिष्कृत व्यक्तियों', परिष्कृत गृहस्थियों तथा परिष्कृत समाज की सृष्टि करने का प्रयास किया, वे भी इस नए आचार को ही प्रतिबिंबित करते थे। अत्याचारपूर्ण सामाजिक रीति-रिवाजों के विरोध, मानव गरिमा के मार्ग मे बाधक सामाजिक रिवाजों के उन्मूलन तथा धर्मग्रंथों को सहज सुलभ एवं सरल बनाकर पुरोहितों के धर्मग्रंथ ज्ञान के एकाधिकार को मिटाने के प्रयत्नों के पीछे भारतीय समाज में प्रकट हो रहे मूलभूत परिवर्तन की शक्तियां काम कर रही थीं। महादेव गोविंद रानाडे ने इन परिवर्तनों की मुख्य विशेषताओं को सार रूप मे प्रस्तुत करते हुए लिखा : 'इस प्रकार हम सबको जिन परिवर्तनों के लिए प्रयत्न करना है वे हैं बंधनों से मुक्ति की दिशा में परिवर्तन, अंध-मान्यता से सच्ची श्रद्धा की दिशा में परिवर्तन, दर्जे से अनुबंध की ओर बदलाव, किसी ग्रंथ या व्यक्ति के प्रमाण की ओर से तर्कबुद्धि की ओर बदलाव, असंगठित से संगठित जीवन की दिशा में परिवर्तन, कट्टरवादिता से सहिष्णुता की दिशा में परिवर्तन, अंधे भाग्यवाद की ओर से मानवीय गरिमा की ओर बदलाव।'[34]

यदि रानाडे की परिवर्तन की अवधारणा को उन सामान्य समाजार्थिक विचारों के

संदर्भ में परखा जाए जिनमें मितव्ययिता और किफायतसारी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उद्यमशीलता, और पारलौकिकता की अपेक्षा इहलौकिक अस्तित्व के आनंद पर जोर था तो एक बुर्जुआ समाज के विचारधारात्मक अधिरचना की सृष्टि के लिए आकुलता स्पष्ट देखी जा सकती है।

औपनिवेशिक भारत में जो मानवतावादी विचार विकसित हुए उनके दो पहलू बौद्धिक समुदाय के बुर्जुआ तर्काधार को और भी स्पष्ट करने में सहायक होंगे। एक तो धार्मिक चिंतन की दिशा पारलौकिकता तथा अलौकिकता की ओर से इहलौकिक अस्तित्व की समस्याओं की ओर मुड़ गई। प्राक्-औपनिवेशिक काल में धार्मिक असहमति तथा सुधार आंदोलन—जो बौद्ध धर्म से आरंभ होकर अठारहवीं सदी के असनातनी पंथों तक फैले हुए थे—मुख्य रूप से मोक्ष के उपायों से संबंधित थे। इसके विपरीत, औपनिवेशिक भारत में धार्मिक सुधार इस पूर्ववर्ती हेतु के प्रति लगभग उदासीन था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि जो लोग, जैसे बंकिमचंद्र और विवेकानंद, धर्म को प्रमुख भूमिका प्रदान करते थे वे भी धार्मिक अपेक्षाओं के ऊपर से भौतिक आवश्यकताओं के प्रति उदासीन नहीं थे।[35] नवहिंदुत्व के महापुरोहित विवेकानंद ने इस बात का सतत प्रयास किया कि आध्यात्मिकता भौतिक आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान दे।[36]

पारलौकिकता से इस अलगाव का ही अभिन्न अंग था धर्म का नागरिक जीवन में इस्तेमाल। धर्मग्रंथों तथा धार्मिक महापुरुषों की ऐसी व्याख्या करना जो समकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और सामाजिक प्रगति से असंगत रीति-रिवाजों को मिटाना इस व्यवहारवादी कार्य के अंग थे। नारी-मुक्ति के लिए राममोहन तथा विद्यासागर द्वारा वैदिक विधान का सहारा लेना, जाति-विहीन समाज की रचना के लिए केशवचंद्र सेन द्वारा एकेश्वरवाद का उपयोग, बंकिमचंद्र की कृष्ण की व्याख्या तथा तिलक की *गीता* की व्याख्या इसके उदाहरण हैं। जातिविहीन समाज का केशवचंद्र का नुस्खा निम्न प्रकार है :

> ईश्वर के पितृत्व में विश्वास करने का मतलब मनुष्य के भ्रातृत्व में विश्वास करना है, और इसलिए जो कोई भी अपने हृदय और घर में सच्चे परमात्मा की प्रतिदिन पूजा करता है उसे अपने सभी देशवासियों को अपने भाई मानना सीखना चाहिए। समाज जब ऐसी अवस्था में आ जाएगा तो जातियां अपने-आप मिट जाएंगी।[37]

आत्मा तथा मोक्ष की समस्याओं के प्रति न्यूनाधिक उदासीन और साथ ही तात्कालिक आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील उपर्युक्त दृष्टिकोण उस नए लोकाचार का द्योतक था जो व्यक्ति के कर्म की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने वाले विभिन्न बंधनों से उसकी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील था। मोक्ष की तलाश से संबंधित धार्मिक अंधविश्वास तथा

पौरोहितिक नियंत्रण पर शंका उठाकर उसने मानवीय गरिमा की पुनर्प्रतिष्ठा तथा व्यक्तिवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

जिस दूसरे क्षेत्र में मानवतावाद की अभिव्यक्ति हुई वह असमानता तथा उसके परिणामों, विशेषतः गरीबी और मानवीय कष्टों के स्वरूप की छानबीन से संबंधित था। उत्साही राष्ट्रवादी तथा कई क्षेत्रों में नए रास्ते बनाने वाले अक्षयकुमार दत्त इस समस्या की ओर ध्यान देने वाले शायद पहले व्यक्ति थे। उन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की कि गरीबी का कारण समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे के श्रम के फलों को हड़प लेना है।[38] 'मेन आफ कमिकर्वेस' अर्थगर्भित शीर्षक से लिखे अपने शक्तिशाली निबंध में केशवचंद्र सेन ने इससे भी एक कदम आगे जाकर कहा कि संपत्ति का सृजन गरीब लोग करते हैं लेकिन उसका उपभोग अमीर लोग करते हैं। गरीबों को, जिनका वर्णन उन्होंने 'मेन आफ कमिकर्वेस' या 'असली आदमी' के रूप में किया, अपने हित के लिए काम करने के लिए समझाते हुए उन्होंने कहा :

> आप किसान हों या कारीगर, आप एक होकर खड़े हो जाएं। अपनी अवस्था सुधारने, अपने विरुद्ध अन्याय, निष्ठुरता, दमन तथा अत्याचार को बलपूर्वक मिटा देने के लिए आप अधिक से अधिक कटिबद्ध रहें और आगे तंद्रा में न रहें। वह समय आ गया है जब आपको जाग्रत होना है। आपकी खातिर बोलने वाला कोई और नहीं है।[39]

अपनी कृति *साम्य* में बंकिमचंद्र ने असमानता का अधिक बहुआयामी विश्लेषण किया। यह कृति आधुनिक भारत के बौद्धिक इतिहास का मील का एक पत्थर है। एक ओर रूसो, प्रूधों और मिल तथा दूसरी ओर लुई ब्लैंक, राबर्ट ओवेन और सेंट साइमन जैसे विविध स्रोतों से विचार ग्रहण करके बंकिम ने भारतीय समाज में व्याप्त असमानता के कारणों और उसकी अभिव्यक्तियों के स्वरूप की तलाश आरंभ की। प्राकृतिक विभेदों में आधारित असमानता को उन्होंने स्वीकार किया, परंतु अप्राकृतिक भेदों से उत्पन्न असमानता को उन्होंने मानव जाति के लिए 'अन्यायपूर्ण और हानिकर' माना।[40] भारत के संदर्भ में उन्होंने तीन प्रकार की अप्राकृतिक असमानता का निर्देश किया : ब्राह्मण और शूद्र के बीच की असमानता, विदेशी और भारतीय के बीच की असमानता तथा सबसे बढ़कर अमीर और गरीब के बीच की असमानता। इन अप्राकृतिक असमानताओं को उन्होंने भारत के पिछड़ेपन तथा अवनति के लिए जिम्मेदार माना।[41] संपत्ति के उत्तराधिकार, नारी-मुक्ति तथा किसानों के शोषण पर अपने एक हद तक मूलगामी विचारों का पल्लवन करने के बाद बंकिमचंद्र ने उपसंहार निम्नलिखित शब्दों में किया :

> हमारा इरादा समतावाद की ऐसी व्याख्याएं करने का नहीं है जिनका अर्थ यह हो

> कि सभी लोगों को एक ही अवस्था में होना चाहिए। ऐसा कभी नहीं हो सकता। जहां प्रतिभा, मानसिक क्षमताओं, शिक्षा, शक्ति आदि में प्राकृतिक भेद होगे वहा अवस्थाओं में भी निम्नताएं होगी ही—इसका विरोध करने को कोई तैयार नहीं होगा। लेकिन अधिकारों की समानता आवश्यक है। यदि किसी के पास क्षमता है तो उसे इस आधार पर निराश नहीं होना चाहिए कि उसके पास अधिकार नहीं है।[42]

गरीबों के हक में लफ्फाजी के बावजूद असमानता तथा गरीबी का सामान्य विवेचन बुर्जुआ परिप्रेक्ष्य से मर्यादित था, क्योंकि उसमें असमानता को जन्म देने वाली व्यवस्था को बदलने की अपेक्षा उसे और मजबूत बनाने की चिंता अधिक थी। तथापि आम आदमी के कष्टों का वर्णन आलंकारिक भाषा में किया गया और उनकी तफसीलें सजीव ढंग से पेश की गईं; उनका उपचार या तो ज्ञान की प्राप्ति में या वर्गगत समझौते मे ढूढने की कोशिश की गई। उदाहरण के लिए, आत्मरक्षा में खड़े होने के लिए किसानों तथा मजदूरों का आह्वान करने के बाद केशवचंद्र सेन ने निम्नलिखित उपचार सुझाया :

> उन्नत देशों में वर्ग संघर्ष आरंभ हो चुका है।...हम यह नहीं चाहते कि सर्वहारा लोग अत्याचार करें। लेकिन हम यह अवश्य चाहते हैं कि गैर-कानूनी काम किए बगैर वे जमींदारों का होश ठिकाने लाएं।...जब ईश्वर ने आपकी सृष्टि की तब क्या उसने आपको चेतना और समझ नहीं प्रदान की? तब फिर आप गफलत की नींद क्यों सो रहे हैं?...आप कटिबद्ध हों; प्रयत्न करें; ज्ञान प्राप्त करें।[43]

इसी प्रकार, भविष्य के शूद्रों का होने के अपने सपने और दीन-हीनों में ईश्वर को देखने के बावजूद, विवेकानद ने बार-बार गरीबी के इलाज के रूप में ज्ञान की प्राप्ति और आध्यात्मिक प्रबुद्धता की बात दोहराई।[44] बंकिमचंद्र ने *साम्य* के परवर्ती संस्करणों में से मूलगामी भागों को, खास तौर से किसानों के शोषण से संबंधित हिस्सों को निकाल दिया।

औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक जनों को गरीबी की समस्या की फिक्र थी, यह अपने-आप में कोई बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं है; उस समय की स्थिति को देखते हुए वे उसके प्रति असंवेदनशील नहीं रह सकते थे। महत्व इस बात का है कि वे गरीबी को किस नजरिए से देखते थे : उनके रवैए में गरीबों की चिंता थी या सुविधा प्राप्त लोगों की? आम तौर पर स्थिति दूसरी थी। गरीबी की तो निंदा की गई लेकिन जिस व्यवस्था और संरचना ने उसे जन्म दिया था उसकी निंदा नहीं की गई। जोर गरीबों की दशा सुधारने और ट्रस्टीशिप पर और साथ ही गरीबों को अपनी अवस्था सुधारने के अवसर देने पर था, क्योंकि अन्यथा स्वयं सुविधा प्राप्त लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव

पडता। इस प्रकार की भावना अलग-अलग रूपों में उन्नीसवीं सदी के भारत के लगभग प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति के सामाजिक चिंतन मे देखी जा सकती है। अक्षयकुमार कृत *धर्मनीति* हालांकि समाज मे समग्र विकास के हक में दी गई दलील का हिस्सा थी लेकिन उसमें सुविधा प्राप्त वर्ग पर पड़ने वाले गरीबी के प्रतिकूल प्रभावों की ओर स्पष्ट शब्दो में ध्यान दिलाया गया।[5] अन्य बातों के साथ-साथ सुविधा प्राप्त वर्ग के प्रति पक्षपात से ग्रस्त यह परिप्रेक्ष्य भी औपनिवेशिक भारत में बौद्धिक जनो पर बुर्जुआ विचारधारात्मक वर्चस्व का द्योतक था।

बुर्जुआ उदारवादी तर्काधारों का रचनात्मक प्रभावों के स्वरूप से कोई आपसी रिश्ता नहीं था। ऐसी बात भी नहीं है कि केवल अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोग ही इस विचारधारा के उद्वाहक थे, देशी भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करने वाले लोग भी इस प्रभाव से परे नहीं थे।[6] सामाजिक परिवर्तन के लिए अपनाई गई विभिन्न रणनीतियां—जैसे 'सुधार' और 'पुनर्स्थापना'—भी उसी विचारधारात्मक चौखटे तक सीमित थीं। इस प्रकार, 'सुधारवादी' राममोहन राय और 'रूढ़िवादी' राधाकांत देव, या बुद्धिवादी अक्षयकुमार दत्त और 'पुनर्स्थापनावादी' दयानद सरस्वती, अथवा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त रानाडे और देशी शिक्षा प्राप्त नारायण गुरु के बीच समाज के विचारधारात्मक तथा संरचनात्मक रूपातरण के कई मामलों में सहमति के विस्तृत क्षेत्र मौजूद थे। ऐसा इसलिए था कि वे सभी विकासमान बुर्जुआ व्यवस्था के सिद्धातकार थे तथा उनके सामाजिक एवं राजनीतिक तर्काधार उदारवादी लोकतांत्रिक थे। कालातर में उदारवादी बुद्धिजीवी वर्ग ने बुर्जुआ विचारधारा के पुनर्कथन में और अततः उसकी वर्चस्वी स्थिति की प्रतिष्ठा मे सक्रिय भूमिका निभाई।

पश्चिमी दुनिया में बुर्जुआ समाज के ऐतिहासिक अतीत के बावजूद भारत में तजवीज किया गया सामाजिक रूपातरण पश्चिमी नमूने की ऐसी नकल नहीं था जो भारतीय सभ्यता की सास्कृतिक विशिष्टताओं से कटी हुई हो। दूसरी ओर, सास्कृतिक परपरा औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक रूपांतरण में एक महत्वपूर्ण कारक बन गई।

सस्कृति और बौद्धिक रूपांतरण

औपनिवेशिक भारत में देशी सांस्कृतिक परंपरा और बौद्धिक रूपातरण के बीच के सबंधों मे मध्यवर्ती कड़ी की भूमिका सास्कृतीकरण की उस प्रक्रिया ने निभाई जो राजकीय संस्थानो, स्वयंसेवी संगठनों तथा धार्मिक पथों के सक्रिय हस्तक्षेप के जरिए काम कर रही थी। इसलिए वे सबंध दोनो के बीच किसी अनवरत अतर्क्रिया पर आधारित सजीव सबध नहीं थे। इन सबधों मे बाहरी सास्कृतिक तत्वों ने निर्णायक हस्तक्षेप किया, जिससे बौद्धिक रूपातरण का सिलसिला और स्वरूप प्रभावित हुआ।

उपनिवेशवादी सस्कृति के वर्चस्व की स्थापना का सिलसिला, जिसका एक

अनिवार्य घटक सास्कृतीकरण था, देशी संस्कृति के प्रति हीनता की दृष्टि लेकर चलता था। इसलिए पराधीन लोगों ने देशी संस्थाओं तथा पारंपरिक संस्कृति के प्रति अधिकाधिक बचाव का रुख अपनाया। अतीत को पुनर्जीवित करना, परंपरा में आधुनिकता को देखना, पारंपरिक ज्ञान तथा उपलब्धियों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अनुसंधान करना—जो पराजित देशी लोगों की आम प्रवृत्ति होती है—उपनिवेशवादियों को दिए जाने वाले उत्तर की मुख्य विशेषताएं थीं। इस ऐतिहासिक आवश्यकता ने अनिवार्यत: बौद्धिक रूपांतरण के क्रम में बाधा डाली, क्योंकि इस आवश्यकता के कारण बाहर की नकल पर चिंतन का विकास हुआ, संस्कृति का बचाव किया गया और अंत में संप्रदायवादी दृष्टिकोणों तक का बढ़ावा मिला। जिन क्षेत्रों में उपनिवेशवादी सांस्कृतिक प्रयासों की सद्य: प्रतिक्रिया हुई वे थे धर्म, भाषा और शिक्षा।

औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक प्रत्युत्तर की जो आरंभिक अभिव्यक्तियां हुईं उनमें से एक का संबंध पराधीन लोगों के धर्म के लिए औपनिवेशिक शक्ति की उपस्थिति के फलितार्थों से था। लोगों की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाने वाले विभिन्न वैधानिक कदमों से काफी आशंका उत्पन्न हुई। ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार के प्रयत्नों के खिलाफ प्रतिक्रिया खास तौर पर तीव्र थी।

भारतीय समाज धार्मिक मामलों में सामान्यत: ईमानदारी के व्यवहार के पक्ष में था, जिससे विभिन्न धार्मिक पंथों को अपने-अपने धार्मिक विश्वासों को सामने रखने की काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। सच तो यह है कि धार्मिक शास्त्रार्थ भारतीय बौद्धिक प्रयास का एक महत्वपूर्ण घटक था। इसलिए ईसाई मिशनरियों की गतिविधियां सदियों से चल रही थीं और उसका कोई गंभीर विरोध नहीं किया गया था परंतु उन्नीसवीं सदी में उसमें एक बिलकुल अलग प्रकार का आयाम जुड़ गया। यद्यपि लोगों को ईसाई बनाना औपनिवेशिक कार्य-सूची में शामिल नहीं था तथापि इस काल में सरकारी अफसरों और मिशनरियों के बीच एक अंतरंग संबंध स्थापित हो गया। सरकार में एक प्रबल गुट मिशनरियों के कार्यों को बढ़ावा देने के पक्ष में था, सो केवल धार्मिक प्रयास के रूप में ही नहीं बल्कि साम्राज्य को स्थायी बनाने वाले एक स्तंभ के तौर पर भी, क्योंकि उन लोगों को लगता था कि जो भारतीय ईसाई बन जाएंगे उनमें साम्राज्य के प्रति वफादारी सुनिश्चित हो जाएगी। इनमें से कुछ अफसरों के आचरण से ऐसी छाप पड़ी कि मिशनरी सरकार से सांठ-गांठ करके काम कर रहे हैं। बंबई, पुणे और अहमदनगर में नव-ईसाइयों के सार्वजनिक कुओं का इस्तेमाल करने का अधिकार सुनिश्चित कराने के लिए सरकार का हस्तक्षेप,[47] सार्वजनिक विवादों में मिशनरियों तथा नव-ईसाइयों के साथ अफसरों का पक्षपात,[48] और शिक्षा में ईसाई अंतर्वस्तु का समावेश करने का प्रयत्न[49] ये सब इस सांठ-गांठ के विश्वासोत्पादक उदाहरण थे। कुछ अदालती फैसलों में नव-ईसाइयों को अपनी-अपनी पत्नी और बच्चों को अपने नियंत्रण में रखने का अधिकार

दिया गया। इस तरह के फैसलों के कारण न्यायपालिका भी पक्षपातपूर्ण दिखाई देने लगी।[50] स्वयं औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति को ईसाइयत के प्रचारक के प्रयत्न के रूप में देखा जाने लगा।[51] *बांबे गजट* में संपादक के नाम लिखे एक पत्र में सरकार और मिशनरियों के बीच सांठ-गांठ को स्पष्ट शब्दों में पेश किया गया :

> दोस्ती का दिखावा करने वाले दुश्मन से जाना हुआ दुश्मन बेहतर है। दरअसल अंग्रेजी सरकार अपनी प्रजा के साथ पहली श्रेणी के दुश्मन के जैसा व्यवहार करती है। वह दिखाने को तो यह दावा करती है कि धार्मिक मामलों में वह कोई दखलदाजी नहीं करती लेकिन अंदर ही अंदर अपना हेतु साधने के लिए उत्पीड़न के अंदाज में काम करती है। कुछ साल पहले तक कोई भी मिशनरी किसी नाबालिग लड़के को फुसलाने का साहस नहीं कर सकता था, लेकिन अब पुलिस की सहायता से यह काम बेखटके किया जा रहा है।[52]

सरकार से इस सांठ-गांठ के मद्देनजर ईसाई मिशनरियों को ऐसे प्रचारकों के रूप में देखा जाने लगा जो लोगों को ईसाई बनाने का रास्ता साफ करने के उद्देश्य से मौजूदा धार्मिक विश्वासों को नष्ट करने नहीं तो उनकी जड़ों को खोखला कर देने की अपनी योजना के अंग के रूप में देशी संस्कृति को नीचा दिखाने के काम में जुटे हुए थे। इसके फलस्वरूप अनिवार्यतः मिशनरियों के प्रचार तथा गतिविधियों के खिलाफ प्रबल विरोध का भाव और साथ ही देशी संस्कृति और संस्थाओं के प्रति बचाव का रुख उभर आया। तमिलनाडु में मुतुकुट्टी स्वामी, बंगाल में देवेंद्रनाथ ठाकुर, महाराष्ट्र में विष्णु बाबा ब्रह्मचारी, केरल में भकटी तगाल तथा देश के विभिन्न भागों में बहुत सारे अपेक्षाकृत अज्ञात सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस सांस्कृतिक प्रयास को अपने आचरण में अभिव्यक्त किया।

आरंभिक जवाबी कार्रवाई के तौर पर धार्मिक धरातल पर मिशनरियों के प्रचार का खंडन किया गया। इसके लिए एक तो स्वयं ईसाई धर्म-सिद्धांतों के संदर्भ में उस प्रचार में निहित भ्रांति की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया, और दूसरे, हिंदू धर्म या इसलाम में समाहित धार्मिक सत्यों पर जोर दिया गया। बंगाल में देवेंद्रनाथ ठाकुर तथा अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में तत्वबोधिनी सभा ने पहल की। सभा के सदस्यों द्वारा मिशनरियों के खिलाफ छेड़ा गया जोरदार अभियान इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि अलेक्जेंडर डफ ने सभा का वर्णन 'आक्रामक ईसाइयत के दुर्दमनीय प्रतिरोधी'[53] के रूप में किया। सभा के सदस्यों ने कई प्रचार पुस्तिकाएं प्रकाशित करके हिंदू धर्म की मूलभूत विशेषताओं का स्पष्टीकरण और बचाव किया। इन पुस्तिकाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली 'वेदांतिक डाक्ट्रिन्स विंडिकेटेड' (वैदांतिक सिद्धांतों का सत्य प्रमाणित) था।[54]

हिंदू धर्म के विरुद्ध मिशनरियों के प्रचार की उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया महाराष्ट्र में हुई। हिंदू धर्म-दर्शन तथा धार्मिक आचारों को जान विल्सन द्वारा की गई व्याख्याओं को तत्परता से चुनौती देते हुए कई पुस्तिकाएं लिखकर उन व्याख्याओं में समाविष्ट विकृतियों की ओर ध्यान दिलाया गया और शास्त्रों में प्रतिपादित हिंदू धर्म के वास्तविक सार को प्रस्तुत किया गया। हिंदू धर्म के बचाव के लिए बंबई में एक संस्था स्थापित की गई और एक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया गया।[55]

विष्णु बावा ब्रह्मचारी नामक एक ब्राह्मण संन्यासी ने, जिनके लेख 'ऐन एसे आन बेनिफिशिएंट गवर्नमेंट' (परोपकारी सरकार पर एक आलेख) का स्वागत जाति और वर्गविहीन समाज की स्थापना की योजना के रूप में किया गया है, इस धार्मिक जवाबी कार्रवाई के लिए अधिक जन-समर्थित आधार तैयार करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक शनिवार की शाम वे चौपाटी पर व्याख्यान और बहस आयोजित किया करते थे। वहा विशाल श्रोता-समूह एकत्र होता था। उनकी एक सभा का समाचार देते हुए *बांबे गजट* ने लिखा कि 'उस स्थान पर भारी भीड़ एकत्र हुई। और जैसा कि लोग सोचेंगे उसके विपरीत उसमें बुजुर्ग हिंदू नहीं बल्कि हिंदू समाज के अधिक प्रबुद्ध और जाग्रत वर्गों के लोग शामिल थे।'[56] इन व्याख्यानों में वे ईसाई मिशनरियों द्वारा हिंदू धर्म पर किए गए प्रहारों, मिशन स्कूलों के अस्तित्वों, हिंदुओं के धर्म-त्याग के मामलों, हिंदुओं में अपने धर्म के संबंध में अज्ञान और फलत: दूसरों द्वारा प्रहार किए जाने पर उसका बचाव करने की उनकी अक्षमता आदि का उल्लेख करते हुए और फिर ऐसे साक्ष्य पेश किया करते थे जिनके सहारे हिंदू धर्म के खिलाफ़ दी गई दलीलों के मुकाबले उसका बचाव किया जा सकता था। वे कला तथा विज्ञान के ज्ञान और ईश्वर के ज्ञान के बीच भेद करते थे। वे कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में गोरों के ज्ञान की श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे, लेकिन हिंदू धर्म को सच्चे धर्म और ईसाई धर्म से श्रेष्ठ बताते हुए प्रस्तुत करते थे।[57] बाद में उन्होंने अपने विचारों तथा दलीलों को *वादोक्त धर्म प्रकाश शीर्षक* एक पुस्तक में, जो 1859 में प्रकाशित हुई, व्यवस्थित रूप में सामने रखा।[58]

धार्मिक जवाबी कार्रवाई में निहित सांस्कृतिक बचाव के दायरे में उन्नीसवीं सदी में और खास तौर से उसके उत्तरार्ध में, जब उपनिवेशवादी सांस्कृतिक अतिक्रमण के परिणामों को अधिक तीव्रता से महसूस किया जाने लगा, संस्कृति के लगभग सभी क्षेत्र आ जाते थे। इस बचाव की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई। एक तो था औपनिवेशिक सांस्कृतिक आचार-व्यवहार के एक विकल्प की सृष्टि करना और दूसरा था पारंपरिक संस्थाओं में नवजीवन का संचार करना। पहले में शिक्षा और भाषा संबंधी सरोकार पर जोर था और दूसरे में पारंपरिक ज्ञान की छानबीन तथा उस ज्ञान को समकालीन आचार-व्यवहार में उतारने का प्रयत्न किया गया।

भारतीय बौद्धिक जनों के शिक्षा विषयक विचार अपने मूलभूत तर्काधार तथा

प्रयोजन की दृष्टि से गुणात्मक रूप में औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली से संबंधित विचारों से भिन्न थे।[2] इन विचारों का एक महत्वपूर्ण आयाम अंग्रेजी माध्यम से दी जाने वाली औपनिवेशिक शिक्षा के सांस्कृतिक फलितार्थों के प्रति जागरूकता थी। एक पराई *संस्कृति के तत्वों को तथा एक इतर सभ्यता के ऐतिहासिक अनुभव को ग्रहण करके* चलने वाली औपनिवेशिक शिक्षा का प्रभाव मुख्य रूप से विराष्ट्रीकरण करने वाला होता था, क्योंकि वह शिक्षित मध्य वर्ग को अपने सांस्कृतिक मूलों से विच्छिन्न कर देती थी और 'जो कुछ दूसरों ने किया है आंख मूंदकर उसी की नकल करने' की प्रेरणा देती थी।[3] यह चीज अपनी बुद्धि के प्रयोग की प्रवृत्ति में सहायक नहीं था और इसलिए राष्ट्रीय प्रगति में एक बाधा था। *तत्वबोधिनी* पत्रिका में प्रकाशित 'दि प्रजेंट कंडीशन आफ एजुकेशन' (शिक्षा की वर्तमान अवस्था) शीर्षक लेख में यह व्यापक भावना प्रातिनिधिक रूप से अभिव्यक्त हुई है :

> अगर हमारे विचार अंग्रेजी से प्रभावित नहीं होते तो हमारी क्षमता का निर्बंध विकास होता और हमारी राष्ट्रीय प्रगति आरंभ हो जाती। स्कूलों और कालेजों में जो पुस्तकें पाठ्यक्रमों के लिए निर्धारित की जा रही हैं वे हर तरह की राष्ट्रीय भावना से विहीन हैं। . .प्राचीन भारतीय इतिहास की पुस्तकें विदेशी लोग लिख रहे हैं, जिनके मन में अपनी जाति के लिए पक्षपात है और इसलिए वे इस देश के लोगों की अनावश्यक आलोचना करते हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने वाले विद्यार्थी अपने वास्तविक अतीत के बारे में कुछ नहीं जान पाते।[4]

देशी भाषाओं का विकास करने और उन्हें समृद्ध बनाने का प्रयत्न इस राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का अंग था। इस देश के पिछड़ेपन और इसकी 'वर्तमान पतितावस्था' के जो कारण बताए गए उनमें से एक था देशी भाषाओं की उपेक्षा और उनमें ज्ञान की कमी।[5] यह विश्वास बहुत व्यापक था कि जब तक भारतीयों को अपनी मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाएगी तब तक वे अपनी बौद्धिक तथा रचनात्मक संभावनाओं को साकार नहीं कर पाएंगे।[6] इसलिए अंग्रेजी शिक्षा के 'अभिशापपूर्ण प्रभाव' के निराकरण के लिए देशी भाषाओं को समृद्ध बनाने का कार्य एक सांस्कृतिक योजना के रूप में आरंभ किया गया।

देशी भाषाओं पर जोर देना इस प्रयत्न को प्रतिबिंबित करता था कि लोगों का ध्यान औपनिवेशिक संस्कृति पर आरोपित प्रगतिशील खूबियों की ओर से देशी संस्कृति के तत्वों की ओर मोड़ दिया जाए, क्योंकि ये तत्व देश की सामाजिक-राजनीतिक प्रगति के लिए निर्णायक महत्व के माने जाते थे। पारंपरिक संस्थाओं के सहज गुणों का अवगाहन, जिसमें महिमामंडन और रूमानीकरण की प्रवृत्ति भी अक्सर होती थी, इस प्रयत्न का अभिन्न अंग था। यद्यपि एशिया संबंधी अनुसंधान "गूढ़ रूप से संगठित

राजनीतिक परिस्थितियों[67] में किए जा रहे थे लेकिन उनसे प्राप्त अतीत संबंधी ज्ञान से संभावनाओं के द्वार खुल गए। तत्वबोधिनी सभा ने भारतीय इतिहास तथा संस्कृति की ऐसी छानबीन को बढ़ावा दिया जिसकी दृष्टि प्राच्यवादियों की दृष्टि से भिन्न थी। उसका उद्देश्य यह दिखलाना था कि किस प्रकार 'भारत सत्यनिष्ठता और महानता का प्रतीक था, और सभी देशवासियों में हिंदुओं को अधिक श्रेष्ठ स्थान दिया गया।'[68] बंगाल में राजेंद्रलाल मित्र और भूदेव मुखर्जी, महाराष्ट्र में विष्णु शास्त्री पंडित और विष्णु नारायण मांडलिक, पंजाब में दयानंद सरस्वती और पंडित गुरुदत्त तथा देश के विभिन्न भागों में बहुत से अन्य लोगों ने इस आदर्श का अनुसरण किया।

'देशीवाद' से प्रबल रूप से प्रभावित यह सांस्कृतिक बचाव काफी जटिल किस्म की प्रवृत्ति था। यह मात्र धार्मिक पुनरुत्थान और महिमामंडन का प्रयास नहीं था, बल्कि अतीत का बौद्धिक अवगाहन था, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक प्रयत्न के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र का समावेश था : भारतीय औषधिशास्त्र, प्राक्-औपनिवेशिक प्रौद्योगिकियों की संभावनाओं, भारतीय संगीत, हिंदू नाट्यशास्त्र, राजनीतिक व्यवस्था, स्त्रियों की अवस्था आदि सभी का। कोशिश इन सभी क्षेत्रों में भारतीय श्रेष्ठता को सिद्ध करने और इस प्रकार यह दिखलाने की थी कि वर्तमान भारतीयों की क्षमता का द्योतक नहीं है। इसमें यह मान्यता भी निहित थी कि मौजूदा सांस्कृतिक स्थिति में नवजीवन का संचार करना और उसकी पुनर्रचना इस संभावना को साकार करने की पूर्वशर्त है।[69] इसलिए भारतीय सोच अधिकाधिक आत्मप्रेक्षी होती गई।

इस तरह, संस्कृति तथा विचारधारा ने जिस प्रकार से काम करना आरंभ किया उससे औपनिवेशिक भारत में बौद्धिक रूपांतरण के स्वरूप में एक अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया। औपनिवेशिक उपस्थिति से सांस्कृतिक प्रयत्नों में अनिवार्यत: जो द्वैधता आ गई वह या तो बुर्जुआ विचारधारा को या पारंपरिक संस्कृति को पूर्ण रूप से समेटकर एक सपना गढ़ने के मार्ग में बाधक बन गई। औपनिवेशिक संस्कृति के हस्तक्षेप के कारण दोनों में निर्बाध अंतर्क्रिया भी नहीं हो पाई। औपनिवेशिक समाज के बौद्धिक रूपांतरण में इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में सहज समाहित अस्पष्टता और अंतर्विरोध प्रतिबिंबित हुए।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 एमिलकर कैब्रेल, *रिटर्न टु दि सोर्स : सेलेक्टेड स्पीचेज आफ एमिलकर कैब्रेल,* न्यूयार्क, 1973, पृ 63

2 बौद्धिक जनों तथा आम बौद्धिक कार्यकर्ताओं या बुद्धिजीवियों के बीच जो भेद है उसका आधार बौद्धिक जनों द्वारा संपादित सामाजिक कार्य है, जिसका वर्णन अंतोनियो ग्राम्शी ने नए संतुलन की रचना और भौतिक तथा सामाजिक संसार के सतत नवोन्मेष के रूप में किया है. अंतोनियो ग्राम्शी, *सेलेक्शंस फ्राम दि प्रिजन नोटबुक्स,* न्यूयार्क, 1971, पृ 9 औपनिवेशिक भारत में इस अंतर के

विवेचन के लिए देखिए पिछला अध्याय

3 हिंदू थे बाबू तारिणीचरण मित्र, मृत्युंजय विद्यालंकार, बाबू राधाकांत देव और बाबू रामकमल सेन मुसलमान थे मौलवी अब्दुल वाहिद, मौलवी करीम हुसैन, मौलवी अब्दुल हमीद और मौलवी मुहम्मद रशीद, *दि फर्स्ट रिपोर्ट आफ दि कैलकटा स्कूल बुक सोसायटी*, कलकत्ता, 1818

4 रामगोपाल घोष, *ए शार्ट स्केच आफ हिज लाइफ एंड स्पीचेज*, कलकत्ता, 1868, पृ 12, और *बाबे गजट*, 30 जुलाई 1852

5 देखिए बंबई में 'देशी' पुस्तकालयों पर चर्चा, *बाबे गजट*, 9 अगस्त से 20 सितंबर 1843

6 अमिताभ मुखर्जी, *रिफार्म एंड रिजेनेरेशन इन बंगाल, 1774–1823*, कलकत्ता, 1968, पृ 276–82

7 जे सी घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, इलाहाबाद, 1906, पृ 325–29 और 360–62

8 राधाकांत देव के जीवनीकार जे सी बागल का कहना है देव को यह आशंका थी कि विदेशी सरकार का हस्तक्षेप हिंदू समाज को पूरे तौर पर छिन्न-भिन्न कर देगा मुखर्जी, *रिफार्म एंड रिजनेरेशन इन बंगाल*, पृ 282

9 *हिंदू इंटेलीजेंसर* 2 जुलाई 1849

10 चार्ल्स हैम्सैथ *इंडियन नेशनलिज्म एंड हिंदू सोशल रिफार्म*, प्रिंसटन, 1964, पृ [illegible]

11 सन् 1851 से 1854 तक के *बाबे गजट* के अंकों में इस आदान-प्रदान के अनेक उदाहरण मिलते हैं

12 जी.जी. जावेकर (स), *मेमायर्स एंड राइटिंग्स आफ आचार्य बाल शास्त्री जावेकर*, जिल्द II, पुणे, 1950, पृ 76

13 *दि बांबे दर्पण*, 8 सितंबर 1837

14 वही

15 वही

16 विद्यासागर ने लिखा, 'जब तक मुझे यह विश्वास नहीं हो गया कि शास्त्रों में विधवा विवाह का अनुमोदन किया गया है तब तक मैंने उसके पक्ष के समर्थन में कलम नहीं उठाई '

17 'डिस्कशन आन विडो मैरिज इन अहमदनगर डिबेटिंग सोसायटी', *बाबे गजट*, 23 फरवरी और 8 जून 1855

18 'ब्रीफ रिमार्क्स रिगार्डिंग माडर्न ऐनक्रोचमेंट्स आन दि एनशिएंट राइट्स आफ फिमेल्स, एकार्डिंग टु दि हिंदू ला आफ इनहेरिटेंस', घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 375–84

19 'जहां तक किसी कार्य को संपादित करने में उनकी हीनता का संबंध है तो क्या हमने उन्हें कभी अपनी स्वाभाविक क्षमता का परिचय देने का अवसर प्रदान किया है ? फिर हम उन पर समझदारी के अभाव का आरोप कैसे लगा सकते हैं ? यदि किसी को ज्ञान और समझदारी का प्रशिक्षण दिया जाए और वह व्यक्ति ज्ञान को ग्रहण न कर सके या जो सिखाया गया है उसे याद न रख सके तो उसे हम कमजोर मान सकते हैं, लेकिन यदि हम स्त्रियों को आम तौर पर शिक्षा और ज्ञानार्जन से वंचित रखते हैं तो उन्हें हीन कहना न्यायसंगत नहीं होगा ' वही, पृ 360–61

20 *हिंदू पेट्रिअट*, फरवरी 1853

21 *हिंदू इंटेलीजसर*, 19 फरवरी 1855

22 वही

23 वही, 2 जुलाई 1849

24 *दि बाबे दर्पण,* 18 अगस्त 1837
25 एस आर. मेहरोत्रा, *दि इमर्जेस आफ दि इडियन नेशनल काग्रेस,* दिल्ली, 1971, पृ 44
26 *बाबे विटनेस,* 5 जुलाई 1845 और *बाबे गजट,* 10 जुलाई 1845
27 मेहरोत्रा कृत *इमर्जेस आफ दि इडियन नेशनल काग्रेस* के पृ 45 मे उद्धृत
28 *बाबे गजट,* [redacted] नवबर 1857
29 घोष (स), *दि इग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 234, *दि बगाल स्पेक्टेटर,* मई 1842, *बाबे टाइम्स,* 12 जून 1838
30 शान मोहम्मद (सं), *राइटिंग्स एड स्पीचेज आफ सर सैयद अहमद खा,* बबई, 1972, पृ 117
31 'डिस्कशस इन अहमदनगर डिबेटिंग सोसायटी', *बाबे गजट,* 1 फरवरी और [redacted] फरवरी 1855
32 घोष (स), *दि इग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* पृ 284
33 वही, पृ 442
34 एम जी रानडे, *दि मिसलेनियस राइटिंग्स,* बबई, 1915, पृ 116
35 बकिमचद्र ने किंचित नाटकीय ढग से यह सवाल पूछा 'जब लोगों को दो जून को रोटी नहीं मिले तब फिर धर्म कहा से हो?'
36 स्वामी विवेकानद, *दि कप्लीट वर्क्स,* जिल्द IV, कलकत्ता, 1971, पृ 362
37 पी एस. बसु (सं), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव,* कलकत्ता, 1940, पृ 142
38 बी बी मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज,* कलकत्ता, 1967, पृ 74
39. बसु (स), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानद केशव,* पृ 277
40. बकिमचद्र चटर्जी, *साम्य,* एम के हालदार, *रिनासा एड रिएक्शन इन नाइनटींथ सेचुरी बगाल,* कलकत्ता, 1977, पृ 166 में उद्धृत
41. बी एन गागुली, *कसेप्ट आफ इक्वलिटी : दि नाइनटींथ सेचुरी इडियन डिबेट,* शिमला, 1975, पृ 94-95
42 बकिमचद्र चटर्जी, *साम्य,* हालदार (सं), *रिनासा एड रिएक्शन इन बगाल,* पृ 203 में उद्धृत. यह वाल्तेयर और वाल्तेयर के अनुगामी उदारवादियों के विचार का लगभग हू-ब-हू अनुकरण है, देखिए गांगुली, *कसेप्ट आफ इक्वलिटी,* पृ 102
43 बसु (स), *लाइफ एड वर्क्स आफ ब्रह्मानंद केशव,* पृ 277
44 विवेकानद, *दि कंप्लीट वर्क्स,* जिल्द II, पृ 362-63, 460-69, जिल्द V, पृ 222-23
45. मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एड पालिटिकल आइडियाज,* पृ 67
46 भारतीय बौद्धिक जनों पर रचनात्मक प्रभाव और उसके फलितार्थों के विवेचन के लिए देखिए पिछला शीर्षक
47. *बाबे गजट,* 8 अप्रैल 1857, *पूना आब्जर्वर,* 17 जनवरी, 6 अप्रैल 1861.
48 देखिए पिछला अध्याय
49 *बाबे गजट,* 8 अप्रैल 1857, और मेहरोत्रा, *दि इमर्जेस आफ दि इडियन नेशनल काग्रेस,* पृ 40
50 मुहम्मद मोहर अली, *दि बगाली रिएक्शन टु क्रिश्चियन मिशनरी एक्टिविटीज,* चटगाव, 1965, पृ 101-16
51 'हमारे भारतीय स्कूलों में इस्तेमाल की जाने वाली अग्रेजी भाषा की ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जो ईसा मसीह के उपदेशों के मोक्षदायी सत्यों का न्यूनाधिक अभ्यास नहीं कराती हो सामान्यत. तो हिंदू विद्यार्थी ईसाइयत सिखाने वाली शिक्षा के खिलाफ सुरक्षित रहता है, फिर भी पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से प्रचारित ईसाइयत के प्रभाव से वह बचा नहीं रह सकता.' कैलाशचद्र घोष, ए ब्रीफ

मेमायर आफ बाबू दुर्गाचरण बनर्जी, कलकत्ता, 1871, पृ 4

52 *बाबे गजट*, 8 अप्रैल 1857

53 तत्वबोधिनी सभा के विचारों तथा दृष्टिकोणों के एक अध्ययन के लिए देखिए अरुंधती मुखोपाध्याय, 'एटिच्यूड्स टुवर्ड्स रिलीजन एंड कल्चर इन नाइनटींथ सेंचुरी बंगाल : तत्वबोधिनी सभा, 1839-53,' जिसे के एन पणिक्कर (स), *स्टडीज इन हिस्ट्री*, औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक इतिहास पर प्रकाशित विशेषांक, जिल्द 3, अंक 1, जनवरी-जून 1987 में शामिल किया गया है

[redacted] दिलीपकुमार विश्वास, 'महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर एंड दि तत्वबोधिनी सभा', अतुलचंद्र गुप्त (स), *स्टडीज इन दि बंगाल रिनासां*, जादवपुर, 1958, पृ 41 में उद्धृत साथ ही देखिए *तत्वबोधिनी पत्रिका*, फाल्गुन, शक 1766, अंक 19 और चैत्र, शक 1766, अंक 20

55 *बाबे गजट*, 9 मई, 26 जुलाई और 23 दिसंबर 1851

56 *बाबे गजट*, 6 अक्तूबर 1856

57 वही

58 मजुमदार, *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज*, पृ 206

59 *बाबे गजट*, 31 अक्तूबर 1857

60 *बाबे गजट*, 1 और 22 अक्तूबर 1856

61 *दि ओरिएंटल क्रिश्चियन स्पेक्टेटर*, मई 1833 और के के मुहम्मद अब्दुल करीम (स), *मकती तंगालुदे संपूर्ण कृतिकल* (मलयालम), तिरूर, 1981

62 इन विचारों के विवेचन के लिए देखिए के एन पणिक्कर, अध्यक्षीय अभिभाषण, आधुनिक भारतीय इतिहास विभाग, *इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स*, 1975

[redacted] *तत्वबोधिनी पत्रिका*, अग्रहायण, शक 1798, अंक 440 साथ ही देखिए *सोमप्रकाश*, कार्तिक 16, विक्रम संवत 1293, और *बंगाल स्पेक्टेटर*, जिल्द 1, जून 1842, पृ 42-44

64 *तत्वबोधिनी पत्रिका*, माघ, शक 1798, अंक 402 अंग्रेजी पाठ्य पुस्तकों में सांस्कृतिक पूर्वग्रहों के विवेचन के लिए देखिए *बंगाल स्पेक्टेटर*, जिल्द II, 24 अक्तूबर 1843, पृ 4-5

65 उदयचंद्र आढ्य, 'ए प्रोपोजल फार दि प्रापर कल्टिवेशन आफ दि बंगाली लैंग्वेज एंड इट्स नैसिसिटी फार दि नेटिव्स आफ दिस कंट्री', गौतम चट्टोपाध्याय (स), *अवेकनिंग इन बंगाल इन दि नाइनटींथ सेंचुरी*, कलकत्ता, 1965, पृ 26

66 *हिंदू इंटेलीजेंसर*, 9 जनवरी 1854, *दि रिफार्मर*, 24 मार्च 1833, *तत्वबोधिनी पत्रिका*, श्रावण, शक 1770, अंक 61, और *सोमप्रकाश*, भाद्र 12, विक्रम संवत 1271, अंक 43

67 एडवर्ड डब्ल्यू सेड, *ओरिएंटलिज्म*, लंदन, 1978, पृ 10

68 *तत्वबोधिनी पत्रिका*, ज्येष्ठ, शक 1770, अंक 58

[redacted] भूदेव मुखर्जी, *आचार प्रबंध* (बांग्ला), हुगली, विक्रम संवत 1301, पृ 3

5. विकल्पों का प्रयास : औपनिवेशिक भारत में अतीत का अर्थ

चाहे वह उपनिवेशवादियों का प्रयास रहा हो या देशी अभिजनों का, औपनिवेशिक भारत में आधुनिकीकरण के प्रयास में अतीत को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा। अतीत का अर्थ क्या है और वह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित करेगा, यह तय करना बहुत कठिन साबित हुआ; फिर भी अतीत का सामना करना अनिवार्य था। कारण, जो समाज एक दीर्घ सांस्कृतिक परंपरा का उत्तराधिकारी था उसमें अतीत के प्रति संवेदनशील हुए बिना कोई प्रभावकारी सामाजिक हस्तक्षेप संभव नहीं था। औपनिवेशिक भारत में बौद्धिक प्रयास, जो अतीत के अर्थ के संबंध में छानबीन में और इस प्रकार समकालीन समाज से उसकी प्रासंगिकता के मूल्यांकन से संबंधित था, इसी संवेदनशीलता का परिणाम था। हालांकि अलग-अलग समयों में परंपरा के सार के अंत:निरीक्षण की अभिव्यक्ति अलग-अलग रूपों में हुई फिर भी यह अंत:निरीक्षण उक्त प्रयास की एक सामान्य विशेषता बना रहा। इस अध्याय में औपनिवेशिक भारत में वर्चस्व के लिए संघर्ष के निमित्त इसी अंतःनिरीक्षण के फलितार्थों पर विचार किया गया है।

अतीत की उपनिवेशवादी तसवीर

जिस संदर्भ में भारतीय बौद्धिक जनों ने अतीत पर आपत्ति की उसकी सृष्टि उपनिवेशवादी हस्तक्षेप और उसके द्वारा तैयार की गई भारतीय समाज की 'प्रगति' की रूपरेखा द्वारा की गई थी। मानव इतिहास की एक सबसे पुरानी सभ्यता से सामना हो जाने पर उपनिवेशवादी शासक उसके अतीत की उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं थे। बौद्धिक जिज्ञासा को अलग रखें तो भी शासन की मजबूरियों के कारण उन्हें अतीत से दो-दो हाथ करना ही था। परंतु अतीत से उपनिवेशवादियों का सरोकार केवल 'जानने' के प्रयत्न तक सीमित नहीं था, बल्कि उस सरोकार में उसे नए सिरे से गढ़ने के प्रयत्न का भी समावेश था।

एक विपुल साहित्य के माध्यम से उपनिवेशीकृत लोगों के इतिहास और परपंरा की तसवीर गढ़ी गई। उसका आरंभ उन कमीशनों की रिपोर्टों से होता है जिन्हें विजित प्रदेशों की अवस्थाओं के बारे में छानबीन करने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी और यह

सिलसिला औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा लिखे गए भारत तथा उसके अलग-अलग क्षेत्रों के असंख्य इतिहासों तक चला आता है, और इन सबके अलावा उसमें गैर-सरकारी अंग्रेजों के रोजनामचे और यात्रा-विवरण भी जुड़ जाते हैं। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन तथा उसके सिद्धांतकारों ने 'देशी' समाज और उसके अतीत की जो तसवीर तैयार की वह उससे बहुत भिन्न थी जो "देशी लोग" अपने बारे में जानते थे। इस तसवीर ने न केवल औपनिवेशिक सामाजिक अभियतन के लिए एक तर्क प्रस्तुत किया बल्कि 'देशी लोगों' द्वारा खुद को औपनिवेशिक चश्मे से देखने की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी।

औपनिवेशिक तसवीर में उपनिवेशवादियों तथा उपनिवेशीकृत लोगों के इतिहासों के बीच भरपूर तुलना का समावेश था। और इस तुलना में 'देशी' लोग स्पष्ट ही हीनतर स्थिति में दिखलाए गए, बावजूद इसके कि प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। मगर लगता है, प्राच्यवादी भी उसकी उपलब्धियों की अपेक्षा उसकी सादगी से अधिक प्रभावित थे। क्या विलियम जोंस ने भारत के तटों पर पहुंचने पर अपने अंदर उत्पन्न उल्लास का कारण यह नहीं बताया था कि भारत के निवासी प्रकृति के अधिक से अधिक निकट हैं। दार्शनिक तथा व्यावहारिक भेदों के बावजूद, एक अर्थ में देशी लोगों के अतीत के संबंध में उपनिवेशवादियों की दृष्टि सर्वग्राही थी, और उनके सभी विवरणों में वह अतीत स्वयं उपनिवेशवादियों के अतीत से भिन्न था। परंतु अतीत वर्तमान का प्रच्छन्न प्रतिनिधि था। अतीत की इस गढ़ी हुई तसवीर के सहारे उपनिवेशवाद ने वर्तमान का औचित्य सिद्ध किया और उसे वैधता प्रदान की।

औपनिवेशिक आचार में अतीत और वर्तमान का अंतर्संबंध उस तर्क में स्पष्ट दिखाई देता है जिसका इस्तेमाल प्रशासनिक कार्रवाइयों के लिए किया गया। भूमि के स्वामित्व की बदलती व्याख्या इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है। मसलन, जब अंग्रेजों ने 1792 में मैसूर के सुलतान के हाथों से मलाबार छीना तो जमींदारों को भूस्वामित्व प्रदान करने के लिए अतीत के रिवाज की दुहाई दी गई, क्योंकि तब जमींदारों को समाज के स्वाभाविक नेताओं और औपनिवेशिक शासन के लिए संभावित सामाजिक आधार के रूप में देखा गया।[1] उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण तक यह दृष्टि कायम रही, लेकिन उसके बाद आए दिन होने वाले कृषक विद्रोहों से परेशान होकर औपनिवेशिक राज्य को जमींदारों की स्थिति के बारे में अपनी पूर्ववर्ती धारणा बदलनी पड़ी। पारंपरिक व्यवहारों के आकलन में अधिकारियों से कहीं गलती तो नहीं हो गई, इस सवाल पर गहरा सोच-विचार किया गया। और अंत में तत्कालीन भूमि संबंधों को बदलने का जो प्रस्ताव किया गया उसमें भूल-सुधार के लिए अतीत के साक्ष्यों का सहारा लिया गया।[2] इस प्रकार अतीत की व्याख्या प्रशासनिक व्यवहार को प्रभावित करती थी, यद्यपि

उस व्याख्या को बदलती आवश्यकताओं के अनुसार हर बार बदल दिया जाता था।

देशी अतीत के प्रति औपनिवेशिक दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता उपनिवेशीकृत लोगों के इतिहास पर अधिकार करना नहीं बल्कि उन्हें सही इतिहास से वंचित करना था। इस सुविचारित वंचना के अनेक उदाहरणों में से एक है भारतीय समाज की अपरिवर्तनशीलता का मिथक, जिसका प्रचार आरंभ में औपनिवेशिक प्रशासकों ने किया और बाद में प्रमाणीकरण साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने किया।

भारतीय इतिहासलेखन की एक कार्य-सूची सुझाने वाले प्रथम व्यक्ति बंकिमचंद्र चटर्जी ने इसकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा :

> मेरी राय में, अंग्रेजी में ऐसी एक भी कृति नहीं है जो बंगाल का सच्चा इतिहास हो। जो लिखा गया है वह बंगाल का इतिहास नहीं है, उसका छोटा सा टुकड़ा भी नहीं है। उसमें बंगाली राष्ट्र का कोई इतिहास कहीं है ही नहीं। जो बंगाली इस तरह की रचना को बंगाल के इतिहास के रूप में स्वीकार करता है वह सच्चा बंगाली नहीं है।[3]

जब बंकिमचंद्र ने अपने देशवासियों को उपनिवेशवादियों द्वारा गढ़े हुए इतिहास के बारे में सचेत किया तब तक वह शिक्षित मध्य वर्ग की बौद्धिक संरचना का अंग बन चुका था। जेम्स मिल का भारतीय इतिहास का काल-विभाजन, मार्शमेन का सामाजिक रीति-रिवाजों का वर्णन, हेनरी बेवरिज का धार्मिक आचार-व्यवहारों का विवरण, तथा राबर्ट ओर्म का अंग्रेजों की सैनिक सफलता का स्पष्टीकरण मध्य वर्ग के मुहावरे का हिस्सा बन चुका था। इस प्रकार भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग अपने इतिहास को औपनिवेशिक चश्मे में देखने लगा था।

उपनिवेशीकृत इतिहास के भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा आत्मसात किए जाने तथा उसके द्वारा उसके प्रचार के उदाहरण अनेक हैं। उसका एक स्पष्ट परिणाम था 'दैवी इच्छा' की अवधारणा, जिसका इस्तेमाल बुद्धिजीवी वर्ग ने औपनिवेशिक अधिकार को तर्कसम्मत बतलाने के लिए किया।[4] इस अवधारणा के अनुसार, जिस कारण से ईश्वर अंग्रेजों की भारत-विजय की इच्छा से प्रेरित हुआ वह था इस देश का अतीत, जिसकी विशेषता सामाजिक अध:पतन, धार्मिक अंधविश्वास और राजनीतिक अराजकता थी। भारत-विजय के औचित्य के प्रतिपादन के लिए उपनिवेशवादी इतिहासलेखन में बार-बार दोहराया जाने वाला यह विषय अपराध भाव से ग्रस्त बुद्धिजीवी वर्ग के भी अपनी पराधीनता के तर्क का आधार बन गया।

बात को स्पष्ट करने के लिए एक अधिक विशिष्ट उदाहरण भी दिया जा सकता है—जेम्स मिल की अनेक जिल्दों में प्रकाशित कृति *हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया* के प्रभाव का उदाहरण। इस कृति के शीर्षक की सीमाओं से बहुत बाहर जाकर इसमें हिंदू

और मुसलमानी सभ्यताओं का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया और भारतीय इतिहास की सिरे से निंदा की गई। ईस्ट इंडिया कंपनी के सिविल अधिकारियों की प्रशिक्षण शाला हेलीबरी कालेज में पाठ्य पुस्तक के रूप में इस्तेमाल किए जाने वाले मिल के *इतिहास* का भारत के अंग्रेज प्रशासकों पर स्थायी प्रभाव पड़ा। 1844 में मिल के *इतिहास* का संपादन और अद्यतीकरण करने वाले हेमैन विलसन ने लिखा:

> मिल की *हिस्ट्री* इंगलैंड की जनता और भारत की जनता के बीच के संबंध पर जो असर डाल सकती है. .उसकी दृष्टि से इसकी प्रवृत्ति अमंगलकारी है : इससे शासक और शासितों के बीच सारी सहानुभूति खत्म हो जाएगी, जो लोग हर साल ग्रेट ब्रिटेन से निकलकर सम्मान और सत्ता के पदों पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए हिंदुस्तान जाते हैं उनके मन को उन लोगों के प्रति यह एक निराधार अरुचि से भर देगी जिन पर वे सत्ता का प्रयोग करेंगे। .ऐसी आशंका करने का कारण है कि हाल के वर्षों में भारत में इस बढ़ते हुए सेवा सवर्ग के आचरण और सोच में कठोर और अनुदार भावना फैल गई है, जिसका मूल जीवन के आरंभ में मिल की *हिस्ट्री* से ग्रहण किए गए विचारों में निहित है।[6]

मिल का प्रभाव कंपनी के प्रशासकों तक ही सीमित नहीं था; भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग भी उसके चंगुल मे फंस गया। काफी लंबे समय तक प्राक्-औपनिवेशिक राजनीतिक संस्थाओं तथा सामाजिक संगठन के बारे में बुद्धिजीवी वर्ग की धारणाएं मिल के विचारों के आधार पर बनती रहीं। भारतीय शासको की निरंकुशता का वर्णन करने के लिए राममोहन राय ने लगभग उसी शब्दावली का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग मिल ने किया था।[6]

जो एक धारणा दीर्घ काल तक कायम रही वह थी हिंदू तथा मुसलमानी सभ्यताओं को ध्यान में रखकर मिल द्वारा किए गए भारतीय इतिहास के काल-विभाजन से संबंधित धारणा। दोनों कालों में से प्रत्येक के एक-दूसरे से अलगाव पर जोर देने से भारत के अतीत के संबंध मे एक संप्रदायवादी दृष्टि की सृष्टि हुई, क्योंकि उसमें यह मानकर चला गया था कि वह अलगाव भारतीय समाज में सहज ही समाहित था और उसकी शुरुआत मुसलमानों के भारत आगमन से हुई, जिसके फलस्वरूप हिंदू शासन का पूर्ववर्ती 'भव्य' काल समाप्त हो गया। उससे "पृथक धार्मिक समुदायों की धारणा को भी बढ़ावा मिला और उन अभिकल्पित समुदायों को राजनीतिक तथा सामाजिक-कानूनी प्रयोजनों के लिए भारतीय समाज की इकाइयों के रूप में प्रस्तुत किया गया।[7] सांप्रदायिक विचारधाराओं को आधार प्रदान करने की दृष्टि से समकालीन भारत में भी उसके प्रभावों का लक्ष्य किया जा सकता है।

इतिहास को उबारना

भारत के ऐतिहासिक अतीत पर उपनिवेशवादियों के दखल जमा लेने की स्थिति को देखते हुए उसे उबारना उपनिवेशवाद-विरोधी कार्यसूची का एक महत्वपूर्ण पहलू बन गया। आरंभ में यह कार्य सोच-समझकर गढ़े गए वैकल्पिक इतिहासलेखन के रूप में सामने नहीं आया, बल्कि वह उन्नीसवीं सदी के आधुनिकीकरण के सामाजिक आंदोलनों के एक अभिन्न अंग के रूप में संपन्न हुआ। उपनिवेशवादी इतिहासलेखन के तर्काधार पर आपत्ति करने वाले अतीत के इतिहास के निर्माण को परिपक्वता प्राप्त करने में लंबा समय लगा, और जब वह परिपक्व हुआ तो उसका रूप मुख्य रूप से राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया का था, जिसमें या तो पश्चिम के अतीत से बराबरी या उस पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

प्राक्-राष्ट्रवादी दौर के बौद्धिक तथा सामाजिक आंदोलनों ने अतीत का सामना एक अलग ढंग से किया। चूंकि इन आंदोलनों का मुख्य प्रयास वर्तमान का रूपांतरण था, इसलिए परंपरा का सातत्य या उससे विच्छिन्नता एक विवादास्पद प्रश्न बन गया। वर्तमान अतीत से किस हद तक भिन्न हो सकता है और परंपरा के किन तत्वों को वर्तमान में कायम रहना चाहिए? इस प्रश्न पर कोई सहमतिपूर्ण दृष्टि नहीं थी, यहां तक कि एक ही सामाजिक आंदोलन के अंदर भी नहीं। इसलिए आतंरिक भेद उत्पन्न हो गए, जैसे ब्राह्मो समाज और आर्य समाज में।[8]

आधुनिकीकरण के आंदोलनों के अंतर्गत चलने वाली बहस की धुरी यह सवाल था कि प्रामाणिक परंपरा क्या है। ऐसा कोई भी सामाजिक प्रश्न नहीं था जिसमें अतीत के रीति-रिवाज और उनके हक में शास्त्रगत विधान विवाद का विषय नहीं बन गया। 1829 में जब सती प्रथा को समाप्त किया गया और बाद में जब विधवा विवाह और विवाह वय को बढ़ाने के लिए अभियान चला तो परिवर्तन के समर्थकों तथा विरोधियों ने अपनी-अपनी स्थिति के बचाव में अतीत की ही दुहाई दी। सती प्रथा के सबंध में राममोहन ने इस सुधार का औचित्य सिद्ध करने के लिए हिंदू धर्मग्रंथों के हवाले दिए तो उनके विराधियों ने भी यथास्थिति कायम रखने के लिए उन्हीं स्रोतों का सहारा लिया।[9] दोनों अतीत से सातत्य स्थापित करने और इस प्रकार अतीत का उपयोग वैधीकरण के औजार के रूप में करने का प्रयत्न कर रहे थे।

अतीत का आवाहन चाहे परिवर्तन के समर्थकों ने किया हो या यथास्थिति के पक्षधरों ने, अतीत को लेकर चलने वाली बहस की दो विशेषताएं थीं। पहली यह थी कि वह गुणात्मक दृष्टि से इतिहास की उपनिवेशवादी व्याख्या से भिन्न था। दो में से कोई भी उपनिवेशवादी सिद्धांतकारों की तरह अतीत पर अपना दखल जमाने की कोशिश नहीं कर रहा था; इसके विपरीत, दोनों उसकी शक्ति की तलाश कर रहे थे, उसकी प्रामाणिकता स्थापित करने में जुटे हुए थे। दूसरी विशेषता यह थी कि परंपरा की

अवधारणा ब्राह्मणीय तथा धर्मग्रथो पर आधारित थी, जिसमे ऐसी समान परपराओं का आविष्कार करने का प्रयत्न किया जा रहा था जो सभी हिंदुओं पर लागू हों। सती प्रथा से सबधित बहस के दौरान धर्मग्रथों के विधान से सबधित दलीलें उस प्रश्न पर हावी दिखाई दे रही थीं जिसके लिए अतीत की दुहाई दी जा रही थी। धर्मग्रंथो पर इतना अधिक जोर देते देखकर एक विद्वान ने लिखा : 'परंपरा वह आधार नहीं थी जिस पर स्त्रियों की स्थिति को लेकर विवाद चल रहा था। बल्कि सचाई इससे उलटी थी : दरअसल स्त्री वह विषय बन गई जिसके आधार पर परंपरा पर बहस चली और उसे नया रूप दिया गया। मुद्दा स्त्रियों का नहीं, बल्कि परंपरा का था।'[10]

वस्तुत. इस बहस का केंद्र बिंदु यह सवाल था कि प्रामाणिक परंपरा क्या है। तथापि इस बहस की प्रेरणा अतीत के प्रति चिंता से नहीं, बल्कि वर्तमान मे व्याप्त स्थिति से मिली थी। उद्देश्य परपरा को पुनर्स्थापित करना नहीं था, परंपरा का आवाहन सिर्फ एक साधन के रूप में और व्यावहारिक कारणो से किया गया।

इस बहस की दूसरी विशेषता अर्थात परंपरा की ब्राह्मणीय और धर्मग्रंथ-समर्थित दृष्टि ने इस बात को नजरअदाज कर दिया कि स्वयं हिंदू धर्म के अनुयायियों के बीच अनेक परपराए प्रचलित हैं। बहुसख्यक हिंदू 'महान परपरा' के बाहर पडते थे। वह परपरा सारत. ऊपरी जातियों के प्रभुत्व की विचारधारा थी। औपनिवेशिक काल में ऊपरी जातियों के सुधारकों ने धर्मग्रथों पर आधारित हिदू धर्म की जो तसवीर तैयार की वह प्रभावत ब्राह्मणीय परंपरा को सार्वजनीन बनाने का एक प्रयत्न था। लेकिन साथ ही, ब्राह्मणीय तथा धर्मग्रथात्मक परपराओ से बाहर पडने वाली परंपराओं की तलाश तथा उनके अदर ऊपरी जातियो के आंदोलनों से अलग आंदोलन खडा करने का प्रयत्न भी चल रहा था। केरल में नारायण गुरु, महाराष्ट्र मे ज्योतिबा फुले और तमिलनाडु में रामस्वामी नायकर द्वारा आरभ किए गए आदोलन इस प्रवृत्ति के सूचक थे। ऊपरी जातियों की लिपिबद्ध परपरा को अस्वीकार करते हुए उन्होने ब्राह्मणीय धर्मग्रथों से वैधता प्राप्त करने की कोई कोशिश किए बगैर नई सामाजिक तथा धार्मिक रीति-नीति आरंभ करने का प्रयत्न किया। नारायण गुरु ने, जो अस्पृश्य थे, अपने स्थापित मदिरों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं का अभिषेक, बिना किसी कर्मकाड के स्वय ही किया। ऐसा करके उन्होंने न केवल ब्राह्मणीय परपरा को चुनौती दी, बल्कि ऊपरी जातियों की धार्मिक विचारधारा पर अदर से प्रहार करने मे भी योगदान किया। प्रथम अभिषेक के समय उन्होने पास की नदी से एक पत्थर उठाया और उसी को प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, बाद में वे एक आईने का इस्तेमाल उपास्य के रूप में करने लगे।[11] यद्यपि वे 'एक ईश्वर, एक धर्म, एक जाति' के सार्वजनीनवादी विचार के पक्षधर थे लेकिन पूजा की ब्राह्मणीय पद्धतियों मे निचली जातियों के समावेश के सास्कृतिक फलितार्थों के प्रति वे सवेदनशील थे। शायद इसीलिए ऊपरी जातियों के मदिरों में अस्पृश्यो के प्रवेश का

कोई आंदोलन आरंभ करने की अपेक्षा उन्होंने नए पूजास्थलों की स्थापना का प्रयत्न किया। सच तो यह है कि गांधीजी के नेतृत्व में चलने वाले मंदिर-प्रवेश आंदोलन के संबंध में उनकी प्रतिक्रिया उत्साहरहित, बल्कि लगभग उदासीनतापूर्ण थी।[12]

प्रामाणिक परंपरा की तलाश का एक दोष यह भी था कि वह धर्म-केंद्रित दृष्टि से ग्रसित थी। चूंकि वह तलाश समुदाय पर आधारित सुधार से जुड़ी हुई थी, इसलिए *अतीत की अवधारणा अनिवार्यतः समुदाय-विशेष की धार्मिक विशेषताओं के गिर्द* घूमती रही। इस प्रकार एक 'हिंदू' और एक 'मुसलमानी' परंपरा की सृष्टि की गई और उस पर दोनों समुदायों ने अपना-अपना दखल जमा लिया। फलतः वेद और उपनिषदें हिंदुओं के लिए विधायी ग्रंथ बन गईं और कुरान तथा हदीस मुसलमानों के लिए। यह विशिष्टतावादी प्रवृत्ति पूरे औपनिवेशिक काल में जारी रही और समकालीन भारत में *इसका आधार और भी विस्तृत हुआ है। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की* समाहारवादी परंपरा का राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान सहारा तो लिया गया परंतु वह विशिष्टतावादी चेतना को प्रतिसंतुलित नहीं कर पाई। इसलिए परंपरा तथा धर्म के बीच की एकता ने सामाजिक चेतना में अपनी जड़ें जमा लीं।

उदारवाद के विकल्प

यद्यपि प्रामाणिक परंपरा की तलाश की प्रवृत्ति अंतःनिरीक्षण की थी लेकिन उससे औपनिवेशिक आधुनिकीकरण द्वारा निर्दिष्ट विकास के मार्ग के विकल्प की खोज की प्रवृत्ति भी उभरी। राजनीतिक परिवर्तन, जो औपनिवेशिक आवश्यकताओं से परिसीमित और नियंत्रित था, औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना से जुड़ा हुआ था। इसलिए प्रति-वर्चस्व *की स्थापना को प्रगति की उससे भिन्न धारणा पर आधारित होना था जिसे मानकर* 'परोपकारी' औपनिवेशिक शासन चलता था। इस प्रकार की धारणा की सृष्टि करने में अतीत छानबीन का क्षेत्र बन गया—खास तौर से इस उद्देश्य से कि समकालीन समाज के रूपांतरण के लिए पारंपरिक संस्थाओं तथा विचारों में निहित संभावनाओं को साकार किया जा सके। 1857 के विद्रोह के बाद के तीन दशकों के दौरान भारतीय बौद्धिक जनों ने इस अंतःनिरीक्षण के द्वारा अपने इतिहास की अपनी समझ का तार वर्तमान की आवश्यकताओं से जोड़ने का प्रयास किया।[13]

औपनिवेशिक शासन ने प्रगति का जो मार्ग भारतीय मानस के समक्ष प्रस्तुत किया उसमें उदारवादी राज्यव्यवस्था की धारणा सबसे प्रभावशाली थी। बुद्धिजीवी वर्ग का राजनीतिक सपना उदारवादी सिद्धांतों से इतनी घनिष्ठता से जुड़ गया कि उदारवाद राजनीतिक संस्थाओं को, चाहे वे औपनिवेशिक शासन की संस्थाएं हों या भारतीय शासकों की, परखने का एकमात्र मापदंड बन गया। उदारवाद का वर्चस्वी प्रभाव ऐसा था कि राजनीतिक संस्थाओं तथा आचार-व्यवहारों के क्षेत्र में किसी विकल्प की तलाश

को कोई स्वर ही नहीं मिला।

प्रारंभिक भारतीय राजनीतिक चिंतन या तो उदारवादी विचारों के पल्लवन के रूप में सामने आया या औपनिवेशिक राजनीतिक आचरण की समालोचना की शक्ल में। हालांकि इस समालोचना से ईश्वरी इच्छा के सिद्धांत में विश्वास के अतिक्रमण में सहायता मिली लेकिन यह समालोचना उदारवादी सिद्धांतों की नींव पर दृढ़ता से आधारित थी। फिर भी, विभिन्न प्रकार की राज्यव्यवस्था और सामाजिक संगठन ढूंढ निकालने के प्रयत्नों का औपनिवेशिक भारत में सर्वथा अभाव नहीं था। यह चीज हमें 1867 में विष्णु बावा ब्रह्मचारी द्वारा मराठी में सरकार पर लिखे प्रबंध *सुखदायक राज्य-प्रकरनी निबंध* (सुखदायी सरकार पर निबंध) में देखने को मिलती है, जिसे 1869 में अंग्रेजी में भी अनूदित किया गया।

विष्णु बावा ब्रह्मचारी के नाम से लोकप्रसिद्ध विष्णु भीखाजी गोखले का जन्म 1825 में बंबई प्रेसिडेंसी के ठाणे जिले में एक कोंकणस्थ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्हें पारंपरिक या आधुनिक कोई भी शिक्षा समुचित रीति से नहीं मिल पाई। एक ग्रामीण शाला में कुछ साल बिताने के बाद उन्होंने एक अनाज व्यापारी के यहां नौकरी कर ली और बाद में चुंगी विभाग के कर्मचारी बन गए। कहते हैं, किसी दिव्य प्रेरणा से उन्होंने इस नौकरी से भी त्यागपत्र दे दिया, और सप्तशृंगिरि चले गए, जहां उन्होंने एकांतवास करते हुए धार्मिक साधना और ध्यान-योग में कई साल बिताए। हालांकि उनकी बौद्धिक रुचियों की तफसीलों का पता लगाना कठिन है फिर भी अपने इस प्रवास से वे हिंदू धर्म के ज्ञान से भली भांति संपन्न होकर धर्म का प्रचार और बचाव करने के संकल्प के साथ लौटे। पश्चिमी महाराष्ट्र के सांगली, मीरज, कोल्हापुर, वई, सतारा, पुणे और अहमदनगर जैसे अलग-अलग स्थानों की अल्पकालिक यात्रा के बाद 1856 में वे बंबई पहुंचे, जो 1871 में उनकी मृत्यु पर्यंत उनका कार्यक्षेत्र बना रहा।[14] विष्णु बावा उन्नीसवीं सदी के ढंग के न तो सुधारक थे और न पुनर्स्थापनावादी। राममोहन और दयानंद की तरह उन्होंने कोई आंदोलन आरंभ नहीं किया और न कोई संगठन स्थापित किया। फ्रैंक कानलान ने बहुत ठीक कहा है कि उनका मिशन 'बुनियादी तौर पर भारतीय धर्मों के सामने उपस्थित ईसाई चुनौती के रंग में रंगा हुआ था।'[15]

जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1813 में मिशनरियों की गतिविधियों पर लगा प्रतिबंध उठा लिया उसके बाद ईसाई धर्म के प्रचार के लिए महाराष्ट्र में एक आक्रामक और बहुमुखी अभियान छेड़ा गया। अब वह नुक्कड़ों पर दिए जाने वाले व्याख्यानों तक सीमित नहीं था, पत्र-पत्रिकाओं, प्रचार-पुस्तिकाओं और स्कूली पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से उसे अधिक संगठित तथा स्थायी रूप में चलाया जाने लगा। भारत को ईसाई बनाना औपनिवेशिक कार्यसूची का अंग होना चाहिए, इस विश्वास को अखबारी स्तंभों में सशक्त ढंग से स्वर दिया गया। धर्मांतरण के मामलों की बढ़ती हुई संख्या मिशनरियों

के प्रयत्नों की सफलता की साक्षी भर रहा था।

मिशनरियों के इस प्रकार से हिंदू बुद्धिजीवी वर्ग चौकन्ना हो उठा। धर्मतत्वों को लेकर शास्त्रार्थ उनका एक परिचित क्षेत्र था। सच तो यह है कि वह भारतीय बौद्धिक परंपरा का एक अभिन्न अंग था। ईसाई मिशनरियों के साथ भी शास्त्रार्थ लंबे समय से—खास तौर से पुर्तगालियों के भारत आगमन के बाद से—चलता रहा था। अब जिस बात को लेकर वे चिंतित थे वह यह थी कि मिशनरियों को राजनीतिक समर्थन मिल सकता है, जिससे ईसाई धर्म के खिलाफ अपने बचाव में हिंदू धर्म असुविधा की स्थिति में पड़ जाएगा।[16] इसलिए हिंदू बुद्धिजीवी वर्ग सक्रिय हो उठा, उसने धर्मांतरण के खिलाफ सरकार को प्रार्थनापत्र दिए, हिंदू धर्म की रक्षा के लिए समितियां गठित कीं, प्रचार पुस्तिकाएं और समाचारपत्र प्रकाशित किए, तथा मिशनरियों के साथ खुली बहस में भाग लेना आरंभ कर दिया।

विष्णु बावा के भी सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने का कारण ऐसा ही था। उसके पीछे भी हिंदू धर्म को कमजोर करने और ईसाई धर्म का प्रचार करने के मिशनरियों के प्रयत्नों का मुकाबला करने का हेतु ही काम कर रहा था। हिंदू धर्म को महाराष्ट्र में गंगाधर शास्त्री, मोरेभट दांडेकर तथा लक्ष्मण शास्त्री जैसे रक्षक पहले से ही प्राप्त थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से मिशनरियों के प्रचार का प्रतिवाद किया और हिंदू धर्म की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए प्रचार-पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं।[17] परंतु विष्णु बावा ने व्याख्यानों की एक पूरी श्रृंखला में 'ईसाई सिद्धांतों पर जो प्रत्याक्रमण' किया वह सबसे अधिक प्रभावकारी था।[18] *बांबे गार्डियन* में समाचार छपा कि 'अपने धर्म के सम्मान के लिए उत्साह से भरे हिंदुओं ने महान उल्लास के साथ उनका स्वागत किया', और उनका व्याख्यान-कक्ष 'खचाखच भरा हुआ था, सो बूढ़े-पुराने हिंदुओं से नहीं बल्कि समुदाय के अधिक प्रबुद्ध और जाग्रत वर्गों के लोगों से।'[19] इन व्याख्यानों के संबंध में आम राय यह थी कि विष्णु बावा ने, जिन्हें उनके अनुगामी वैरागी कहा करते थे, हिंदू धर्म की प्रामाणिकता को पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है और 'ईसाई धर्म के पुरोहितों को दलील से परास्त कर दिया है।'[20]

मिशनरियों के साथ विष्णु बावा का मुकाबला उस काल की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था के एक विकल्प की रूपरेखा की बौद्धिक तलाश का जनक साबित हुआ। इस निबंध में उनके विचार उनकी सारगर्भित कृति *वेदोक्त धर्म प्रकाश* (1859) तथा उनकी प्रचार-पुस्तिका *सुखदायक राज्यप्रकारनी निबंध* में निहित हैं।[21]

सुखदायक राज्यप्रकारनी निबंध भारत के बौद्धिक इतिहास में एक युगांतरकारी महत्व रखती है। इस पुस्तिका में पंद्रह विभाग हैं और अंत में उपसंहार दिया गया है।[22] इस पुस्तिका में, जिसके बारे में कहा गया कि 'यदि पश्चिमी दुनिया के द्वारा किया गया शैक्षिक कार्य यहां न किया गया होता तो हिंदू मानस कैसा होता, उसका यह एक

नमूना है', और जिसे 'हिंदुओं के स्वप्नलोक' के रूप में खारिज करने की कोशिश की गई,[23] एक ऐसी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा की गई जो कृषि तथा उद्योग के क्षेत्रों में आवश्यक उत्पादन और न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करेगी। इस निबंध का उद्देश्य एक ऐसे समाज का गठन था जिसमें 'संपूर्ण मानव जाति, बिना किसी स्वार्थ के, सत्य के पक्ष में बोलने में प्रवृत्त होगी और आपसी संबंधों में मित्रता, दया, क्षमा और शांति का व्यवहार करने को तत्पर होगी।'[24]

निबंध में प्रयुक्त सूत्र शब्द परिवार और राजा हैं। समाज की कल्पना एक बड़े परिवार के रूप में की गई है, जिसमें राजा मुखिया है। देश के राजा को उस देश में निवास करने वाली सारी प्रजा को उसका अपना परिवार मानना चाहिए, और खुद को अपनी प्रजा रूपी परिवार का एकमात्र स्वामी।[25] उधर प्रजा को 'धर्मपरायण राजा को यह आश्वासन' निवेदित करना चाहिए 'कि वे लोग उसके प्रति वफादार रहेंगे और उसके आदेशों का पालन तत्परता से करेंगे।'[26] राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा का भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण सुनिश्चित करना था। इस प्रकार समाज शासक और शासितों के आपसी सहयोग के सिद्धांत पर काम करेगा।

खाद्य सामग्री, कपड़े और अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन का दायित्व राजा के सिर डाला गया था। उसे 'अपने प्रसार के अधीन आने वाले पूरे देश को एक बगीचा समझना चाहिए, और इसलिए उस बगीचे अर्थात उस देश में प्रजा रूपी उस परिवार के लिए पर्याप्त उत्पादन कराने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखना चाहिए।'[27]

'शासित लोग' इस देश में लगातार खेतीबारी करते रहे, यह सुनिश्चित करने के लिए उसे नदियों पर बांध तथा जलागार और तालाब बनवाने चाहिए।[28] राजा से यह भी अपेक्षित था कि कपड़े, आभूषण तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के लिए वह कारखाने स्थापित करे। इन्हें कार्य के ऐसे क्षेत्र माना गया जिनमें विशेषज्ञता अपेक्षित थी, और इसलिए यह कार्य वही लोग कर सकते थे जिन्हें प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त था, जिसके लिए यह तजवीज थी कि राजा शैक्षिक संस्थाएं स्थापित करेगा।[29]

उत्पादन और वितरण पद्धति की कल्पना सामुदायिक स्वामित्व के सिद्धांत के आधार पर की गई। इसलिए भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर संयुक्त स्वामित्व होना था और सभी उत्पादों में व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार समाज के सभी सदस्यों को हिस्सेदारी करनी थी। प्रत्येक व्यक्ति, यहां तक कि राजा भी, 'एक ही तरह का आहार लेता, लेकिन उसमें किसी प्रकार के मांस का समावेश' नहीं होना था। यह आहार एक ही सामूहिक भोजनालय से लिया जाना था, उसे सबके लिए होना चाहिए और उसका उपभोग सबको करना चाहिए। इसी प्रकार ग्रामीण भंडारों में कपड़ों के विशाल भंडार रखे जाने चाहिए, जिनमें से 'हर व्यक्ति को अपनी पसंद के मुताबिक पोशाक बनवाने की सुविधा होनी चाहिए।'[30]

विष्णु बावा की कल्पना के अनुसार, राजा के सामान्य नियंत्रण में चलने वाले उत्पादन और वितरण के फलस्वरूप ऐसे समाज का मार्ग प्रशस्त होगा जिसमें लोगों को उनकी जरूरत और ऐशो-आराम की सभी वस्तुएं सुलभ कराई जाएंगी। लोगों को बिना किसी भेदभाव के अच्छे से अच्छा खाना और भरपूर कपड़े तथा जेवरात सुलभ रहेंगे। उन्हें आनंद और मनोरंजन के पर्याप्त अवसर मिलेंगे : नृत्य, उत्सव तथा अन्य मनोरंजन। इसी प्रकार प्रत्येक के आने-जाने के लिए पालकियां, रथ और घोड़े सुलभ रहेंगे।[31]

इस व्यवस्था का परिणाम एक सद्भावपूर्ण समाज के रूप में सामने आएगा, 'जो शत्रुओं, आवेशों से मुक्त सुख-शांति का देश' होगा।[32] कारण, 'प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाएं और आकांक्षाएं पूर्ण रूप से तुष्ट होंगी, और इसलिए दुर्भावना के लिए कोई वजह ही नहीं होगी, क्योंकि दुर्भावना तभी जन्म लेती है जब लोगों को लगता है कि उनकी कुछ इच्छाएं अपूर्ण रह गईं। कोई उत्तेजना नहीं होगी, इसलिए शिकायत जैसी कोई चीज नहीं होगी, जिसके कारण लोग अपराध करने के लिए प्रेरित होते हैं।'[33]

एक आदिम और समतावादी स्वप्नलोक सामने रखते हुए, विष्णु बावा को उसकी कम से कम कुछ संभावित समस्याओं का एहसास था। उनमें से एक का संबंध एक ऐसे समाज में, जिसमें प्रत्येक को समान अधिकार और अवसर प्राप्त हैं, कार्य के वितरण के एक स्वीकृत मानदंड से था। उदाहरण के लिए, शौचालयों और थूकदानियों की सफाई कौन करेगा या सड़कों की सफाई जैसे रख-रखाव के काम कौन करेगा? विष्णु बावा की योजना में इसका समाधान व्यक्तियों की प्राकृतिक असमानता की स्वीकृति में निहित था। उनका कहना था कि 'सभी लोगों की रुचि एक जैसी और समान हद तक नहीं होती, और इसलिए वे एक ही तरह के काम करने के अभ्यस्त नहीं होते।'[34] व्यक्तिगत योग्यता के इन सहज भेदों को ध्यान में रखते हुए राजा को अपनी प्रजा को समाज में अलग-अलग तरह के काम के लिए तैयार करना चाहिए। लेकिन यह बात वंशानुगत पेशों पर लागू नहीं होगी, क्योंकि हर पीढ़ी के बच्चे उन पेशों के लिए प्रशिक्षित किए जाएंगे जिनके लिए वे सबसे अधिक उपयुक्त हैं।[35]

अतीत का प्रभाव

विष्णु बावा के निबंध में आंतरिक संगति या तर्कसंगत दलीलें नहीं हैं। इसमें विचारों के पल्लवन का अभाव है और व्याख्या कमोबेश सरलतापूर्ण है। इसमें पहले से ही मौजूद जटिल सामाजिक संबंधों को नजरअंदाज कर दिया गया लगता है। स्पष्ट ही उनकी योजना अव्यावहारिक है, भले ही उसमें निहित विचार प्रशंसनीय हों। तथापि यह औपनिवेशिक शासन के वर्चस्ववादी आदर्शों से किसी भिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था की तलाश की अभिव्यक्ति था। उस तलाश में अतीत प्रेरणा का

सबसे महत्वपूर्ण स्रोत था।

लगता है, विष्णु बावा के दार्शनिक तथा सामाजिक-राजनीतिक विचारों को ढालने में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों तथा भक्ति साहित्य जैसे अनेक पारंपरिक स्रोतों से मदद मिली। उनके लेखन में इन स्रोतों से विचार ग्रहण करने और उनका समाहार प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। अंतर्वस्तु तथा प्रस्तुतीकरण की पद्धति में परंपरा के विविध प्रभाव साफ दिखाई देते हैं। प्रेरणा का एक प्रमुख स्रोत वैदिक संहिताएं थीं, जिनसे इस प्रबंध का केंद्रीय विचार, अर्थात राजा के परिवार का मुखिया होने का विचार ग्रहण किया गया।[36] यही बात समाज में अलग-अलग प्रकार के कर्तव्यों के निर्वाह के लिए लोगों की भर्ती और प्रशिक्षण पर भी लागू होती है।[37] राजा के आध्यात्मिक तथा धार्मिक कर्तव्यों की कल्पना वेदांत और भक्ति के दर्शनों के आधार पर की गई।[38] *वेदोक्त धर्म प्रकाश* में विष्णु बावा का कहना है कि अगर सत्य बोलने से मनुष्य का धर्म खतरे में पड़ जाए, और सच्ची नैतिकता तथा संसार का और अपना अस्तित्व संकटापन्न हो जाए तो कुछ न बोलना ही बेहतर होगा।[39] स्पष्ट ही, यह महाभारत में सत्य के संबंध में भीष्म के वचन का भावानुवाद है।[40] इन उदाहरणों में—और ऐसे बहुत से अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं—जो बात महत्वपूर्ण है वह यह कि अभिव्यक्ति का मुहावरा देशी सांस्कृतिक परंपरा से ग्रहण किया गया।

उन्नीसवीं सदी में विकास के मार्ग की रूपरेखा तैयार करने के लिए अपने अंतस की ओर, अपनी परंपरा की ओर झांकने वाले अन्य बहुत से लोगों की तरह विष्णु बावा पर भी पुनर्स्थापनावाद की छाप लगा दी गई है, ऐसे व्यक्ति की छाप जो 'अपने अतीत की ओर लौट चलने को कह रहा है।'[41] उनकी योजना पर अतीत का काफी प्रभाव था, और वे वेदों को सभी ज्ञान का स्रोत मानते थे, इसमें कोई शक नहीं है।[42] तथापि उन्होंने अतीत को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने कहा, 'अतीत तो जा चुका है और भविष्य आने वाला है।'[43] वे अतीत का अनुकरण नहीं कर रहे थे, बल्कि चुन-छांटकर उसे ग्रहण कर रहे थे। फलतः वे कई पारंपरिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों के खिलाफ थे। वे जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, अस्पृश्यता और स्त्रियों के परदे के खिलाफ थे।[44] ब्राह्मण की 'पुरोहित मंडली' के भी वे कड़े आलोचक थे। उनका मानना था कि वे जघन्यतम जालसाजी के, अर्थात धर्म में पाखंड भरने के दोषी हैं।[45]

यद्यपि विष्णु बावा का परिचय ज्ञान के पारंपरिक स्रोतों से ही था लेकिन समकालीन परिघटनाओं के प्रति वे असंवेदनशील नहीं थे। वे मशीनीकरण के खिलाफ नहीं थे, भले ही उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक संगठन की एक कमोबेश आदिम पद्धति की हिमायत की हो। यह बात अंतर्विरोधपूर्ण तो है लेकिन साथ ही महत्वपूर्ण भी कि उनकी योजना में रेलवे और टेलीग्राफ के लिए स्थान था।[46] उन्होंने जो सपना देखा था वह समाज के संस्कृति अभिमुख विकास का सपना था, जो अतीत से बिलकुल कटा हुआ

नहीं था लेकिन उसके पाश में फसा हुआ भी नहीं था। उनका सरोकार अतीत नहीं, बल्कि वर्तमान था :

> अतीत और भविष्य के बीच जो चीज खड़ी है वह अटलता है, जो वर्तमान काल है, और जब तक आप उस अटल सच्चे वर्तमान का ज्ञान प्राप्त नहीं करते और जब तक उस ज्ञान के बल पर आप इस विश्वास से छुटकारा नहीं पाते कि भविष्य अतीत में चला जाएगा तब तक आपके विश्वास सारहीन साए भर हैं।[47]

विष्णु बावा ने अपनी कलम ऐसे समय में चलाई जब भारत में औपनिवेशिक पराधीनता के अंतर्गत पूंजीवादी व्यवस्था उभर रही थी। उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में पूंजीवादी पद्धति धीरे-धीरे परंतु निश्चित रूप से प्रविष्ट होती जा रही थी। विष्णु बावा की योजना इस नई व्यवस्था का एक विकल्प थी। यही बात राजनीतिक संस्थाओं के क्षेत्र में भी लागू होती है, क्योंकि उसमें एक ऐसी राज्यव्यवस्था की तजवीज थी जो उस पाश्चात्य उदारवादी नमूने से बिलकुल भिन्न थी जिसके लिए भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग लालायित था। उदारवादियों के वर्चस्व के उस दौर में विष्णु बावा की योजना ने बुद्धिजीवी वर्ग को प्रभावित नहीं किया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी अपनी तमाम मर्यादाओं के बावजूद उसने विकास के एक ऐसे मार्ग की रूपरेखा अवश्य प्रस्तुत की जो देश की मिट्टी में से होकर गुजरता था। खास तौर से उपनिवेशोत्तर समाजों के पश्चिमी दुनिया की ऊंचाई हासिल करने के आकुलतापूर्ण परंतु असफल प्रयत्नों के संदर्भ में यह योजना अर्थवान हो जाती है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 सी ए. इन्स और एफ बी एवान्स, *मलाबार*, मद्रास, 1951, पृ 307
2 विलियम लोगन, *रिपोर्ट आफ दि मलाबार स्पेशल कमीशन*, जिल्द I, मद्रास, 1822 पणिक्कर, *अगेंस्ट लार्ड एंड स्टेट*, दिल्ली, 1989, पृ 106
3 रणजीत गुहा कृत *एन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी आफ इंडिया : ए नाइनटींथ सेंचुरी एजेंडा एंड इट्स इम्प्लिकेशंस*, कलकत्ता, 1988 में उद्धृत
4 'ईश्वरी इच्छा' के पल्लवन के लिए देखिए पहला अध्याय
5 सी एच फिलिप्स, 'जेम्स मिल, माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन, एंड दि हिस्ट्री आफ इंडिया', सी एच. फिलिप्स (स), *हिस्टोरियंस आफ इंडिया, पाकिस्तान एंड सिलोन*, लंदन, 1961, पृ 225-26
6 जे सी. घोष (स), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, इलाहाबाद, 1906, पृ 234
7 रोमिला थापर, 'कम्युनलिज्म एंड दि हिस्टोरिकल लोगेसी सम फैक्ट्स', के एन पणिक्कर (सं), *कम्युनलिज्म इन इंडिया : हिस्ट्री, पालिटिक्स एंड कलचर*, नई दिल्ली, 1991, पृ 19
8 तफसील के लिए देखिए शिवनाथ शास्त्री, *हिस्ट्री आफ ब्राह्मो समाज*, और केनिथ डब्ल्यू जोंस, आर्य धर्म, बर्कले, 1976
9 घोष (सं), *दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय*, पृ 321-65

10 लता मणि, 'कंटेंशस ट्रेडिशंस : दि डिबेट आन सती इन कोलोनियल इंडिया', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.), *रिकास्टिंग विमेन*, नई दिल्ली, 1989, पृ. 118 में उद्धृत.
11 टामस सैम्युअल, *वन कास्ट, वन रिलीजन, वन गाड*, नई दिल्ली, 1977, पृ. 49-50
12 वाइकोम सत्याग्रह के दौरान नारायण गुरु सत्याग्रह शिविर में अवश्य गए, लेकिन सत्याग्रह में शामिल नहीं हुए. उनके रुख से लगता था कि उस आंदोलन के प्रति उनमें खास उत्साह नहीं था.
13 देखिए पिछला अध्याय
14 विष्णुबावा के जीवन की यह मोटी रूपरेखा फ्रैंक एफ. कोंलोन, 'दि पोलेमिक प्रोसेस इन नाइनटींथ सेंचुरी महाराष्ट्र : विष्णुबावा ब्रह्मचारी एंड हिंदू रिवाइवल' पर आधारित है. यह लेख केनिथ डब्ल्यू. जोंस द्वारा संपादित *रिलीजियस कंट्रोवर्सी इन ब्रिटिश इंडिया*, न्यूयार्क, 1992, और बी.बी. मजुमदार कृत *हिस्ट्री आफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल थाट*, कलकत्ता, 1967 में संकलित है.
15 कोंलोन, 'दि पोलेमिक प्रासेस', पृ. 11
16 देखिए संपादक के नाम पत्र, *बांबे गजट*, 8 अप्रैल और 15 जून 1857
17 *बांबे गजट*, 9 मई, 26 जुलाई और 23 दिसंबर 1851. साथ ही कोंलोन, 'दि पोलेमिक प्रासेस', पृ. 11-12
18 इन व्याख्यानों का सार मिशनरी समाचारपत्र *बांबे गार्डियन* में प्रकाशित हुआ था, और बाद में ये जार्ज बोवन की लिखी प्रचार-पुस्तिका *डिस्कशंस बाई दि सीसाइड* (बंबई, 1867) के रूप में प्रकाशित किए गए थे.
19 *बांबे गार्डियन*, 4 अक्तूबर 1856
20 *बांबे गजट*, 1 अक्तूबर 1856
21 सन् 1869 में अदन के डिप्टी असिस्टेंट कमिश्नर जनरल कैप्टेन ए. फिलिप ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया. पहले संस्करण में 10,000 प्रतियां छपी थीं. उनकी अन्य रचनाएं हैं *भवार्थ सिंधु* (1856), *चतुश्लोकी भागवत याचा अर्थ* (1857), *सहज-स्थिति का निबंध* (1868), *भगवद्वाक्यवृत्ति बोध सागरचे रहस्य* (तिथि-रहित), और *सेतुबंधनी टीका* (1890)
22 *एसे आन बेनिफिशंट गवर्नमेंट*, बंबई, 1869, पृ. 2
23 *बांबे गार्डियन*, 18 मई 1867
24 *एसे आन बेनिफिशंट गवर्नमेंट*, पृ. 3
25 वही
26 वही
27 वही, पृ. 4
28 वही, पृ. 13
29 वही
30 वही, पृ. 4
31 वही, पृ. 11
32 वही, पृ. 19
[redacted] वही, पृ. 11
34 वही, पृ. 12
35 वही
36 यू.एन. घोषाल, *ए हिस्ट्री आफ इंडियन पालिटिकल आइडियाज*, मद्रास, 1966, पृ. 149
37 वही, पृ. 55
38 'राजा को सभी जीवात्माओं से, जो विपरत हैं, केवल अभाव में जी रहे हैं और स्वयं अपने संबंध

में जाने कितने अज्ञान हैं, परमेश्वर की प्रतिदिन प्रार्थना करवानी चाहिए—उस परमेश्वर को जो यद्यपि सब कुछ जानता है और रूपरहित है फिर भी जो स्वय ब्रह्माड प्रतीत होता है, जिसके कि जीवात्माओं के शरीर अग हैं, और जो स्वय ज्ञान की प्रतिमूर्ति है ' *एसे आन बेनिफिशिएट गवर्नमेंट,* पृ 5

39 एन आर. इनामदार, 'पालिटिकल थाट आफ विष्णुबावा ब्रह्मचारी', *जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ पूना ह्यूमेनिटीज सेक्शन,* अक 21, 1965, पृ 169

40 घोषाल, *ए हिस्ट्री आफ इडियन पालिटिकल आइडियाज,* पृ 226

41 इनामदार, उपर्युक्त

42 'जब आप वैदिक धर्म का अध्ययन करते है तो आपको और अधिक ज्ञान मिलता है, क्योंकि वेद ज्ञान हैं—जो वेदों में नहीं है वह है ही नहीं ' कोलोन, *दि पोलेमिक प्रासेस,* पृ 20 में उद्धृत

43 *एसे आन बेनिफिशिएट गवर्नमेंट,* पृ 16

44 वही, देखिए इनामदार, उपर्युक्त, पृ 171

45 वही

46 वही, पृ 4

47 वही, पृ 16

6. नई सांस्कृतिक रुचि की सृष्टि : उन्नीसवीं सदी के एक मलयालम उपन्यास की व्याख्या

सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना

पूरे विश्व में देशी संस्कृतियों का रूपांतरण औपनिवेशिक प्रभुत्व की कार्यसूची का एक मुख्य विषय रहा। इसका प्रयास उपनिवेशीकृत समाजों की सहमति सुनिश्चित करना था और यह चीज सैनिक सफलता तथा प्रादेशिक विजय के सहारे प्रयोग किए जाने वाले नियंत्रण से भिन्न थी। इसके लिए औपनिवेशिक राज्य तथा उसके अभिकरणों ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार के प्रभावों का उपयोग करते हुए एक ऐसे सांस्कृतिक आदर्श का संप्रेषण और पुनर्रचना की जो इतना आकर्षक और सशक्त था कि औपनिवेशिक बुद्धिजीवी वर्ग उसे आत्मसात करके अपनी ओर से उसका प्रचार भी करने लगा। लैटिन अमरीका में जिसे सांस्कृतिक परिस्थिति को स्पेनवासियों ने, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में डचों और पुर्तगालियों ने और अफ्रीका तथा एशिया में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने दाखिल किया वह जिस हद तक राज्य के विचारधारात्मक उपादानों का परिणाम थी उसी हद तक औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना की प्रक्रिया में औपनिवेशिक देशों के बुद्धिजीवी वर्ग की शिरकत और सहयोग का भी नतीजा थी। इस प्रकार संस्कृति और राजनीति का एकीकरण कर दिया गया, भले ही उपनिवेशीकृत समाज को दोनों के संयोजन का बोध या अनुभव नहीं हुआ हो।

सांस्कृतिक अभियतन का काम, जो राज्य की संस्थाओं के प्रभावकारी संगठन से ही संभव था, जल्दबाजी में आरंभ नहीं किया गया। इसके विपरीत यह प्रयत्न विचारपूर्वक बहुत सावधानी के साथ किया गया। उपनिवेश को सुदृढ बनाने के आरंभिक दौर में ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को यह एहसास था कि उन्होंने एक अनजान देश में प्रवेश किया है, जिसके रंगरूप की जानकारी वे आसानी से हासिल नहीं कर सकते।[1] उन्हें भय था कि मौजूदा सांस्कृतिक संवेदनशीलताओं को चोट पहुंचाने के किसी भी प्रयत्न से हिंसक प्रतिक्रिया फूट पड़ सकती है। बहुत से अधिकारी 1857 के विद्रोह को इस आशंका की पुष्टि मानते थे। उनकी समझ से, वह जनविद्रोह औपनिवेशिक सांस्कृतिक हस्तक्षेप के खिलाफ रूढ़िवादियों की प्रतिक्रिया था।

देश-विजय और प्रारंभिक प्रशासनिक सगठन में व्यस्त कंपनी के अधिकारियों के पास उस सभ्यता के सबध में जानकारी प्राप्त करने का समय या अवसर ही नहीं था जिससे उनका सावका पड़ा था। नवविजित लोगों के रीति-रिवाज, आदतें, परंपराएं और सामाजिक संस्थाएं उनके लिए अनबूझ पहेली थीं। उनकी हैरानी का कारण सिर्फ यहां की सभ्यता की बहुलवादिता ही नहीं थी, बल्कि विजित लोगों के संबंध में जानकारी का अभाव भी था। रोजमर्रा का प्रशासन चलाने के लिए भी स्थानीय भाषाओं से नावाकिफ अधिकारियों को 'देशी' लोगों का सहारा लेना पड़ता था।[2]

प्रारंभिक उपनिवेशवादी प्रशासकों ने जिस आसान विकल्प का सावधानी के साथ इस्तेमाल किया वह था प्राक्-औपनिवेशिक संस्थागत सरचनाओं का विकल्प।[3] बंगाल के प्रशासन के आधारभूत ढांचे की स्थापना करने के लिए जिम्मेदार वारेन हेस्टिंग्स ने प्राक्-औपनिवेशिक प्रणाली को नए सिरे से सजाने-संवारने की अपेक्षा उसी पर निर्भर रहना अधिक पसद किया। उदाहरण के लिए, न्यायव्यवस्था के सबध में उसने यह नियम बनाय :

> उत्तराधिकार, विवाह, जाति तथा अन्य दस्तूरों और संस्थाओं के संबध में मुसलमानों के मामले में कुरान के कानूनों तथा हिंदुओं के मामले में शास्त्रों के विधान का सामान्यतः पालन किया जाएगा, ऐसे सभी अवसरों पर क्रमशः मौलवी या आलिम उपस्थित रहेंगे और कानून की व्याख्या करेंगे, और वे रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करेंगे तथा फैसला देने में सहायता करेंगे।[4]

प्रशासनिक संरचना स्थापित करने और अधिशेष ग्रहण करने के तरीके निश्चित करने से पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने विजित प्रदेशों के इतिहास, नैतिक तथा भौतिक अवस्थाओं की छानबीन करके उनके ससाधनों का पता लगाया। यह छानबीन राजस्व के प्रयोजनों के लिए मात्र ससाधनों का तखमीना करने की कोशिश नहीं थी, वस्तुतः इसके साथ सांस्कृतिक तथा नस्ली जानकारी के संग्रह का सिलसिला शुरू हो गया और यह जानकारी बाद में औपनिवेशिक नीति की रचना का ज्ञानाधार बन गई। ऐसा करने में औपनिवेशिक राज्य तथा उसके अभिकरणों दोनों ने देशी ज्ञान को बढ़ावा दिया और उसका उपयोग किया, और इस ज्ञान से अनुमोदन की भावना की सृष्टि करने के राजनीतिक कार्य में बहुत सहायता मिली। वारेन हेस्टिंग्स ने लिखा :

> ज्ञान का प्रत्येक संग्रह और विशेष रूप से ऐसा संग्रह जो उन लोगों के साथ सामाजिक संपर्क से प्राप्त होता है जिन पर हम अपनी विजय के आधार पर प्रभुत्व का प्रयोग करते हैं, राज्य के लिए उपयोगी है। यह दूरस्थ भावनाओं को आकृष्ट करता है और अनुकूल बनाता है, इससे उस बेडी का भार कम हो जाता है जिससे

देशी लोग जकड़े हुए हैं; और इससे हमारे अपने देशवासियों के हृदय में परोपकार के दायित्व की भावना उत्पन्न होती है।[1]

जो सुझाव वारेन हेस्टिंग्स ने दिया उस पर उतरती अठारहवीं सदी और आरंभिक उन्नीसवीं सदी में कंपनी के प्रशासन ने सक्रिय रूप से अमल किया। उसने सांस्कृतिक संस्थाओं तथा आचार-व्यवहारों का विस्तृत ताना-बाना तैयार कर दिया, जो उपनिवेशीकृत लोगों के संबंध में ज्ञान की सुलभता को सुनिश्चित करने वाला था।

आरंभ में ध्यान पुस्तकीय ज्ञान और इस बात की ओर दिया गया कि उसे उन अधिकारियों को कैसे उपलब्ध कराया जाए जो देशी लोगों को औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारात्मक छत्र के नीचे लाने के काम में लगे हुए हैं। इसकी शुरुआत नैथेनियल हेलहेड द्वारा हिंदू कानूनों को संहिताबद्ध करने और भारतीय महाकाव्यों के अंग्रेजी अनुवाद से हुई। फ्रैंसिस ग्लैडविन और विलियम डैवी ने हेलहेड के उदाहरण का अनुसरण किया। ग्लैडविन ने एक अंग्रेजी-फारसी शब्द-भंडार का संग्रह किया और *आईन-ए-अकबरी* का अनुवाद किया और डैवी ने *दि सिविल एंड मिलिटरी इंस्टीट्यूट्स आफ तैमूर* के इतिहास की रचना की।[2]

इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण योगदान ब्रिटेन के प्राच्यवादियों ने किया। एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल के संस्थापक (1784) विलियम जोंस के शब्दों में उनका काम 'एशिया में जो कुछ एक (मनुष्य) के द्वारा निष्पादित किया जाता है और दूसरी (प्रकृति) के द्वारा उत्पादित की जाती है' उसकी छानबीन करना था।[3] एशियाटिक सोसायटी ने जिन अनुसंधानों को बढ़ावा दिया उनके फलस्वरूप भारतीय सभ्यता के संबंध में ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे साम्राज्य की दो जरूरतें पूरी हुईं। एक तो यह कि अतीत की उपलब्धियों के प्रकाश में वर्तमान के ह्रास को उजागर करने में सहायता मिली, जिसके सहारे औपनिवेशिक हस्तक्षेप का कारण बताते हुए उसे वैध करार दिया गया। दूसरे, उससे साम्राज्यीय शासन को अधीनीकृत लोगों के संसार के संबंध में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टियां प्राप्त हुईं। इस प्रकार ये दोनों बातें औपनिवेशिक नियंत्रण से अभिन्न रूप से संबद्ध थीं। एडवर्ड सेड ने ठीक ही कहा है कि 'एक देश द्वारा दूसरे का विराट सामूहिक स्वायत्तीकरण था।'[4]

परंतु साम्राज्य के स्थायित्व का आधार सांस्कृतिक स्वायत्तीकरण, अर्थात उपनिवेशीकृत समाज की संस्कृति पर जैसी वह थी उसी रूप में अधिकार कर लेने की प्रक्रिया नहीं होने वाली थी। जब साम्राज्य की नींव पड़ गई तब जोर देशी सांस्कृतिक विरासत के स्वायत्तीकरण की अपेक्षा उसके अतिक्रमण पर, अर्थात उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुकूल रूप में प्रस्तुत करने पर दिया जाने लगा। उपनिवेशवाद ने अफ्रीकी या लैटिन अमरीकी देशों की तरह भारत की देशी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं

किया; बल्कि उसने जो किया वह यह कि सांस्कृतीकरण की नियंत्रित और निर्देशित प्रक्रिया के द्वारा अपने वर्चस्व की स्थापना करने का प्रयास किया। 'देशी लोगों' के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक संसार को पुनर्विन्यस्त करने के लिए सक्रिय हस्तक्षेप के द्वारा राज्य के विचारधारात्मक उपकरणों ने इसमें एक निर्णायक भूमिका निभाई। राज्य के इस प्रयत्न के फलस्वरूप अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग नई सांस्कृतिक रुचि तथा संवेदनशीलता का ग्राहक और उद्वाहक बन गया। उपनिवेशवादी प्रशासकों की यह आशा भले ही पूरी नहीं हुई हो कि उनके इन प्रयत्नों का असर छन-छनकर समाज तक पहुंचेगा, और जनप्रिय तथा पारंपरिक अभिजन संस्कृतियां भले ही अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त मध्य वर्ग की सीमाओं से बाहर नहीं गई हो, फिर भी इस सामाजिक वर्ग के बाहर के बहुत से लोगों के लिए नई सांस्कृतिक संभावनाएं साकार करने की दृष्टि से कठिन होती हुई भी काफी लुभावनी थीं। सांस्कृतिकृत मध्य वर्ग का महत्व इस बात में निहित है कि वह इस सपने का आदर्श और वैधकर्ता बन गया।

नई शिक्षा

मध्य वर्ग के सांस्कृतिक संसार की रचना बहुत हद तक भारत में उपनिवेशवाद द्वारा दाखिल की गई नई शिक्षा में सहज रूप से विद्यमान संभावनाओं के आधार पर हुई थी। मैकाले और बेंटिंक द्वारा आरंभ और उन्नीसवीं सदी में पल्लवित की गई औपनिवेशिक प्रणाली के अनेक पहलू और कार्य थे, जिनमें से एक नई सांस्कृतिक 'समझ' की सृष्टि में उसका योगदान सबसे अधिक स्थायी और निर्णायक महत्व का था। अपनी अंतर्वस्तु तथा संगठन दोनों दृष्टियों से वह गुणात्मक रूप में प्राक्-औपनिवेशिक प्रणाली से भिन्न थी। यही बात दोनों प्रणालियों के आशयों, मान्यताओं तथा ज्ञानशास्त्रीय (एपिस्टेमोलाजिकल) आधारशिलाओं पर भी लागू होती थी। ज्ञान की सीमाओं के बावजूद प्राक्-औपनिवेशिक प्रणाली का स्पष्ट लाभ उसका देशी होना था, उसका जन्म भारतीय जनसमाज के बौद्धिक अनुभव से हुआ था। इसके विपरीत, औपनिवेशिक प्रणाली ने जिस ज्ञान-समूह को लोगों के मस्तिष्क में उतारने का प्रयत्न किया वह समाज के अंदर से विकसित नहीं हुआ था और इसलिए उसकी ज्ञानशास्त्रीय मान्यताएं भारतीय मानस के लिए पराई थीं। वह जिस प्रणाली के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई वह 'सुंदर वृक्ष' के समान थी, जो हरा-भरा था, क्योंकि उसकी जड़ें उस सांस्कृतिक परंपरा में जमी हुई थीं जिसने समाज की सामूहिक चेतना को रूपाकार दिया था।

नई शिक्षा एक अन्य प्रकार से महत्वपूर्ण थी। उसने राज्य तथा उसके अभिकरणों के सांस्कृतिक हस्तक्षेप के लिए बड़े-बड़े क्षेत्रों के द्वार खोल दिए। आंग्लवादी-प्राच्यवादी विवाद में हमें भारतीयों को दी जाने वाली शिक्षा के स्वरूप को लेकर चलने वाली जो बहस देखने को मिलती है उसमें, वस्तुतः औपनिवेशिक राज्य की अपना

वर्चस्व स्थापित करने के लिए जगह की तलाश की कोशिश प्रतिबिंबित हुई।[9] तब तक ईस्ट इंडिया कंपनी अपनी प्रजा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के प्राच्यवादी कार्य से हटने लगी थी और उन्हें ज्ञान प्रदान करने के आंग्लवादी कार्य में जुटने लगी थी। अब राज्य का सरोकार था आधुनिकता की तलाश में लगे भारतीयों के लिए एक सांस्कृतिक प्रतीक की रचना करना। आंग्लवादियों और विशेष रूप से मैकाले तथा बेंटिंक द्वारा आरंभ और विकसित की गई शिक्षा नीति का महत्व ठीक इसी सांस्कृतिक आयाम में निहित था। मैकाले के बहुउद्धृत वक्तव्य को यहां एक बार फिर दोहराना योग्य होगा :

> मुझे लगता है कि अपने सीमित साधनों को देखते हुए पूरे जनसमाज को शिक्षित करना हमारे लिए असंभव है। अभी हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने में पूरा जोर लगा देना चाहिए जो हमारे और जिन करोड़ों लोगों पर हम शासन करते हैं उनके बीच दुभाषियों का काम करे। यह रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीयों का लेकिन रुचियों, मतों, नैतिक मूल्यों तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेजों का वर्ग होगा। हमें देशी बोलियों का परिष्कार करने, पश्चिमी पारिभाषिक शब्दावली से शब्द उधार लेकर उन बोलियों को समृद्ध करने और उन्हें क्रमिक रूप से आम आबादी तक ज्ञान पहुंचाने के सक्षम वाहन बनाने का कार्य इसी वर्ग पर छोड़ देना चाहिए।[10]

सांस्कृतिक अभियंत्रण तथा संस्थागत आचार-व्यवहारों के सहारे औपनिवेशिक शासन द्वारा किए गए इस नीति के परिष्कार तथा पल्लवन के फलस्वरूप समाज में शिक्षा की एक ऐसी अवधारणा घर कर गई जिसमें अंग्रेजी में पढ़ाई को खास महत्व दिया जाने लगा। इस व्यवहार के फलस्वरूप जिस सांस्कृतिक संसार के द्वार खुले उसका केंद्र औपनिवेशिक शक्ति के महानगर में था, और उधर इस महानगर ने उपनिवेशीकृत लोगों में, यदि ओ. मैनोनी के शब्दों में कहें तो, परावलंबन की मानसिकता,[11] और एडवर्ड शिल्स के शब्दों में कहें तो प्रांतीयता की भावना[12] की सृष्टि की। साहित्य, रंगमंच, चित्रकला, संगीत, वस्त्राभरण, आहार, वार्तालाप, शिष्टाचार आदि सभी क्षेत्रों में सांस्कृतिक आदर्श का स्रोत उपनिवेशवादियों का संसार बन गया। इस प्रकार, नई शिक्षा ने भारत को औपनिवेशिक महानगर का एक सांस्कृतिक प्रांत और नवशिक्षित भारतीयों को विदेशियों के सांस्कृतिक सहयोगी बना देने की कोशिश की।

औपनिवेशिक काल में छपाई के विकास ने नई शिक्षा की सांस्कृतिक अंतर्वस्तु के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नई शिक्षा की संभावनाओं को छपे हुए शब्दों द्वारा, 'संचार के नए ताने-बाने स्थापित करके, लोगों के लिए नए विकल्पों के द्वार खोलकर, और साथ ही जनता पर नियंत्रण स्थापित करने के नए साधन सुलभ कराकर भी' साकार किया गया।[13] साहित्यिक कृतियों की *उपलब्धता* को *आसान* बनाकर छपाई ने नई सांस्कृतिक रुचि तथा संवेदनशीलता को जन्म देने में और इस प्रकार एक नए

सांस्कृतिक व्यक्तित्व की सृष्टि में भी योगदान किया। और नई शिक्षा का सांस्कृतिक प्रभाव अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित नहीं था। उसका कुछ प्रभाव छलककर देशी भाषाएं पढ़ने-लिखने वालों तक भी पहुंचा, क्योंकि उसका सांस्कृतिक सार आम तौर पर भारतीय भाषाओं में भी प्रविष्ट हो गया और उनके माध्यम से आबादी के एक बड़े भाग में भी। उन्नीसवीं सदी के दौरान इन भाषाओं में छपाई की सुविधाओं के विकास से इस प्रक्रिया में और भी सहायता मिली, क्योंकि इस तरह से नई सांस्कृतिक रुचि आम जनता के पठन-संसार तक पहुंच सकी। बंगाल, बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसियों के पुस्तकों के रजिस्ट्रारों की पुस्तक-सूचियां, जिनमें हर साल के प्रकाशनों की सूची बनाई जाती थी, देशी भाषाओं के साहित्य के नए सरोकार को प्रतिबिंबित करती हैं। बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते दो प्रवृत्तियां स्पष्ट देखी जा सकती थीं। पहली थी देशी भाषाओं में परचों, प्रचार-पुस्तिकाओं तथा अन्य लोकप्रिय विधाओं के प्रकाशन में जबरदस्त बढ़ोत्तरी, और दूसरी थी उपनिवेशवादी सांस्कृतिक विमर्श की उनके द्वारा ग्रहणशीलता।

सरकार, ईसाई मिशनरियों, स्वयंसेवी संस्थाओं तथा व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग लोगों के बीच भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों में औपनिवेशिक संस्कृति का समावेश स्पष्ट देखा जा सकता था। ये पाठ्य पुस्तकें अपने विन्यास और अंतर्वस्तु दोनों दृष्टियों से चाहे जिस सांचे में ढाले जाने वाले बालमन को ऐसे सांस्कृतिक संसार की राह ले जाती थीं जो उनके जीवनानुभव के लिए पराया था। मालूम होता है, फासीवाद की तरह उपनिवेशवाद भी 'कच्ची उम्र के बच्चों को अपने सांचे में ढालने' में विश्वास करता था। यह काम हमेशा देशी संस्कृति को खारिज या निंदित करके ही नहीं किया जाता था, बल्कि सांस्कृतिक आदर्श को पाश्चात्य समाज की उपलब्धियों के रंग में पेश करके किया जाता था। इसलिए औपनिवेशिक शासन द्वारा संपोषित सांस्कृतिक उत्पादनों में पश्चिम की छवि की प्रधानता होती थी। उदाहरण के लिए, बच्चों की पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य पाठ्य सामग्री में पाठ तथा चित्रण दोनों में 'पश्चिम' की ओर रुझान होता था। इसका एक अच्छा दृष्टांत पश्चिमोत्तर प्रांत के स्कूलों के लिए निर्धारित कुछ हिंदी पुस्तकें हैं। उनमें से एक में एक लोकप्रिय भारतीय कथा को एक ऐसे लड़के के चित्र से उदाहृत किया गया है जिसने कोट पैंट और हैट पहन रखा है। ऐसा चित्रण कोई भूल से अनजान में नहीं किया गया था, बल्कि यह उस वृहत्तर औपनिवेशिक योजना की अभिव्यक्ति था जिसके तहत भारत को तभी अर्थवान बताने की कोशिश की गई जब वह पश्चिम से जुड़ा हुआ हो।

एक सांस्कृतिक कारक के रूप में लिखित शब्द का महत्व और प्रभाव उन्नीसवीं सदी के दौरान बढ़ता ही चला गया। जिस संदर्भ में यह परिघटना हुई वह था छपाई प्रौद्योगिकी की सुलभता और उसके फलस्वरूप 'देशी भाषाओं' के साहित्य का खरीद-

बिक्री के माल के रूप में सामने आना। इस परिघटना का महत्व बाजार मे 'पुस्तक' की उपलब्धता और इस प्रकार उसकी सहज सुलभता तक ही सीमित नहीं था, बल्कि पाठक और पुस्तक के बीच स्थापित किए गए नए सबध में भी उसके महत्व को देखा गया। छपी हुई सामग्री अब पाठकों के नए ससार में भी प्रविष्ट हो गई, जिससे 'उनकी भावनाओं को नई दिशा में लामबद किया गया, उनकी स्मृतियों को एक नई छवि दी गई और उनकी आदतों को एक निश्चित साचे मे ढाला गया।'[14] विश्वासों और व्यवहारों को नया रूप देकर औपनिवेशिक सास्कृतिक विजय का मार्ग प्रशस्त करने का काम छपाई ने किया। इसका एक तात्कालिक और महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जहा पहले लोग समूहों मे पढते थे, अब वे घर बैठे व्यक्तिगत रूप से पढ़ने लगे। अब चूंकि कोई भी पुस्तक अपने पास रख सकता था, सामूहिक वाचन और सार्वजनिक काव्य-गायन की आवश्यकता कम हो गई। वाचन अधिकाधिक परिमाण में एक खानगी काम होता गया, जिससे पाठ्य पुस्तकों को अवकाशपूर्वक बार-बार पढ़ सकता था और साहित्यिक उत्पादों की अन्तर्वस्तु को आत्मसात कर सकता था। छपे साहित्य की सुलभता ने स्वय अवकाश के प्रति लोगों के रवैए के परिवर्तन में योगदान किया। पहले अवकाश का मतलब मुख्य रूप से सामूहिक कार्यकलाप होता था, जैसे परिवार के लोगों या मित्रों के साथ गपशप करना, या अपने गाव-घर में खेलकूद या अन्य प्रकार के मनोरंजन मे भाग लेना। शिक्षित मध्य वर्ग को पढना अवकाश का समय बिताने का एक बिलकुल नया तरीका लगा। इसलिए अवकाशकालीन कार्यकलाप पूरे तौर पर व्यक्तिगत हो गए। यह ऐसा साधन था जिसके जरिए पश्चिम का सास्कृतिक ससार उनकी पकड़ में आ गया और उधर इससे उनके द्वारा उसे आत्मसात किए जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

उपन्यास जैसी नई साहित्यिक विधाएं इसी प्रक्रिया की उपज थीं। उनका उदय शिक्षित मध्य वर्ग के औपनिवेशिक सास्कृतिक ससार की ओर आकृष्ट होने के साथ-साथ हुआ। हालांकि भारतीय साहित्य के लिए गद्य कोई अपरिचित विधा नहीं था फिर भी 'साहित्यिक तथा गैर-साहित्यिक दोनों प्रकार के सप्रेषण के प्रभावकारी उपकरण के रूप में उसकी संभावनाए उन्नीसवीं सदी के दौरान ही साकार हुई।'[15] एक लोकप्रिय साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का उदय इस प्रक्रिया का अग था। प्यारेचद कृत प्रथम बगला उपन्यास *अलालेर घरेर दुलाल* 1858 में प्रकाशित हुआ, जिसके बाद 1865 और 1866 में क्रमशः बकिमचद्र कृत *दुर्गेशनदिनी* और *कपालकुंडला* प्रकाशित हुए। मराठी में बाबा पद्मनजी का उपन्यास *यमुना पर्यटन* 1857 में प्रकाशित हुआ, और गुजराती में नदशकर तिलिया शकर मेहता की कृति *करण घेलो* 1866 मे। दक्षिण भारतीय भाषाओं में उपन्यास काफी बाद में लिखे जाने लगे। मलयालम का पहला उपन्यास अप्पु नेदुंगादि कृत *कुंदलता* 1887 में प्रकाशित हुआ, तमिल में सैम्युअल वेदनायकम् पिल्लै का उपन्यास *पिरताप मतलियार चरित्रम्* 1879 में प्रकाशित हुआ, और तेलुगु

में कुंदुकुरी वीरेशलिंगम पंतुलु की रचना *राजशेखर चरित्र* 1880 में छपी।[16]

एक लोकप्रिय विधा के रूप में उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश कई लोगों ने की है। इसके अनुकरणात्मक या उधार लिए गए स्वरूप को अकसर बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया गया है।[17] स्वयं भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य को पाश्चात्य प्रभाव के दायरे में और भारतीयों की प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है। साहित्य अकादमी के तत्वावधान में तैयार किए गए उन्नीसवीं सदी के भारतीय साहित्य के इतिहास में यह बात देखी जा सकती है।[18] भारत के आरंभिक उपन्यासों पर अंग्रेजी का प्रभाव वस्तुत: काफी स्पष्ट है, परंतु एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का जन्म सिर्फ विदेशी प्रेरणा से नहीं हुआ, वस्तुत. उसके जन्म का मूल बुर्जुआ मध्य वर्ग की बौद्धिक आवश्यकताओं और सौंदर्य-बोध में समाया हुआ था। मध्य वर्ग के लोगों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में वर्चस्ववादी औपनिवेशिक संस्कृति तथा उसके मुकाबले खड़ी पारंपरिक संस्कृतियों के फलस्वरूप जो अंतर्विरोध, अस्पष्टता और अनिश्चितता उत्पन्न हो गई थी उसने स्वभावत: वह संदर्भ प्रस्तुत किया जिसमें उन्नीसवीं सदी में साहित्यिक संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति हुई। उनका सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य न तो पूर्ण रूप से उपनिवेशवाद के वर्चस्व का वशवर्ती हुआ और न परंपरा के दायरे से बंधा रहा, बल्कि वह दोनों के बीच के संवाद में अवस्थित था। वे उपनिवेशवाद से भी आगे देखते थे और परंपरा से भी; दो में से किसी को भी उनका पूर्ण अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ। साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास की इन संवादात्मक संभावनाओं ने इस सांस्कृतिक परिवेश के समाहार के लिए जगह बनाई।

'*इंदुलेखा*' का विवेचन

स्पर्धी संवेदनशीलताएं: आगे हम 1889 में प्रकाशित एक प्रारंभिक मलयालम उपन्यास *इंदुलेखा* का विवेचन उपनिवेशवाद द्वारा उत्पन्न परिस्थिति के संदर्भ में करेंगे और यह पता लगाने की कोशिश करेंगे कि उसने किन तरीकों से केरल की सांस्कृतिक रुचि के निर्माण में योगदान किया। जब *इंदुलेखा* प्रकाशित हुई तब तक साहित्यिक कृतियों के क्षेत्र में भी छपाई प्रौद्योगिकी की जड़ें भली भांति जम चुकी थीं, लेकिन *इंदुलेखा* केरल में उसकी असीम संभावनाओं की प्रथम अभिव्यक्ति थी। पारखी पाठकों और जानकार समालोचकों द्वारा बहुप्रशंसित *इंदुलेखा* की लोकप्रियता इतनी जबरदस्त थी कि पहला संस्करण तीन महीने के अंदर बिक गया और उसकी नकल करते हुए लिखी गई कई कृतियों ने उसकी सफलता को छूने की निरर्थक कोशिश की।

लेखक को इससे सुखद आश्चर्य हुआ, क्योंकि 'मलयालियों ने, जिन्होंने तब तक अंग्रेजी उपन्यास के ढंग की कोई रचना नहीं पढ़ी थी, इतने अप्रत्याशित रूप से उसे

और ईमानदार है, लेकिन पारंपरिक विचारधारा मे दृढ़ता से पैर जमाए हुए होने के कारण परिवार की युवा पीढ़ी की आकांक्षाओं के प्रति उदासीन और आसपास हो रहे परिवर्तनों के संबंध मे असवेदनशील है। उपन्यास का आरभ चंदू मेनन और उपन्यास के नायक माधवन के बीच परिवार के बच्चों की शिक्षा को लेकर होने वाले एक विवाद के उल्लेख से होता है। माधवन एक बच्चे को अंग्रेजी शिक्षा के लिए मद्रास भेजना चाहता था, लेकिन *करणवन* उस पर राजी होने को तैयार नहीं था। विवाद मात्र परिवार के संसाधनों के बटवारे को लेकर नहीं था, यह यथास्थिति और परिवर्तन के बीच के संघर्ष का प्रतीक था। यह उपन्यास के मुख्य सरोकार का पटोद्घाटन है। वह मुख्य सरोकार है उन अलग-अलग तरीकों की छानबीन जिनके सहारे मलाबारी समाज उन्नीसवीं सदी की सांस्कृतिक परिस्थिति से दो-दो हाथ कर रहा था।

चदू मेनन द्वारा अंग्रेजी कथा-पुस्तको के ढग पर कल्पित उपन्यास की कहानी काफी सरल है। उसकी धुरी एक नायर *तारवाड़* में रिश्ते के भाई-बहन माधवन और इंदुलेखा का प्रेम-प्रसग है। ऐसे भाई-बहन के बीच विवाह मातृवाशिक प्रणाली में पारंपरिक रीति से अनुमोदित है। इंदुलेखा के कथित सौंदर्य पर मुग्ध एक नंबूदिरी ब्राह्मण भी उससे विवाह करना चाहता है। उसके इस हस्तक्षेप से प्रेमी-प्रेमिका मे गलतफहमी पैदा हो जाती है और दोनों में कुछ दिनों के लिए अलगाव हो जाता है। कथा का अत प्रत्याशित रूप से प्रेमी-युगल के सुखद विवाह से होता है।

यदि *इंदुलेखा* में उसकी कई परवर्ती नकलों की तरह केवल इस प्रेमकथा का वर्णन किया गया होता तो वह कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना नहीं बन पाती जिसकी ओर बाद मे लगातार ध्यान दिया जाता रहा।[26] इस उपन्यास के बहुत सारे सस्करण प्रकाशित हुए और वह साहित्यिक चर्चा के केंद्र में रहा है। इसका कारण सिर्फ उसकी वर्णनात्मक उत्कृष्टता नहीं है बल्कि अपने समय के एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विवरण के रूप में उसका महत्त्व भी है। प्रेमकथा सिर्फ अस्थि-पंजर का काम करता है, उसे रक्त और मास से पूरने का काम परस्पर स्पर्धाशील वे सांस्कृतिक सवेदनशीलताएं करती हैं जो उस काल के मलाबारी औपनिवेशिक समाज में सहज रूप से विद्यमान थीं। इस प्रकार, *इंदुलेखा* अंग्रेजी उपन्यासों की तर्ज पर लिखी कथा-पुस्तक से बहुत आगे की चीज थी, और वह नागरिक समाज में सांस्कृतिक वर्चस्व के लिए चल रहे संघर्ष को प्रतिबिंबित करती थी।

चदू मेनन ने माधवन, इंदुलेखा और सूरी नंबूदिरीपाद इन तीन चरित्रों की अवधारणा उन तीन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने के लिए की जो उन्नीसवीं सदी में मलाबारी समाज में परस्पर संघर्षरत थीं। माधवन ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है। वह सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील, राजनीतिक दृष्टि से जागरूक, और यूरोपीय रीति-रिवाजों, तौर-तरीकों और ज्ञान में दक्ष है। वह लान टेनिस, क्रिकेट और अन्य मैदानी

खेलों में माहिर है। साथ ही वह आंग्ल-प्रेमी या भारतीय परंपरा का द्रोही भी नहीं है; बल्कि उल्टे उसके पैर भारतीय परंपरा में दृढ़ता से जमे हुए हैं। उसे सस्कृत साहित्य का 'गहरा आलोचनात्मक ज्ञान' है, वह पारंपरिक कलारूपों की बारीकियों को समझ सकता है, *और बड़ी आसानी से स्मृति से मलयालम कविता का पाठ कर सकता है।* उसके चरित्र के विकास में उस बौद्धिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है जो औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना के उस प्रयास को प्रतिबिंबित करती है जिसमे भारतीय समाज में न केवल अपने प्रति सहमति को जन्म दिया था बल्कि प्रतिरोध को भी उभारा था। इस परिवेश में अवस्थित माधवन कोई गतिशून्य चरित्र नहीं है, जो मैकाले छाप के सांस्कृतीकृत भारतीय का प्रतीक हो। उसकी बनावट का वह हिस्सा वस्तुत: काफी स्पष्ट है, लेकिन वह उससे आगे भी जाता है और उसने उदीयमान राष्ट्रीय चेतना को भी धारण कर रखा है (पृ. 2-4)।

देशी तथा औपनिवेशिक सस्कृतियों के संयोग का आधान इंदुलेखा के चरित्र में और भी अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत रूप मे किया गया है। उसका लालन-पालन उसके चाचा दीवान पेशकार ने किया है, जो 'अंग्रेजी, सस्कृत, सगीत तथा अन्य गुणों में दक्ष' था। उसके अभिभावकत्व में इंदुलेखा उच्च कोटि की सास्कृतिक उपलब्धियों से संपन्न हो गई। उसे अंग्रेजी भाषा का सम्यक ज्ञान था।

> ...उसके सस्कृत साहित्य के अध्ययन में नाटककारों की कृतियों का समावेश था। संगीत में उसने न केवल समस्वरता का सिद्धांत सीख लिया था बल्कि पियानो, वायलिन और बांसुरी बजाने में भी कुशल हो गई थी। साथ ही उसके चाचा ने अपनी सुंदर भतीजी को सिलाई-पिरोई, चित्रकारी और अन्य कलाओं का प्रशिक्षण देने में भी कोताही नहीं की थी जिनका प्रशिक्षण गोरी लड़कियों को दिया जाता था। वस्तुत: उसका सपना यह था कि इंदुलेखा *अंग्रेज महिलाओं वाली सभी योग्यताओं तथा संस्कृति से संपन्न हो,* और वास्तव में यह कहा जा सकता है कि एक सोलह वर्षीया बाला में जितने गुणों का समावेश किया जा सकता था उतने गुणों का समावेश करने के उसके प्रयत्नों की सफलता का कारण इंदुलेखा का उदार मन और साफ समझ थी (पृ. 10, जोर हमारा)।

चदू मेनन को यह एहसास था कि इंदुलेखा की यह तसवीर इतनी आदर्शगत है कि उन्नीसवीं सदी के मलाबार में यह यथार्थ हो ही नहीं सकती। उन्हें लगता था कि 'कुछ पाठक यह आपत्ति कर सकते हैं कि मलाबार में इंदुलेखा जैसी बौद्धिक उपलब्धियों वाली युवती का मिलना असंभव है।' लेकिन उनका मानना था कि 'प्रतिष्ठित नायर तारावाड़ों में ऐसी सैकड़ों युवतियां हैं जो सुंदरता, व्यक्तिगत आकर्षण, शिष्ट आचरण, सादी रुचि, वार्तालाप की कुशलता, प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा विनोद-वृत्ति की दृष्टि से

इंदुलेखा की ऊंचाई तक ऊपर उठ सकती हैं' (पृ. xx)। जो एकमात्र खूबी इंदुलेखा को उनसे अलग करती है वह है उसका अंग्रेजी का ज्ञान। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दिया है :

> इस पुस्तक को लिखने में मेरा एक उद्देश्य यह दिखलाना है कि अपने स्वाभाविक आकर्षण और बौद्धिक संस्कृति के अतिरिक्त अंग्रेजी के ज्ञान से संपन्न मलयाली युवती अपने अति महत्वपूर्ण हितों के संबंध में—जैसे कि अपना जीवनसाथी चुनने के मामले में—किस प्रकार का व्यवहार करेगी। मुझे यह आवश्यक लगा कि मेरी इंदुलेखा को विश्व की सबसे समृद्ध भाषा में पारंगत होना चाहिए (पृ xx)।

अपने अंग्रेजी ज्ञान के बावजूद इंदुलेखा माधवन की तरह यह नहीं मानती कि नायर विवाह प्रणाली में कोई खूबी नहीं है। नायरों के बीच प्रचलित पुरुष-नारी संबंध पर इंदुलेखा-माधवन संवाद में उस बहस का पूरा समावेश है जो उन दिनों विवाह सुधार को लेकर समाज में चल रही थी। माधवन मानता है कि मलाबार में स्त्रियों को जो आजादी और अवसर प्राप्त हैं उनके कारण पुरुषों को अकथनीय कष्ट सहन करना पड़ता है। वैवाहिक मामलों में स्त्रियों को प्राप्त स्वतंत्रता पर अपनी असहमति जताते हुए माधवन कहता है .

> मलाबार में स्त्रियां अन्य देशों की स्त्रियों की तरह कड़ी वफादारी नहीं निभाती हैं। मलाबार में कोई स्त्री पति के रूप में किसी का वरण करके उसे जब चाहे छोड़ सकती है, और बहुत से अन्य मामलों में भी उसे ऐसा ही मनमाना व्यवहार करने की पूर्ण स्वतंत्रता है (पृ 40)।

नायर विवाह के अस्थायित्व के संबंध में माधवन का कथन स्पष्ट ही स्त्रियों के खिलाफ अभिमुख है। वह इस बात को नजरअंदाज कर देता है कि इस अस्थायित्व का कारण स्त्रियों के स्वातंत्र्य-प्रेम से अधिक पुरुषों का स्वैराचार है। वस्तुत., माधवन की दलील में इस पितृसत्तात्मक तकाजे की प्रतिध्वनि सुनाई देती है कि पुरुष-नारी संबंधों में जो कुछ 'प्राकृतिक' और आदर्श है उसकी स्थापना होनी चाहिए। इंदुलेखा नायर स्त्रियों के हक में जो सफाई देती है उसमें पितृसत्तात्मक अधिकारों तथा स्त्री-स्वातंत्र्य के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई देता है :

> तुमने क्या कहा कि मलयाली स्त्रियां पतिव्रता नहीं होतीं? स्त्रियां विवाह-बंधन की परवाह नहीं करतीं, ऐसा कहने का मतलब यह कहना है कि वे अनैतिक होती हैं। तो क्या तुम्हारे कहने का मतलब है कि ताड़ों के देश की सभी या अधिकांश

स्त्रियां अनैतिक हैं? अगर तुम्हारा मतलब यह था तो कम से कम मैं तो इससे सहमत नहीं हूं। अगर तुम्हारा आशय यह था कि चूंकि हम नायर लोग ब्राह्मणों की तरह अपनी स्त्रियों के लिए दूसरों के साथ सारे संपर्क निषिद्ध करके और ज्ञान के सारे दरवाजे बंद करके उन्हें पशुवत जीवन जीने के लिए विवश नहीं करते इसलिए हम अनैतिकता को बढ़ावा देते हैं तो इससे ज्यादा गलत राय कोई हो ही नहीं सकती। जरा यूरोप और अमरीका की ओर तो देखो, जहां शिक्षा, ज्ञान की स्वतत्रता की सुविधाओं की दृष्टि से स्त्रियां पुरुषों की बराबर की हिस्सेदार हैं! क्या ये सभी स्त्रियां अनैतिक हैं? अगर उन देशों में स्त्री अपने व्यक्तिगत सौंदर्य के साथ ही अपने व्यक्तित्व में शिक्षाजनित परिष्कार भी जोड़ लेती हैं तो और समाज तथा पुरुषों के साथ बातचीत का आनंद उठाती हैं तो क्या सीधे यह मान लिया जाए कि जिन पुरुषों को वे अपनी मित्रमडली में शामिल करती हैं वे उनके लिए मित्रों के अलावा भी कुछ हैं? (पृ 41)

लेकिन इंदुलेखा की यह जोरदार सफाई नायर स्त्रियों की उस लैंगिक समता को प्रतिबिंबित करती है जिसका उपभोग वे सदियों से करती आ रही थीं और जिसे सरकार द्वारा तजवीज किए जा रहे और शिक्षित मध्य वर्ग द्वारा समर्थित सुधार उलट-पलट दे सकते थे। सास्कृतिक परपरा के रूप में विकसित होने वाले इस आचरण को बदलने की जरूरत थी या नहीं, इस संबंध में बहुत से लोगों के मन में सदेह था। मलाबार विवाह आयोग द्वारा लिए गए साक्ष्यों और उसमें चलने वाली चर्चाओं तथा उसकी सिफारिशों के सबंध में लोगों की प्रतिक्रिया में राय की यह विविधता स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई। स्वयं चंदु मेनन विवाह आयोग के एक सदस्य थे। उन्होंने अपनी असहमति-सूचक टिप्पणी में कहा कि नायर समाज में प्रचलित विवाह को कानून और धर्म दोनों की स्वीकृति प्राप्त है और इस मामले में किसी प्रकार के वैधानिक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।[27] माधवन-इदुलेखा संवाद कई प्रकार से शिक्षित मध्य वर्ग के बीच विवाह सुधार प्रस्ताव से छिड़ी बहस का पुरोगामी था। इंदुलेखा की दलीलों को शायद स्त्रियों की वह अकथित राय माना जा सकता है जो स्त्रियों की वासना और स्वतंत्रता पर नियंत्रण स्थापित करने की पितृसत्तात्मक आकांक्षा से कतई मेल नहीं खाती थी।

'चचल-चित्त और स्वैराचारी' सूरी नंबूदिरीपाद के चरित्र के कथानक मे कई प्रयोजन और अर्थ हैं। इस अन्यथा गभीर उपन्यास में उसके मौज-मस्ती के दौरों का प्रयोजन बीच-बीच में हास्य-विनोद का समावेश करना भर नहीं है, बल्कि वह उस सास्कृतिक रंग-ढंग को अभिव्यक्ति है जिसका मलाबार के मध्य वर्ग को सामना करना पड़ रहा था। क्या रूप, क्या ज्ञान और क्या चरित्र, प्रायः सभी पहलुओं की दृष्टि से

वह माधवन का स्पष्ट नहीं तो कम से कम अस्पष्ट विलोम है। माधवन 'रूपवान' है, लेकिन नबूंदिरीपाद 'न तो रूपवान है और न सुरुचिपूर्ण'। 'जब वह हंसता था तो उसका मुंह कान से कान तक फैल जाता था, उसकी नाक विरूप तो नहीं थी लेकिन उसके चेहरे को देखते हुए बहुत छोटी थी, और वह चलने के बदले कौए की तरह फुदकता था।' स्त्रियों के प्रति माधवन का व्यवहार शिष्टतापूर्ण और सम्मान से भरा हुआ है, लेकिन नबूंदिरीपाद उद्दंड और अहंकारी है। वह स्त्रियों की उम्र और वैवाहिक स्थिति की परवाह किए बिना उन्हें केवल वासना के उपकरण के रूप में देखता है। वह जिस स्त्री को भी देखता है—चाहे वह इंदुलेखा हो या उसकी प्रौढ़ मां अथवा कुरूप सेविका—उसी पर मुग्ध हो जाता है। पारंपरिक नबूंदिरी रवैए को प्रतिबिंबित करते हुए वह मानता है कि उसे नायर परिवार की जो भी स्त्री पसंद आ जाए उससे विवाह करने का उसे अधिकार है (95-96)।

नबूंदिरी लोग सामान्यतः पारंपरिक ज्ञान के धनी होते हैं, लेकिन इस मामले में भी सूरी नबूंदिरी माधवन या इंदुलेखा के सामने कहीं नहीं टिकता। कथाकली के लिए अपने 'पागलपन' और संस्कृत साहित्य के पांडित्य के अपने दावों के बावजूद उसे काव्य की चंद पंक्तियां भी याद नहीं हैं। वह जबानी कविता सुनाने की कोशिश करता है तो उपहास का पात्र बनकर रह जाता है। जिन कविताओं को याद करने के लिए वह माथा-पच्ची करता है उन्हें इंदुलेखा बहुत सहजता से सुना देती है। सूरी नबूंदिरीपाद के चरित्र का एक अन्य पहलू नई सांस्कृतिक परिस्थिति के प्रति उसका तिरस्कार भाव है, जो किसी प्रकार के विचार या समझ से अधिक उसके अज्ञान की उपज है। फलतः वह वासना का पुजारी बनकर रह जाता है। वह मानता है कि अंग्रेज 'रूमानियत को नष्ट कर रहे हैं और सारी काम-क्रिया में बाधा डाल रहे हैं'। पारंपरिक विचारधारा के प्रति अपनी निष्ठा के कारण नबूंदिरीपाद का स्वागत करने वाले पंचू मेनन को भी वह 'निरा मूर्ख, ज्ञान और बुद्धि से पूर्णतः विहीन' लगता है (पृ 191)।

प्रस्तावित वैधानिक हस्तक्षेप के संबंध में चंदू मेनन की आपत्ति के बावजूद इंदुलेखा नायर-नबूंदिरी वैवाहिक संबंधों में निहित अन्याय को रेखांकित करती है। नई पीढ़ी को नंबूटिरियों का लैंगिक शोषण नागवार गुजरता था और उसको स्वीकृति देने वाले विचारधारात्मक प्रभुत्व पर वह प्रश्नचिह्न लगा रही थी। इंदुलेखा का सूरी नबूंदिरीपाद को ठुकराना इस सांस्कृतिक चेतना की प्रबल अभिव्यक्ति है। हालांकि विचारधाराएं इतनी जल्दी नहीं मिटतीं। इसीलिए नबूंदिरीपाद अपनी भौंडी और भद्दी चाल-ढाल के बावजूद इंदुलेखा की रिश्ते की एक बहन से विवाह करने में कामयाब हो जाता है।

'क्षेत्र' से 'राष्ट्र' की ओर

सामंती और आधुनिक व्यवस्था के बीच के अंतर को दिखलाने के अलावा नंबूदिरीपाद

प्रकरण का इस कथानक में एक और भी हेतु है। उसका उपयोग कथा को 'क्षेत्र' से परे 'राष्ट्र' के बड़े अखाड़े में ले जाने के लिए किया जाता है। माधवन को गलतफहमी हो जाती है कि सूरी नंबूदिरीपाद इंदुलेखा से विवाह करके उसे अपने साथ ले गया है। इसलिए वह मन को शांति देने के लिए यात्रा पर निकल पड़ता है और इसी सिलसिले में कलकत्ता पहुंच जाता है, जो उस काल में राष्ट्रवादी गतिविधियों का केंद्र था। कलकत्ता में वह उन लोगों से मित्रता स्थापित करता है जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सक्रिय हैं। वह उनकी सभाओं में भाग लेता है। यह प्रवास और अनुभव उसे धर्म, औपनिवेशिक राज्य और कांग्रेस आंदोलन पर अधिक विस्तृत चर्चा के लिए संदर्भ प्रदान करता है। उपन्यास का लगभग षष्ठांश इसी प्रकार की चर्चा से भरा हुआ है।

इस चर्चा में माधवन के अलावा उसका पिता गोविंद पणिक्कर तथा उसके रिश्ते का भाई गोविंदनकुट्टी मेनन शरीक होते हैं। वे तीन अलग-अलग प्रकार के चिंतन की लड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोविंदनकुट्टी मेनन अनीश्वरवादी और उदारवादी सुधारक है। गोविंद पणिक्कर आस्तिक है, जो धर्मगुरुओं में विश्वास और श्रद्धा को महत्व देता है। माधवन आलोचनात्मक बुद्धिवादी और कांग्रेस का समर्थक है। उनकी चर्चा में मुख्य रूप से दो मसले शामिल हैं। एक तो है मनुष्य के जीवन में धर्म का स्थान और दूसरा है औपनिवेशिक शासन के संदर्भ में कांग्रेस आंदोलन का स्वरूप।

धर्म संबंधी चर्चा में वह बौद्धिक उथल-पुथल प्रतिबिंबित हुई है जिसने उन्नीसवीं सदी के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के दौरान भारतीय समाज को आंदोलित कर रखा था। चर्चा के दौरान 'पुनर्जागरण' चिंतन की तीनों लड़ियों का विवेचन किया जाता है : धार्मिक परंपरा का बचाव किया जाता है, धर्माचरणों की तर्कयुक्त आलोचना की जाती है और धार्मिक आस्था के प्रति एक अनीश्वरवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है।

संवाद का आरंभ नौजवानों के परंपरा-विरोधी रुख की आलोचना से होता है। गोविंद पणिक्कर इस रुख का 'एकमात्र कारण अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप अपनाए गए विचारों और चिंतन-पद्धति को' मानता है। इस शिक्षा का प्रभाव ऐसा है कि आध्यात्मिक गुरुओं तथा परिवार के बुजुर्गों के प्रति सारा आदर, आस्था और प्रेम, देवता में विश्वास तथा पुण्याचरण समाप्त हो गया है। उसके अनुसार, शिक्षित युवकों के मन में हिंदुओं के पुराने सदाचरण के लिए कोई आदर नहीं रह गया है और वे सोचते हैं कि हिंदू धर्म सर्वथा तिरस्करणीय है। उसे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि यदि यह ज्ञान और संस्कृति 'जो कुछ दिव्य और पवित्र है उसका विरोधी है' तो उसे ग्रहण करना 'सरासर अयोग्य' है (पृ. 299-300)।

इस प्रारंभिक कथन के साथ देवता, धर्म और विचारधारा के संबंध में जोरदार चर्चा छिड़ जाती है, जिससे तीन स्पष्ट स्थितियां सामने आती हैं। 'अखिल विश्व के उद्भव,

परिवर्तन, विकास और ह्रास का कारण प्राकृतिक शक्तियां हैं', ऐसा मानते हुए गोविंदनकुट्टी यह स्वीकार करने से इनकार करता है कि ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता है जिसे ईश्वर कहा जा सकता है। जहां तक धर्म की बात है, वह समझता है कि यह 'प्रत्येक व्यक्ति के मन की तरंग है', और ज्यों-ज्यों मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि होगी त्यों-त्यों धर्म में आस्था का घटते जाना अवश्यंभावी है। दूसरी ओर माधवन का 'दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर है', लेकिन वह देवालयों और ईश्वर के बीच कोई संबंध नहीं मानता (पृ. 301-02)।

'अपने समय के उत्कृष्ट उदाहरण' प्रस्तुत करने वाले इन युवकों के विचार गोविंद पणिक्कर को अव्यवस्थित कर देते हैं, क्योंकि वह मानता है कि उसके पूर्वजों के विश्वास में किसी भी प्रकार का भटकाव अवांछनीय है। उसे यह एहसास है कि नए विचारों वाले इन युवकों को ईश्वर और धर्म का कायल करने का प्रयत्न कठिन है, सो वह अपने बचाव को मंदिरों की आवश्यकता तक ही सीमित रखता है। उसकी दलील है कि मंदिर 'सर्वशक्तिमान की देय प्रशंसा और श्रद्धा' का स्मरण कराने का काम करते हैं, क्योंकि इस बात की संभावना बनी रहती है कि लोग 'कभी-कभी' उसकी व्याप्ति की उपेक्षा कर दे सकते हैं। माधवन अपने पिता की दलील का अर्थ यह लगाता है कि 'मंदिरों और ईश्वर के बीच कोई वास्तविक संबंध' नहीं है और 'मंदिर पुण्यात्मा व्यक्तियों द्वारा उन लोगों के लाभ के लिए स्थापित प्रतीकात्मक संस्थाएं हैं जिनमें स्वाभाविक पुण्य-वृत्ति' नहीं है। वह न केवल मंदिरों और ईश्वर के बीच संबंध पर बल्कि सच्चे श्रद्धालुओं के लिए मंदिरों की प्रासंगिकता पर भी शंका उठाता है। यह मानते हुए कि ईश्वर अखिल विश्व में व्याप्त है और सृजन, पालन तथा संहार की शक्तियां उसी में निहित हैं, माधवन महसूस करता है कि 'यह तो हास्यास्पद है कि कोई मंदिर में जाकर मन को यह भुलावा दे कि उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति मेरा ईश्वर है और मुझे उसकी पूजा करनी चाहिए और उसके सामने दंडवत होना चाहिए' (पृ. 303-04)।

मूर्तिपूजा-विरोध एक प्रमुख विचार था जिसको केंद्र बनाकर उन्नीसवीं सदी का सुधार आंदोलन खड़ा किया गया। चूंकि इस संबंध में चंदू मेनन अपनी ओर से कुछ नहीं कहते इसलिए इस विषय पर उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। लेकिन माधवन के प्रबल मूर्तिपूजा-विरोधी तर्क के सामने गोविंद पणिक्कर द्वारा मूर्तिपूजा का समर्थन कमजोर लगता है। अंधविश्वासों को स्थायी बनाने की धार्मिक नेताओं की भूमिका से संबंधित चर्चा में मूर्तिपूजा-विरोध का और भी समर्थन होता है। गोविंद पणिक्कर जब एक संन्यासी का अपना यह अनुभव बताता है कि वह दस दिनों तक सिर्फ सात झड़बेर और नीम के सात पत्ते खाकर जिंदा रहा तो माधवन उसे पाखंडी का पाखंड कहकर खारिज कर देता है, क्योंकि उसकी राय में, यह करिश्मा उसने ऐसी परिस्थिति में नहीं किया कि उसकी सच्चाई की जांच की जा सकती और इसलिए वह स्वीकार्य नहीं था

(पृ 305-07)।

गोकि धर्म तथा धार्मिक आचारों की आलोचना परंपरा के संदर्भ में ही की जाती है तथापि उसमें परंपरा को बिलकुल अस्वीकार नहीं किया जाता। इसके बदले यह आलोचना पाठक को अनिवार्यतः परंपरा तथा आधुनिकता की सापेक्ष प्रासंगिकता की छानबीन की दिशा में ले जाती है। पाश्चात्य चिंतन से ओत-प्रोत और चार्ल्स ब्रैडला तथा डार्विन से प्रभावित गोविंदनकुट्टी मेनन के मन में पारंपरिक ग्रंथों में निहित ज्ञान के प्रति तिरस्कार ही तिरस्कार है। वह उन्हें 'असंगतियों और असंभावनाओं का पुलिंदा' कहकर खारिज कर देता है। डार्विन और ब्रैडला की कृतियों से दृष्टांत देकर वह यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि यूरोपीय चिंतन में जो वैज्ञानिक और तर्कसिद्ध विचार हैं वे भारतीय परंपरा मे, जिनका प्रतिनिधित्व पुराण तथा अन्य प्राचीन ग्रंथ करते हैं, सर्वथा अनुपस्थित हैं। माधवन परपरा के महत्व तथा शक्ति के प्रति संवेदनशील सर्वथा भिन्न दृष्टि का परिचय देता है। वह कहता है, पारंपरिक ज्ञान के प्रति गोविंदनकुट्टी के तिरस्कार का कारण प्राचीन ग्रंथों की अंतर्वस्तु के संबंध में उसका अज्ञान और समझ की कमी है। वह बताता है कि इन ग्रंथों ने यूरोपीय चिंतन तथा विचारों की प्रगति में योगदान किया है। वह गोविंदनकुट्टी मेनन को याद दिलाता है कि उसने ब्रैडला से जिस नास्तिकता को ग्रहण किया है वह सांख्य दर्शन में भली भांति उपस्थित थी (पृ 322)। भारत मे भी नास्तिक थे, यह बात गोविंदनकुट्टी मेनन और गोविंद पणिक्कर दोनों के लिए आश्यर्चजनक है। इससे यह ध्वनित होता है कि किस प्रकार 'आधुनिकतावादी' और 'परंपरावादी' दोनों अपने अतीत से समान रूप से अनभिज्ञ हैं। पूरी चर्चा की अवधारणा इस प्रकार से की गई है कि वह माधवन द्वारा समर्थित उस सांस्कृतिक-बौद्धिक दृष्टिकोण को रेखांकित करती है जो प्राचीन का त्याग किए बिना नए के पक्ष में है।

उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक सरोकारों की तरह धर्म और परंपरा से संबंधित बहस भी अंत में राजनीति की ओर मुड़ जाती है। इस चर्चा में राजनीतिक यथार्थ के दो परस्पर संबद्ध पहलुओं का समावेश है : औपनिवेशिक शासन का स्वरूप और कांग्रेस आंदोलन का चरित्र। चर्चा में शामिल तीनों व्यक्ति अंग्रेजी शासन की परोपकारी वृत्ति के संबंध में औपनिवेशिक दृष्टि के हामी हैं, लेकिन कांग्रेस आंदोलन से संभावित लाभों के बारे में उनके मूल्यांकन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। वे मानते हैं कि अंग्रेज सरकार पूर्ववर्ती शासनों से बहुत श्रेष्ठ है। वह हमारे पुराने शासकों से, 'जो अन्याय, अनियमितता और अत्याचार के दोषी थे', बिलकुल उलटी है (पृ 342), और अंत में वह भारत को प्रगति की राह ले जाएगी। माधवन इस सामान्य विश्वास को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है :

सचाई यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इस देश के लिए अवर्णनीय लाभों

> का स्रोत रही है। अन्य किसी भी देश में बौद्धिक क्षमता उतनी विकसित दिखाई नहीं देती जितनी अंग्रेजों में है, और वे जिस राजनयिक कुशलता का परिचय देते हैं वह उसका एक प्रमाण है। एक अन्य प्रमाण उनकी निष्पक्षता है, तीसरा उनकी परोपकारी वृत्ति है, चौथा बहादुरी, पांचवां उनकी ऊर्जा और छठा उनके टिके रहने की क्षमता है। इन छह गुणों की प्रमुखता के कारण ही अंग्रेज दुनिया के इतने देशों को अपने प्रभुत्व और संरक्षण में लाने में सफल रहे हैं, और इतने प्राकृतिक गुणों से युक्त जनसमाज द्वारा भारत को अपने अधीन लाना हमारे लिए सबसे बड़ा संभावित वरदान है (पृ 346)।

अंग्रेजी हुकूमत का यह मूल्यांकन वह आवश्यक संदर्भ प्रस्तुत करता है जिसमें उन संभावित उपायों के बारे में सोचा जाता है जिनसे भारतीय राज्यव्यवस्था विकसित हो सकती है। उनमें से एक है अंग्रेज सरकार द्वारा क्रमिक रूप से किए गए परिवर्तन और सुधार का रास्ता। इस उदारवादी-सुधारवादी दृष्टि का प्रतिपादन गोविंदनकुट्टी मेनन करता है। उसका कहना है कि इस रास्ते को सुगम बनाने के लिए भारत के लोग राजनीतिक प्रगति के लिए स्वयं को सामाजिक दृष्टि से योग्य साबित कर सकते हैं, जिसका उपाय यह है कि वे अपने 'दोषपूर्ण और लज्जाजनक रीति-रिवाजों तथा संस्थाओं को' बदलकर अपने देश को इंगलैंड की बराबरी की ऊंचाई तक उठाएं। लोकप्रिय विधानसभाएं, स्वशासन और मताधिकार उसके बाद ही प्राप्त हो सकते हैं, पहले नहीं। इस आवश्यक सुधार के बिना कांग्रेस 'बेकार' है, 'शब्दाडंबर', 'निरर्थक आंदोलन और धन की बरबादी' के अलावा और कुछ नहीं है इसलिए वह सर्वथा तिरस्करणीय है (पृ 337)।

नरमपंथी दृष्टि को स्वर देते हुए और कांग्रेस की भूमिका पर जोर देते हुए, माधवन उसे एक उपकरण की जिम्मेदारी देता है। वह जिम्मेदारी यह है कि 'अंग्रेजों में हमारे प्रति अधिक विश्वास, अधिक प्रेम तथा अधिक सम्मान की भावना भरकर, और इस प्रकार अंग्रेजी सरकार को हमारे और अंग्रेजों के बीच कोई भेद न करने पर राजी करके' अंग्रेजों से हमें मिल सकने वाले अवर्णनीय लाभों को वह 'परिपक्वता और पूर्णता' की स्थिति तक लाए (पृ 339-40)। इस लक्ष्य की प्राप्ति न तो हिंसा का सहारा लेने से और न निष्क्रिय बनकर की जा सकती है, बल्कि उसके लिए हमें अपनी स्थिति को अधिकाधिक ऊपर उठाने के लिए हर उचित प्रयास करना होगा। माधवन का मानना है कि ऐसे प्रयास के परिणामस्वरूप भारत में भी इंगलैंड की तरह स्वतंत्र सरकार की स्थापना होगी (पृ 343)। गोविंदनकुट्टी मेनन माधवन के दृष्टिकोण से लगभग सहमत हो जाता है और इस प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के बीच की समस्या का निपटारा हो गया मान लिया जाता है।

जैसा कि बहुत से साहित्यालोचकों ने कहा है, यह लंबी और असहज चर्चा कथानक से असंबद्ध दिखाई देती है, लेकिन वस्तुत. यह उपन्यास के विषय का अभिन्न अंग है। इस कथित अनावश्यक भटकाव को समझ से परे मानते हुए कुछ ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यह 'कथानक के प्रवाह के मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाला रोड़ा है।'[28] उनकी राय में यदि नास्तिकता और कांग्रेस पर चर्चा को निकाल दिया जाए—जैसा कि कुछ परवर्ती सस्करणों में सचमुच किया भी गया—तो भी कथा में कोई कमी नहीं आएगी। तब चंदू मेनन का एक 'कथा पुस्तक' लिखने का स्पष्ट इरादा भी पूरा हो जाता। लेकिन वस्तुतः चंदू मेनन मात्र एक कहानी कहने से आगे भी कुछ कहने की कोशिश कर रहे थे। वे एक सशक्त सांस्कृतिक एवं राजनीतिक बयान दे रहे थे और कथानक में उन महत्वपूर्ण मसलों को पिरो रहे थे जिनका सामना उस काल का भारतीय समाज कर रहा था।

इंदुलेखा औपनिवेशिक इतिहास के संदर्भ में प्रस्तुत मात्र एक कहानी नहीं है। यह उन्नीसवीं सदी के मलाबार की ऐतिहासिक प्रक्रिया को अंग्रेजी से विचारपूर्वक उधार ली गई एक साहित्यिक विधा में पिरोकर प्रस्तुत करती है। इस कृति की लोकप्रियता या इसके महत्व का पूरा कारण इस विधा की नवीनता और प्रेमकथा के संभावित आकर्षण में नहीं मिल सकता। इसका महत्व और इसकी सफलता बहुत हद तक इस बात में निहित है कि इसमें बुद्धिजीवी वर्ग के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अनुभव को, उसके सहज अंतर्विरोध, अस्पष्टता और अनिश्चितता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

औपनिवेशिक सांस्कृतिक मूल्यों और राजनीतिक विचारों को आत्मसात करके बुद्धिजीवी वर्ग उपनिवेशवाद के लिए वैधीकरण की भूमिका निभा रहा था। अंग्रेजी शिक्षा की आधुनिकीकरण की संभावना पर तथा अंग्रेजी शासन के परोपकारी, उदार स्वरूप पर जोर देकर *इंदुलेखा* में इस पहलू को प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके चरित्र, संवाद तथा लेखक के अपने कथन इस प्रारंभिक चेतना को स्पष्ट रूप से स्वर देते हैं। माधवन और इंदुलेखा औपनिवेशिक आदर्श के सशक्त अभिचित्रण हैं। इसके साथ ही, अंग्रेजी शिक्षा के सांस्कृतिक परिणामों तथा अंग्रेजी शासन की उदारता के बीच एक प्रकार के वियोजन को भी मानकर चला गया है। उदाहरण के लिए, गोविंद पणिक्कर सांस्कृतिक स्तर पर अंग्रेजी शिक्षा का आलोचक है लेकिन अंग्रेजी शासन का राजनीतिक समर्थक। वह मानता है कि अंग्रेजी शिक्षा ने परंपरा को अस्त-व्यस्त कर दिया और नास्तिकता को प्रोत्साहन दिया, लेकिन साथ ही भारत में उदार राज्य-व्यवस्था का श्रीगणेश भी किया।

अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद माधवन और इंदुलेखा औपनिवेशिक सांस्कृतिक नमूने नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व में औपनिवेशिक तथा देशी तत्वों का जटिल मिश्रण है, जो बुद्धिजीवी वर्ग के उस सांस्कृतिक आत्मदर्शन को प्रतिबिंबित करता है जिसमें औपनिवेशिक

संस्कृति के विरोध से उसकी विमुखता समाई हुई है। वे न तो पूर्ण रूप से उपनिवेशवाद के प्रभाव के अधीन हैं और न परंपरा से सर्वथा दूर। इस प्रकार उनकी पहचान का मूल एक नई सांस्कृतिक रुचि में समाहित है, जिसकी कुछ शिराएं पश्चिम की ओर जाती हैं और कुछ देश की मिट्टी में जमी हुई हैं, और उनका दो में से किसी भी एक के साथ न तो पूर्ण तादात्म्य है और न पूर्ण बिलगाव। राजनीति के क्षेत्र में भी यह द्वैधता स्पष्ट है : एक ओर अंग्रेजी शासन को स्वीकार किया जाता है और दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना की ओर संक्रमण का सिलसिला चलता है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की प्रस्तुति ही *इंदुलेखा* को क्लासिक कृति की स्थिति प्रदान करती है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 अलेक्जेंडर डो ने इस समस्या के एक पहलू को उजागर करते हुए लिखा : "ब्राह्मणों के ज्ञान, धर्म और दर्शन के संबंध में हमारे अज्ञान के कारण, ढूंढे जा सकते हैं एशिया पहुंचने वाले हमारे साहसी और महत्वाकांक्षी लोगों में बहुतों का उद्देश्य किसी भी रूप में साहित्यिक छानबीन नहीं है जिन थोड़े से लोगों में इस प्रकार की शोध की वृत्ति है वे इस बात से हतोत्साह हो जाते हैं कि जिस भाषा में हिंदुओं का ज्ञान संचित है उसे सीखना कठिन है, या ब्राह्मणों ने अपनी धार्मिक विशेषताओं तथा दर्शन पर प्रयत्नपूर्वक ऐसा पर्दा डाल रखा है जो अभेद्य है" ओ पी केजरीवाल कृत *दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल एंड दि डिस्कवरी आफ इंडियाज पास्ट*, दिल्ली, 1988, पृ 20 में उद्धृत
2 आर.ई. फ्राइकेनबर्ग, *गुंटूर 1788–1848*, आक्सफोर्ड, 1965
3 बी.बी. मिश्र *सेंट्रल एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी*, मैनचेस्टर, 1959
4 केजरीवाल, *दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल*, पृ 23
5 वही, पृ 14
6, वही, पृ 23
7 वही, पृ 35 साथ ही देखिए एस.एन. मुखर्जी, *सर विलियम जोंस* कैंब्रिज, 1968, पृ 73–90
8 एडवर्ड सैद, *ओरिएंटलिज्म*, लंदन, 1978, पृ [illegible]
9 बी.के. बोमन-बहराम, *एजुकेशनल कंट्रोवर्सीज इन इंडिया : दि कल्चरल कंक्वेस्ट आफ इंडिया अंडर ब्रिटिश इंपीरियलिज्म* बंबई 1943
10 एच शार्प, *सेलेक्शंस फ्राम एजुकेशनल रेकर्ड्स, पार्ट I : 1781–1839*, कलकत्ता, 1920, पृ 116
11. ओ मैनोनी, *प्रास्पेरो एंड कैलिबान - दि साइकोलाजी आफ कोलोनाइजेशन*, एन आर्बोर, 1990, पृ 39–48.
12 एडवर्ड शिल्स, *दि इंटलेक्चुअल बिटविन ट्रेडिशन एंड माडर्निटी : दि इंडियन सिचुएशन*, हेग, 1961
13 नेटाली जेमन डेविस, *सोसायटी एंड कल्चर इन अर्ली माडर्न फ्रांस*, लंदन, 1965, पृ 190
14 राजर चैटियर, *दि कलचरल यूजेज आफ प्रिंट इन अर्ली माडर्न फ्रांस*, प्रिंसटन, 1987, पृ 233
15 शिशिर कुमार दास, *ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, 1800–1910*, नई दिल्ली, 1991, पृ 70
16 वही, पृ 197–216
17. उदाहरणार्थ, देखिए के.एम. जार्ज, *वेस्टर्न इनफ्लुएंस आन मलयालम लैंग्वेज एंड लिटरेचर*, नई दिल्ली, 1972

18. दास, *ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, 1800–1910* उपशीर्षक है, 'वेस्टर्न इंपैक्ट इंडियन रेस्पांस '
19 ओ चदू मेनन, *इंदुलेखा,* दूसरे संस्करण की प्रस्तावना, कोट्टायम, 1971, पृ 23
20 पी के गोपालकृष्णन, *ओ चदू मेनन,* तिरुवनतपुरम, 1982
21 राबर्ट डार्नटन, *दि किस आफ लेमूरेट : रिफ्लेक्शंस आन कलचरल हिस्ट्री,* लदन, 1990, पृ 125
22 *इंदुलेखा,* डब्ल्यू डुमुर्ग द्वारा अग्रेजी में अनूदित, प्रथम संस्करण की प्रस्तावना, कालिकट, 1965, पृ X जोर हमारा इस अध्याय के सभी उद्धरण इसी संस्करण से लिए गए हैं, और पाठ में कोष्ठकों में दिए गए हैं
23 मलयालम के प्रथम उपन्यास *कुंदनलता* के लेखक भी ऐसी ही इच्छा से प्रेरित थे उन्होंने इस बात पर दु ख प्रकट किया कि जो लोग अग्रेजी नहीं जानते थे वे अग्रेजी के उपन्यासों से परिचित नहीं थे उनकी कोशिश अग्रेजी के ढग पर एक उपन्यास लिखने की थी अप्पू नेडुगाडि, *कुंदनलता,* प्रथम संस्करण की प्रस्तावना, कालिकट, 1887.
24 के एन पणिक्कर, *अगेंस्ट लार्ड एंड स्टेट,* नई दिल्ली, 1989, पृ 28
25 *रिपोर्ट आफ दि मलाबार, टिनैंसी कमीशन, 1927–28,* मद्रास, 1928
26 इंदुलेखा की सफलता से प्रेरित होकर प्रसिद्धि के आकांक्षी कई व्यक्तियों ने उपन्यास लिखने की कोशिश की. लेकिन उनमें से कोई भी पाठकों को प्रभावित नहीं कर पाया जार्ज इरुंबेयम (सं), *नालु नोवालुकल* (मलयालम), त्रिचूर, 1985
27 *मलाबार मैरिज कमीशन रिपोर्ट,* ओ. चंदू मेनन का स्मरणपत्र, ... मद्रास, 1891.
28 एम.पी पाल, *नावेल साहित्यम्* साथ ही देखिए पी के बालकृष्णन, *चंदू मेनन, ओरु पठनम्,* कोट्टायम, 1971, पृ 112-17 (दोनों मलयालम में)

7. देशी आयुर्विज्ञान और सांस्कृतिक वर्चस्व

भारत में औपनिवेशिक शासन के आरंभिक दौर में देशी ज्ञान-पद्धति और सांस्कृतिक आचार-व्यवहार पर काफी दबाव पड़ा। पश्चिम की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों से सामना होने पर भारतीय बौद्धिक जनों ने ऐसी विश्व दृष्टि विकसित की जो पारंपरिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक आचार-व्यवहार की आलोचक थी।[1] तथापि उनकी परिवर्तन की कार्यसूची पश्चिमीकरण पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसका आधार आवश्यकतानुसार वर्तमान को अस्वीकार करना और सुधारना था। पश्चिम के द्वारा प्राप्त प्रगति भविष्य की संभावित दिशाओं का संकेत देती थी, लेकिन नई व्यवस्था में अतीत का स्थान क्या हो, यह काफी अनिश्चित था। औपनिवेशिक संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इस अनिश्चितता में और भी तीव्रता आई और सांस्कृतिक विरासत को गंवा बैठने की संभावना तक दिखाई देने लगी। फलतः बौद्धिक जन एक अंतर्विरोध की स्थिति में फंस गए : पुराने को त्यागकर नए सांस्कृतिक परिवेश की रचना करें या पारंपरिक संस्कृति का परिरक्षण या उद्धार करें, ताकि अतीत का मूलोच्छेद न हो। इस अंतर्विरोध में संगति बैठाने के प्रयत्नों के फलस्वरूप वे अतीत तथा वर्तमान दोनों की आलोचनात्मक छानबीन में प्रवृत्त हुए। देशी आयुर्विज्ञान में नवजीवन का संचार करने का आंदोलन भारतीय समाज की उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं के प्रारंभिक दौर की इसी तलाश का अंग था। प्रस्तुत निबंध में कोट्टाक्कल निवासी पी.एस. वारियर द्वारा आरंभ किए गए और उन्हीं के नेतृत्व में चलने वाले आंदोलन की छानबीन की गई और औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक वर्चस्व के लिए उसके फलितार्थों पर विचार किया गया है।

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान का दाखिल किया जाना

अंग्रेजों की भारत-विजय के समय भारतीय जनता की चिकित्सा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कई देशी चिकित्सा पद्धतियां करती थीं—जैसे आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और लोक-चिकित्सा। इन पद्धतियों, खासतौर से आयुर्वेद और यूनानी के बीच फलप्रद आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप औषधों की सूची समृद्ध हुई और निदान-कौशल की अभिवृद्धि हुई। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में चिकित्साशास्त्र की समीक्षा करते हुए ए.एल. बैशम ने इन दो पद्धतियों के वैद्य-हकीमों के बीच चल रहे सहयोग को रेखांकित

किया है। उनकी राय में, 'उलमा और ब्राह्मणों का कहना चाहे जो भी रहा हो, चिकित्सा के क्षेत्र में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैर-विरोध का कोई प्रमाण नहीं मिलता।'[2] सिकंदर लोदी के बाह्वा खां नामक एक मंत्री तथा बाबर और हुमायूं के दरबार में यूसुफी नामक एक हकीम के अरबी, फारसी तथा आयुर्वेदिक विचारों के मिश्रण से एक सामासिक और समेकित पद्धति का विकास करने के प्रयत्न इस सहयोग के प्रमाण हैं।[3] मध्यकाल में कई अन्य लोगों ने भी दोनों पद्धतियों को एक-दूसरे के साथ लाने की कोशिश की। शाहजहां का हकीम अब्दुल शिराजी और औरंगजेब का दरबारी हकीम मुहम्मद अकबर अंसारी इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यूनानी और आयुर्वेदिक पद्धतियों ने एक-दूसरे की औषधियों को भी अपनाया। मुहम्मद अली ने यूनानी हकीमों द्वारा अपने औषधिशास्त्र में जोड़ी गई भारतीय मूल की 210 जड़ी-बूटियों की सूची दी है।[4] इसी प्रकार आयुर्वेद ने भी अपनी औषधि-सूची में यूनानी पद्धति की कई औषधियों को स्थान दिया।[5] चार्ल्स लेस्ली का कहना है कि इस आदान-प्रदान, सहयोग और संयोजन के फलस्वरूप आयुर्वेदिक वैद्यों के पारंपरिक विश्वासों और व्यवहारों में 'क्लासिकी पोथियों के मुकाबले भारी बदलाव' आया।[6] यदि परिवर्तन जितना लेस्ली कहते हैं उतना स्पष्ट न रहा हो तो भी देशी वैद्यों में उन अन्य पद्धतियों के ज्ञान को ग्रहण करने की इच्छा और सामर्थ्य का अभाव नहीं था जिनसे उनका संपर्क हुआ।

आरंभ में भारत स्थित गोरों के लाभ के लिए दाखिल की गई और बाद में भारतीय जनता को सुलभ कराई गई पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति साम्राज्य का एक 'औजार' थी।[7] जैसा कि राय मैक्लियड कहते हैं, वह एक सांस्कृतिक शक्ति थी, जो 'अपने-आप में एक सांस्कृतिक एजेंसी और उसके साथ ही पश्चिमी दुनिया के विस्तार की एजेंसी के भी रूप में काम कर रही थी।'[8] भारतीय बौद्धिक जनों के रुख से मैक्लियड की बात की स्पष्ट पुष्टि होती है। बौद्धिक जनों के लिए, आधुनिक विज्ञान, जिसे वे पश्चिमी संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में देखते थे, आधुनिकीकरण की एक महत्वपूर्ण शक्ति था। राममोहन राय ने जोरदार शब्दों में दलील दी कि 'दुनिया के दूसरे हिस्सों के निवासियों के मुकाबले यूरोप के बाशिंदों को तरक्की की राह ले जाने वाली चीज वैज्ञानिक ज्ञान है।'[9] इसके विपरीत, देशी परंपरा में विज्ञान अविकसित था और पश्चिम से विज्ञान को प्रशंसा भाव के साथ ग्रहण किया गया :

> हमने ज्ञान के उदय को सुखद आशा की दृष्टि से देखा, जो उदीयमान पीढ़ी के लिए वरदान रूप था। हमारे हृदय प्रसन्नता और कृतज्ञता की मिश्रित भावना से भर गए। हमने ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उसने पश्चिम के परम उदार और प्रबुद्ध राष्ट्रों को आधुनिक यूरोप की कलाओं तथा विज्ञानों को एशिया में आरोपित कर देने की प्रेरणा दी।[10]

शिक्षा के संबंध में लार्ड एमहर्स्ट के नाम राममोहन के जिस पत्र से उपर्युक्त उद्धरण लिया गया है उसमें पश्चिमी तथा देशी ज्ञान के बीच तुलना का सिलसिला अटूट रूप से चलता है। उसके अनुसार, बेकनोत्तर यूरोप में विकसित 'यथार्थ ज्ञान' के विपरीत भारत के पास जो कुछ था वह 'महत्वपूर्ण सूचना' के अलावा और कुछ नहीं था।[11] राममोहन राय का कहना था कि यदि भारतीय मानस देशी ज्ञान-पद्धति की चारदीवारी में घिरा रहा तो देश अंधकार में ही पड़ा रहेगा। उनके अनुसार, एकमात्र उपाय पश्चिमी ज्ञान को आत्मसात करना और इस प्रकार प्रगति के मार्ग पर चल पड़ना था।

इसी सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक संदर्भ में भारत में पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को दाखिल किया गया। बुद्धिजीवी वर्ग ने उसका स्वागत किया, यह तो स्वाभाविक ही था, यद्यपि आरंभ में कुछ झिझक और शंका अवश्य हुई। कुछ ने तो धार्मिक पूर्वग्रहों के कारण नई पद्धति को नहीं अपनाया, लेकिन कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने टीकाकरण जैसे उपायों की विधियों तथा परिणामों से संबंधित अफवाहों से, जो सर्वथा निराधार नहीं थीं, प्रभावित हुए। सुधारक और राष्ट्रवादी नेता के.टी. तेलंग ने शल्य-क्रिया करवाने के सुझाव के संबंध में जो प्रतिक्रिया जाहिर की उसमें उस काल के कुछ पूर्वग्रहों की झांकी देखी जा सकती है। उन्होंने एक सरल सी शल्य-क्रिया करवाने से, जिससे उनकी जान बच सकती थी, अपने माता-पिता की भावनाओं का खयाल करके इनकार कर दिया। उनके माता-पिता को 'नश्तर के हलके से हलके प्रयोग पर, खून की एक भी बूंद बहाने पर घोर आपत्ति' थी।[12] इस तरह के आरंभिक संकोच विकोच के बावजूद पाश्चात्य आयुर्विज्ञान द्वारा सुलभ कराया जाने वाला उपचार बुद्धिजीवी वर्ग के लिए आकर्षक था : उसे आधुनिकता के अंगीकरण के उपाय के रूप में देखा जाता था, और पुरातन को चुनौती देकर नए सांस्कृतिक संसार का अंग बनना समझा जाता था।

उन्नीसवीं सदी के दौरान राज्य ने पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के लिए प्रशासनिक और संस्थागत बुनियादी ढांचा स्थापित की। यद्यपि आरंभ में यह व्यवस्था सीमित ही थी तथापि जो अस्पताल, औषधालय और कालेज स्थापित किए गए उन्होंने उस नाभि-केंद्र का काम किया जिसके सहारे औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान ने अपना वर्चस्व स्थापित करने और इस प्रकार देशी पद्धति को बाहर धकेलने और उसकी हैसियत को मिटाने की कोशिश की। इस दृष्टि से राज्य की भूमिका उसके प्रशासनिक दायित्वों की सीमाओं से बाहर चली गई। उसने न केवल पश्चिमी आयुर्विज्ञान को आगे बढ़ाया, बल्कि अन्य सभी पद्धतियों पर उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार पाश्चात्य आयुर्विज्ञान सरकारी तौर पर प्राथमिकता प्राप्त पद्धति बन गया, उसे सरकारी आयुर्विज्ञान का दर्जा दिया गया, और अन्य पद्धतियों के प्रति सरकारी रवैया भेदभावपूर्ण ही नहीं बल्कि विरोधपूर्ण हो गया।

यद्यपि पाश्चात्य ज्ञान के प्रति औपनिवेशिक राज्य की प्राथमिकता की अभिव्यक्ति

पौर्वात्यवादी-आंग्लवादी विवाद के दौर में ही सामने आ गई और संस्थागत व्यवस्थाएं उसके बाद की गईं, तथापि उसके पक्ष में प्रशासनिक तथा वैधानिक हस्तक्षेप करने में समय लगा। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में किया गया, जब औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान की मांग को मौजूदा बुनियादी ढांचे के सहारे पूरा करना असंभव हो गया। जो खालीपन रह गया था उसे इस विज्ञान का जैसा-तैसा ज्ञान प्राप्त करने वाले चिकित्सकों ने पूरा किया। उन लोगों को या तो मान्यता-रहित संस्थाओं में कुछ प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था या फिर वे सर्वथा अप्रशिक्षित ही थे। इससे पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की वर्चस्व स्थापना की संभावना खतरे में पड़ गई, क्योंकि उसकी स्वीकृति उसकी प्रभावकारिता के बोध पर निर्भर थी, और यदि उसके व्यावहारिक रूप को नीम हकीमों के हाथों छोड़ दिया जाता तो उस बोध को आंच आ सकती थी। बंबई के ग्रांट मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल ने 1881 में एक समाधान सुझाया : चिकित्सकों के पंजीकरण की पद्धति द्वारा चिकित्सा वृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करने का समाधान। इस प्रस्ताव को बंबई सरकार का अनुमोदन मिला, लेकिन भारत सरकार ने उस समय उसे सही नहीं माना और इस मामले में कानून बनाने की अनुमति देने से इनकार कर दिया।[13] लेकिन बंबई सरकार अपने विचार पर दृढ़ रही और 1887 में उसने फिर से इस तरह का प्रस्ताव रखा, मगर इस बार उसने उसे बंबई शहर और द्वीप तक सीमित रखा। परंतु भारत सरकार अब भी स्थिति को इतना कठिन नहीं मान रही थी कि राज्य का हस्तक्षेप उचित समझा जाता। अपनी इस स्थिति में संशोधन करने में सरकार को लगभग तीस साल और लगे। इस परिवर्तन का कारण यह था कि अमान्य आयुर्विज्ञान संस्थाओं से प्राप्त डिग्रियों और डिप्लोमाओं के धारक लोग अपने को योग्यता प्राप्त चिकित्सक बताकर काम कर रहे थे। फलतः जब 1909 में बंबई सरकार ने तीसरी बार अपना प्रस्ताव रखा तो वह बड़ी आसानी से स्वीकार कर लिया गया, जिसकी परिणति 1912 के बंबई चिकित्सक पंजीकरण अधिनियम (मेडिकल रजिस्ट्रेशन एक्ट) के रूप में हुई।[14] दूसरे प्रांतों ने शीघ्रता से बंबई का अनुसरण किया।

इस अधिनियम में एक आयुर्विज्ञान परिषद (मेडिकल कौंसिल) की स्थापना के अलावा, चिकित्सकों के पंजीकरण की भी व्यवस्था की गई। अब नियम यह हो गया कि जो लोग अधिनियम के अधीन पंजीकृत हैं वही चिकित्सीय प्रमाणपत्र जारी कर सकते हैं या सरकारी पदों पर नियुक्त किए जा सकते हैं।[15] पंजीकरण केवल उन्हीं का हो सकता था जो 'बंबई, कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद और लाहौर विश्वविद्यालयों के चिकित्सा के डॉक्टर, स्नातक और लाइसेंसधारी, और शल्य-क्रिया के अधिस्नातक, स्नातक और लाइसेंसधारी तथा सरकारी आयुर्विज्ञान कॉलेज या स्कूल के डिप्लोमा या प्रमाणपत्र के धारक' हों।[16]

फलितार्थ की दृष्टि से देखें तो देशी पद्धतियां इस अधिनियम की संक्रिया से और

इस प्रकार राज्य के संरक्षण से बाहर थीं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सक घटिया स्थिति में डाल दिए गए, क्योंकि उन्हें राज्य की मान्यता प्राप्त नहीं थी और इसलिए उन्हें अर्हता से विहीन समझा जाता था। उन्हें अपना चिकित्सा का धंधा करने की सुविधा से वंचित कर देने के विचार का जन्म भी तभी हुआ, लेकिन उस समय सरकार ने उसे 'अव्यावहारिक' बताकर इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। मगर यह आशा अवश्य व्यक्त की गई कि 'जब सही समय आ जाएगा' तब 'अर्हता-रहित चिकित्सकों पर प्रतिबंध लगाने' के लिए कानून बनाया जाएगा।[17] इस अधिनियम से देशी चिकित्सा पर रोक तो नहीं लगी, लेकिन तब उसे राज्य का अनुमोदन भी प्राप्त नहीं रहा। इस प्रकार इस अधिनियम के माध्यम से राज्य ने अपने पक्षपातपूर्ण रुख का स्पष्ट परिचय दिया।

इस अधिनियम के पारित किए जाने के बाद जो चर्चाएं हुईं उनसे साफ हो गया कि सरकार का इरादा चिकित्सा के पेशे को 'अनियमित रूप से अर्हता प्राप्त करने वाले चिकित्सक' से बचाने तक सीमित नहीं था। समय आने पर उसकी मंशा देशी पद्धति के स्थान पर पश्चिमी पद्धति को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर देने की थी। इसके पीछे जो तर्क बताया गया वह यह था कि देशी पद्धति अवैज्ञानिक, युग-जर्जर और अपर्याप्त है। उसके स्थान पर सरकार भारतीयों तक आधुनिक पद्धति के लाभ पहुंचाने की कोशिश कर रही थी। विचित्र विडंबना कि मद्रास के गवर्नर लार्ड पेटलैंड ने केरल में चेरुतुरुत्ती में एक आयुर्वेदिक औषधालय का उद्घाटन करते हुए यह राय जाहिर की। उसने जोर देकर कहा कि देशी पद्धति को शरीर-रचना-विज्ञान की कोई जानकारी नहीं है, उसकी औषधियों की गुणवत्ता निकृष्ट है और उसमें कारण-परिणाम संबंध स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है। गवर्नर का कहना था कि ऐसी पद्धति सरकारी धन पाने की हकदार नहीं है।[18] दिल्ली में आयुर्वेदिक-यूनानी तिब्बिया कालेज के उद्घाटन समारोह में ऐसी ही भावनाएं गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंग ने भी व्यक्त की। जो बात गवर्नर के व्याख्यान में दबी-ढकी थी उसी को गवर्नर-जनरल ने अपने भाषण में खोलकर रख दिया : सरकारी सहायता केवल पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को दी जाएगी।[19]

आंग्लवादियों की विजय के बाद औपनिवेशिक राज्य ने जिस नीति का अनुसरण किया और जिसकी परिणति मेडिकल अधिनियम में हुई वह न केवल उस पद्धति के कार्यान्वयन की ओर अभिमुख था जिसमें पश्चिमी ज्ञान अंगीभूत था, बल्कि उसके अधीन देशी ज्ञान से संबंधित पद्धति को अवैध बनाने की भी कोशिश की गई। 1822 में सरकार ने देशी चिकित्सकों के लिए कलकत्ता में एक स्कूल स्थापित किया, जिसके पाठ्यक्रम में यूरोपीय और देशी पद्धतियों का मिश्रण था। बंबई और मद्रास में भी ऐसे ही स्कूल स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज में शरीर-रचना-विज्ञान और आधुनिक आयुर्विज्ञान को स्थान दिया गया।[20] इन प्रयोगों

में निहित सहज मिश्रण की संभावना के विचार को 1835 में त्याग दिया गया और पराधीन जनसमाज के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक क्षितिज को पाश्चात्य ज्ञान तक सीमित रखने का रुख अपनाया गया। फलत: देशी चिकित्सक तैयार करने के स्कूल बंद कर दिए गए, संस्कृत कालेज और मदरसे में आयुर्विज्ञान की पढ़ाई खत्म कर दी गई, और केवल पश्चिमी विज्ञान को समर्पित पाठ्यक्रमों वाली आयुर्विज्ञान संस्थाएं स्थापित की गईं।[21] देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सकों को फूलने-फलने की निर्बाध संभावना से वंचित करने की सरकारी नीति उनकी दृष्टि से सांस्कृतिक दमन और वंचना की कार्रवाई थी, क्योंकि अपनी आयुर्विज्ञान पद्धति के ज्ञान और उसके प्रयोग को वे लोग अपनी संस्कृति का अंग मानते थे।

देशी आयुर्विज्ञान पद्धतियां

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को बढ़ावा देने के स्पष्ट इरादे के बावजूद, औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान के 'लाभ' आबादी के एक छोटे से हिस्से तक सीमित थे। डॉक्टरों की संख्या अत्यल्प थी और अस्पताल तथा औषधालय आबादी के उस छोटे से हिस्से की भी जरूरतें पूरी करने की स्थिति में नहीं थे। उदाहरण के लिए, मद्रास प्रेसिडेंसी में 1921 में पश्चिमी पद्धति के केवल 2,272 चिकित्सक और 578 चिकित्सा केंद्र थे। प्रत्येक आयुर्विज्ञान संस्थान औसतन 40,000 लोगों की जरूरतें पूरी करता था।[22] चूंकि अधिकांश चिकित्सा केंद्र शहरी क्षेत्रों में स्थित थे इसलिए औपनिवेशिक चिकित्सा सुविधाएं ग्रामीण आबादी को लगभग अनुपलब्ध थीं। मद्रास और कड्डप्पा जिलों की तुलना से शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों की असमानता स्पष्ट हो जाती है। मद्रास जिले में प्रति 1.4 वर्गमील एक चिकित्सा केंद्र था, जो 27,298 लोगों की आबादी की जरूरतें पूरी करता था, लेकिन कड्डप्पा के संबंध में ये आकड़े थे क्रमश: 589.2 और 89,399।[23]

इसके विपरीत, विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित आंकड़ों से पता चलता है कि प्रत्येक गांव में देशी आयुर्विज्ञान के एकाधिक चिकित्सक थे। बंगाल के अपने 1835-38 के शिक्षा सर्वेक्षण के दौरान विलियम एडम ने पाया कि नेतूर जिले की 1,95,296 की आबादी और 485 गांवों में 646 चिकित्सक थे।[24] 1921 की जनगणना के अनुसार, मद्रास प्रेसिडेंसी में देशी पद्धति के 21,000 चिकित्सक थे।[25] इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि देशी आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान पर किसी जाति-विशेष की इजारेदारी नहीं थी, इसलिए उसका स्वरूप लोकप्रिय था और वह लोगों को सहज सुलभ था। उदाहरण के लिए, केरल में आयुर्वेदिक चिकित्सा का धंधा *अष्टवैद्यों,* अर्थात आठ ऊपरी जातियों के परिवारों और उनके शिष्यों तक सीमित नहीं था। बहुत सारे आयुर्वेदिक चिकित्सक निम्न, अस्पृश्य जातियों के थे, जिन्होने ऐसी कई औषधियों के सूत्र तैयार किए जिनका उल्लेख लोकप्रिय मलयालम पोथियों में हुआ है।[26] एलवा समाज के सुधारक नारायण

गुरु की आरंभिक लोकप्रियता का आधार उनका आयुर्विज्ञान का ज्ञान और रोगों को दूर करने की सामर्थ्य थी।[17] कम से कम केरल में आयुर्वेद के ज्ञान पर ऊपरी जातियों का एकाधिकार नहीं था वह जाति तथा धर्म की हदबंदियों से मुक्त था।

औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान की सुविधाएं कभी भी इस हद तक नहीं पहुंचीं कि वह देशी पद्धतियों का स्थान ले लेता। देशी आयुर्विज्ञान पद्धतियों पर विचार करने वाली समिति ने लक्ष्य किया कि ये पद्धतियां 'हमारी आबादी के दस में से नौ हिस्सों की जरूरतें पूरी करती हैं और उतने सारे लोगों को सरकारी चिकित्सीय सुविधा का लाभ प्राप्त नहीं है।'[28] जहां पश्चिमी चिकित्सा केंद्र मौजूद थे ऐसे क्षेत्रों में भी देशी चिकित्सा की मांग जारी रही। मद्रास नगर के एक ही इलाके में स्थित आयुर्वेदिक तथा पश्चिमी औषधालयों की तुलना से मालूम होता है कि लोग आयुर्वेद का लाभ अधिक उठाते थे। आयुर्वेदिक औषधालयों ने 1921–22 में 1,22,238 रोगियों का इलाज किया और पाश्चात्य औषधालयों में केवल 37,626 मरीज गए। दो और भी बातें उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि आयुर्वेदिक औषधालय में आने वाले रोगियों में मुसलमानों, ईसाइयों और यूरेसियाइयों की तादाद अच्छी-खासी थी। दूसरे, यह कि पाश्चात्य औषधालय में प्रतिदिन प्रति रोगी खर्चा आयुर्वेदिक औषधालय के मुकाबले 400 प्रतिशत अधिक बैठता था।[29]

औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान के सीमित फैलाव का एक महत्वपूर्ण फलितार्थ यह था कि देशी आयुर्विज्ञान को काम का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त था—खास तौर से ग्रामीण इलाकों में। फिर भी देशी पद्धतियों के चिकित्सकों में असुरक्षा की भावना घर कर गई थी, क्योंकि उन्हें पाश्चात्य आयुर्विज्ञान से असमान स्पर्धा का खतरा दिखाई दे रहा था। पाश्चात्य आयुर्विज्ञान द्वारा उपस्थित चुनौती के कारण खुद के हाशिए पर चले जाने की संभावना के एहसास के कारण देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सकों को अपनी कला के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनानी पड़ी। उनकी स्थिति के मूल्यांकन में अतीत के प्रति गर्व, वर्तमान से असंतोष तथा भविष्य के संबंध में आशंका की भावना का जटिल मिश्रण था। उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं के आरंभिक दौर में देशी आयुर्विज्ञान में नए प्राणों का संचार करने के प्रयत्न इसी मूल्यांकन से प्रतिफलित हुए।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय के बंगला उपन्यास *आरोग्य निकेतन* में देशी आयुर्विज्ञान के सामने उस दौर में उपस्थित संकट का प्रशंसनीय चित्रण हुआ है जब औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में अपना असर दिखाने लगा था। यह संकट इस उपन्यास के मुख्य पात्र जीवन मोशाय के जीवन में मूर्तिमंत हो उठता है। निदान के अपने अद्भुत कौशल और उपचार की अद्वितीय क्षमता के बावजूद जीवन मोशाय गांव में पाश्चात्य पद्धति के चिकित्सकों की उपस्थिति के कारण उत्तरोत्तर हाशिए पर चले जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप उनका चिकित्सा का धंधा छीजता चला जाता है और

उनका जो पारिवारिक औषधालय आरोग्य निकेतन तीन पीढ़ियों से गांव की चिकित्सा-विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति सफलतापूर्वक करता आ रहा था वह वीरान और खंडहर बनकर रह जाता है। उपन्यास का आरंभ इस औषधालय के निम्नलिखित वर्णन से होता है :

> उसकी (आरोग्य निकेतन की) स्थापना कोई 80 साल पहले हुई थी। आज वह नष्टप्राय है। मिट्टी की दीवारें जहां-तहां से फट गई हैं। छप्पर में कई छेद हैं, बीच का हिस्सा नीचे की ओर धंस गया है, जैसे किसी कुबड़े की पीठ हो। फिर भी औषधालय जैसे-तैसे टिका हुआ है—अपने अंत की प्रतीक्षा में, उस क्षण की राह देखता जब वह भहराकर ढेर हो जाएगा।[30]

इस औषधालय की स्थिति का ताराशंकर का वर्णन देशी आयुर्विज्ञान के साथ जो कुछ हुआ था उसका प्रतीक है। उसकी अवस्था दुःखद और 'दयनीय' थी, ऐसी राय लगभग उन सब लोगों की थी जिन्हें उसके भविष्य की चिंता थी। किसी के मन में इस बात में तनिक भी संदेह नहीं था कि चतुर्दिक ह्रास आरंभ हो चुका है, इस विज्ञान में, इसकी औषधियों की गुणवत्ता में और इसके चिकित्सकों के प्रशिक्षण में :

> आयुर्वेद की प्राचीनता हम सबके लिए गर्व का विषय है, लेकिन कोई भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि वर्तमान अवस्था बहुत दुःखद है। आंतरिक और बाह्य दोनों कारणों से हमारी आयुर्विज्ञान पद्धति का क्रमिक ह्रास होता गया है, और इसके विपरीत दूसरी पद्धतियां उसी हद तक उन्नति करती गई हैं। पश्चिमी दुनिया के लोग प्रकृति के नियमों की जांच करते हैं और विज्ञान के नए आयामों का उद्घाटन करते हैं, और इस प्रकार पूर्ववर्ती वैज्ञानिक जानकारी को बार-बार संशोधित करते रहते हैं। दूसरी ओर, हम मानते हैं कि पुराने विज्ञान पूर्ण रूप से निर्दोष हैं। फलतः हम न केवल उन्नति करने में नाकामयाब रहे हैं बल्कि दूसरों ने हमें निचले पायदानों पर ढकेल दिया है। अगर कुछ दिन और यह वस्तुस्थिति कायम रही तो इसमें कोई संदेह नहीं कि आयुर्वेद पूरे तौर पर मिट जाएगा।[31]

समकालीन अवस्था के संबंध में इस दृष्टिकोण में यह धारणा भी समाहित थी कि आयुर्वेद समस्त आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत है। क्लासिकी ग्रंथों से उद्भूत इसकी प्राचीनता का उल्लेख करते हुए यह दृष्टि सामने रखी गई कि विश्व की अन्य सभी चिकित्सा पद्धतियों ने अपना आरंभिक ज्ञान आयुर्वेद से ग्रहण किया। अखिल भारतीय आयुर्वेदिक सम्मेलन के अध्यक्ष यामिनीभूषण राय ने कहा, 'विश्व के सभी मनीषी इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक विज्ञान के आरंभिक सिद्धांतों का

जन्म इसी देश में हुआ। यह सिद्ध करने का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि आयुर्विज्ञान के मूल सिद्धांतों की शिक्षा अरब को सबसे पहले भारतीय आचार्यों और चिकित्सकों ने दी। अरब से मिस्र और यूनान होते हुए आयुर्वेद रोम पहुंचा और फिर वहां से पूरे यूरोप और धीरे-धीरे सारी दुनिया में फैल गया।[32] आयुर्वेद सभी आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान की *जननी* है, इस बात को देशी पद्धति के सभी हिमायतियों ने बार-बार दोहराया।[33]

परंतु अतीत के मूल्यांकन का एकमात्र मापदंड पुरातनता ही नहीं थी। प्राचीन ग्रंथों में निहित ज्ञान और चिकित्सा के अमली रूप की जानकारी की स्थिति पर भी उतना ही जोर था। आयुर्वेद के हिमायतियों का कहना था कि उसका ज्ञान और प्रयोग पूर्णता के ऊंचे स्तर पर जा पहुंचा था, जो बात चरक, सुश्रुत और वागभट के ग्रंथों से स्पष्ट है। इन ग्रंथों की टीकाओं और बाद की स्वतंत्र रचनाओं में ऐसी उपचार-विधि विकसित की गई जो सभी संभावित स्थितियों से निपट सकती थी। उनकी पारंगतता काय-चिकित्सा तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उनमें शल्य-क्रिया का भी कौशल था। प्राचीन ग्रंथों में शल्य-क्रिया के अनेक उपकरणों की सूची दी गई है और साथ ही उनसे संबंधित क्रियाओं का भी वर्णन किया गया है। रैनोप्लास्टी, चर्मारोपण, नेत्र-शल्य-क्रिया, कपाल-छेदन, हड्डी जोड़ना और अंगच्छेदन शल्य-क्रिया के कुछ खास-खास क्षेत्र थे।[34] इसके अतिरिक्त, भारतीयों में न तो शरीर-रचना-विज्ञान के ज्ञान का अभाव था और न वे शवच्छेदन से परहेज करते थे।[35]

अतीत की जो व्याख्या देशी आयुर्विज्ञान के हिमायतियों ने की वह पूरे तौर पर यूरोपीय प्राच्यविदों के एशिया-संबंधी अनुसंधानों पर आधारित नहीं थी। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियों के विपरीत, उन्हें क्लासिकी ग्रंथ उपलब्ध थे और उनमें उन्हें पढ़ने और उनकी व्याख्या करने की योग्यता थी। तथापि प्राच्यविदों द्वारा भारत के अतीत की खोज आसानी से उनके काम आई। सच तो यह है कि अपने विचारों के समर्थन में वे यूरोपीय विद्वानों के प्रमाण का हवाला अकसर दिया करते थे। एच.एच. विल्सन, टी.ए. वाइज और रॉल के विचार, जिनमें देशी आयुर्विज्ञान की उपलब्धियों को रेखांकित किया गया था, औपनिवेशिक दृष्टिकोण का खंडन करने में इस कारण से खास तौर पर उपयोगी साबित हुए कि वे यूरोपियों के विचार थे।[36] लेकिन तब देशी आयुर्विज्ञान के भारतीय समर्थकों और प्राच्यविदों के विचार समान नहीं थे। प्राच्यविदों की खोज या तो पुरातनोन्मुख थी या वह अपने अधीनस्थ लोगों के ज्ञान की मनचाही व्याख्या करने के काम में साम्राज्य द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला एक उपकरण और इस प्रकार औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना का एक अंग थी। यह दूसरा पहलू लगभग प्रत्येक क्षेत्र पर लागू होता था, इस बात को बहुधा नजरअंदाज कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा के मामले में हाल में एक लेखक ने भारतीय और औपनिवेशिक विचारों के बीच के अंतर को घटाकर आंकने की कोशिश की है। उनका आधार यह है कि

भारतीय बौद्धिक जनों और औपनिवेशिक अधिकारियों के विचार कई दृष्टियों से समान थे।[37] इस प्रकार के दृष्टिकोण में इस बात की अनदेखी कर दी जाती है कि दोनों की योजनाएं एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न थीं। भारतीय बौद्धिक जन सामाजिक पुनर्जागरण की एक दीर्घ दृष्टि लेकर चल रहे थे लेकिन औपनिवेशिक अधिकारियों का लक्ष्य प्रशासनिक प्रबंधन तक सीमित था। दृष्टिकोण का यह भेद आयुर्विज्ञान के मामले पर भी लागू होता था।

अतीत के उपर्युक्त बोध के कारण खोज का एक प्रमुख विषय यह था कि किन परिस्थितियों की वजह से वर्तमान वैसा हो गया जैसा वह है। जैसा कि लेस्ली कहते हैं, इस तरह की खोज का मतलब पुनरुत्थानवाद का औचित्य सिद्ध करने के लिए किसी सिद्धांत का आविष्कार करने का प्रयत्न नहीं था, बल्कि उसकी अवधारणा सुधार के प्रस्थान-बिंदु के रूप में की गई थी।[38] इसीलिए विशेष ध्यान ह्रास के कारणों पर दिया गया, और ये कारण कुछ तो इस पद्धति के अंदर ही मौजूद थे और कुछ बाहरी शक्तियों के दबाव से उत्पन्न हुए थे।

आंतरिक कारण तीन बातों पर आधारित थे : ज्ञान की गतिहीनता, चिकित्सकों का अज्ञान और अच्छी औषधियों की अनुपलब्धता। देशी पद्धतियों का मुख्य दोष यह था कि उनका ज्ञान पुराना पड़ चुका था। क्लासिकी ग्रंथ चाहे जितने अच्छे रहे हों, उनमें निहित ज्ञान गतिशून्य रह गया था, क्योंकि उसके प्रयोग द्वारा तथा उसे नए अनुभवों से जोड़कर उसमें सुधार करने का कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया गया। आयुर्वेद कुल मिलाकर उन पारिस्थितिकीय तथा सामाजिक प्रयत्नों के प्रति उदासीन बना रहा जो उसके गौरव ग्रंथों की रचना के बाद सामने आए थे, और इसलिए उसकी उपचार-पद्धति का वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं रह गया था।[39] फलतः आयुर्वेद समय के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल पाया और सदियों पूर्व विकसित ज्ञान के दायरे में ही बंधा रहा।

और समकालीन चिकित्सकों ने इस ज्ञान को भी पूरे तौर पर आत्मसात नहीं किया। क्लासिकी ग्रंथ या तो सहज सुलभ नहीं थे या थे तो अधिकांश चिकित्सकों को उनकी भाषा पर ऐसा अधिकार नहीं था कि वे उनमें संचित ज्ञान को ठीक से ग्रहण कर पाते। अपेक्षाकृत आसानी से उपलब्ध ग्रंथों और प्रचलित भाषाओं में लिखी उनकी टीकाओं का भी पर्याप्त उपयोग नहीं किया गया। इन ग्रंथों पर अधिकार प्राप्त करने और इस प्रकार इस विषय के मूल सिद्धांतों को ग्रहण करने के बदले अधिकतर चिकित्सकों ने बड़े वैद्यों से अल्पकालीन प्रशिक्षण ग्रहण करने के दौरान जबानी तौर पर कुछ सीख लेने का आसान रास्ता अपनाया। नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते अधिकतर देशी चिकित्सक अपने धंधे के कौशल से विहीन हो गए, और भोले-भाले रोगियों का काम उधार के नुस्खों से चलाने लगे। उनका एकमात्र लक्ष्य और रुचि

जीविका कमाना रह गई।[60] इस प्रकार यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके हाथों में पहुंचकर देशी आयुर्विज्ञान अपनी प्रभावकारिता और प्रामाणिकता खो बैठी।

यह महसूस किया गया कि औषधियां बनाने के लिए काम में लाए जाने वाले तरीके देशी पद्धतियों का एक और दोष हैं। बहुत कम औषधियां तैयार रूप में मिलती थीं और इसलिए रोगियों को वैद्यों द्वारा दिए गए नुस्खों के आधार पर खुद ही दवाएं बनानी पड़ती थीं। रोगी जो औषधियां तैयार करते थे वे अकसर नुस्खे पर पूरी नहीं उतरती थीं। कभी तो उनकी जड़ी-बूटियों में कमी रह जाती थी और कभी विधि में। फलतः जो दवा देने का वैद्य का इरादा रहता था वह जो दवा सचमुच रोगी को मिलती थी उससे बहुत भिन्न होती थी। दवा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने की किसी विधि के अभाव में योग्य वैद्य का उपचार भी बहुधा निष्प्रभावी साबित होता था।[61] इन आंतरिक दोषों का इन पद्धतियों को मिलने वाले राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के संरक्षण से भी संबंध था। समकालीन उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए देशी पद्धति पर विचार करने के लिए गठित समिति ने कहा कि देशी पद्धतियां 'एक ओर तो राज्य तथा उन अन्य लोगों की निष्ठुर, बल्कि भयावह उपेक्षा' का शिकार रही हैं 'जिन्हें उनका स्वाभाविक और कृतज्ञ संरक्षक होना चाहिए था और दूसरी ओर उनके सामने एक ऐसे 'प्रतिद्वंद्वी' की भीषण बाधा उपस्थित है जिसे राज्य की मान्यता और समर्थन का एकाधिकार प्राप्त है। इन परिस्थितियों में आश्चर्य यह नहीं है कि भारतीय पद्धतियां मुरझा गई हैं बल्कि यह है कि ये आज भी कैसे जीवित हैं।'[62]

देशी पद्धतियों के ह्रास की सभी चर्चाओं में औपनिवेशिक राज्य के शत्रुतापूर्ण रुख के प्रभाव का जिक्र प्रमुख रूप से किया गया। नई राजनीतिक व्यवस्था के अधीन वे न केवल संरक्षण से वंचित हो गईं बल्कि उन्हें पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के साथ समान स्तर पर स्पर्धा करने के मौके से भी महरूम कर दिया गया। इसलिए ह्रास का मुख्य कारण राजनीतिक सत्ता छिनना माना गया। देशी पद्धतियों के एक उग्र समर्थक ने कहा, 'हमें राजनीतिक सत्ता दो तो हम दिखा देंगे कि कौन सी पद्धति प्रभावकारी, वैज्ञानिक और श्रेष्ठ है। भारत में पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की सफलता का कारण निस्संदेह सरकार का समर्थन है।'[63]

विदेशी राजनीतिक प्रभुत्व के फलितार्थ संरक्षण खो बैठने और रोजगार के अवसर छिन जाने तक ही सीमित नहीं थे। देशी पद्धति को प्राप्त सामाजिक समर्थन के क्षेत्र में भी वे उतने ही स्पष्ट थे। पूर्व भारतीय शासक वर्ग देशी पद्धतियों के संपोषण का एक प्रमुख स्रोत था।[64] औपनिवेशिक शासन की स्थापना के फलस्वरूप सत्ता संरचना से उनके स्थानच्युत हो जाने से देशी पद्धतियां एक प्रमुख समर्थन से वंचित हो गईं। शिक्षित वर्गों ने अधिक व्यवस्थित और पेशेवर ढंग पर संगठित पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को जो तरजीह दी उसका परिणाम भी यही हुआ। इस प्रकार देशी पद्धतियां राजनीतिक

संरक्षण तथा सामाजिक समर्थन दोनों दृष्टियों से हाशिए पर चली गईं।

हालांकि तात्कालिक समस्या की जड़ औपनिवेशिक राज्य की भेदभावपूर्ण नीति थी लेकिन देशी पद्धतियों की गतिहीनता और ह्रास का कारण स्वयं प्राचीन काल में निर्दिष्ट किया गया है। ऐसा महसूस किया गया कि सिद्धांत और व्यवहार के बीच के जिस संबंध पर सुश्रुत ने जोर दिया था उसे नजरअंदाज कर दिया गया। कहा गया कि इस संबंध-विच्छेद का कारण बौद्ध धर्म था, जिसमें प्राणियों के अंगच्छेदन की कार्रवाई को हतोत्साहित किया गया।[5] शल्य क्रिया पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं सदी आते-आते यह क्रिया इस प्रकार लुप्त हो गई कि इसे फिर से आरंभ करना लगभग असंभव हो गया। मध्य काल में, जब मुसलमान शासकों और सरदारों द्वारा यूनानी पद्धति को दिया गया संरक्षण आयुर्वेद के लिए नुकसानदेह साबित हुआ, आयुर्वेद के ह्रास का सिलसिला जारी रहा।[6] फिर भी इस दौर में जो कुछ हुआ वह गुणवत्ता की दृष्टि से औपनिवेशिक काल की परिघटनाओं से भिन्न था, क्योंकि इस काल में तो देशी पद्धतियों के सामने बिलकुल मिट जाने की आशंका उपस्थित हो गई। देशी आयुर्विज्ञान को पुनरुज्जीवित करने का आंदोलन इसी आशंका में से उत्पन्न हुआ।

पुनरुज्जीवन आंदोलन उतरती उन्नीसवीं और चढ़ती बीसवीं सदियों में चल रहे सामान्य सांस्कृतिक-बौद्धिक पुनरुत्थान का अंग था, वह कोई अलग परिघटना नहीं था। ह्रास के प्रति सजगता भारत के लगभग सभी हिस्सों में और खास तौर से बंगाल, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु और केरल में स्पष्ट देखी जा सकती थी। ये दो विशेषताएं इस आंदोलन के अभिन्न अंग थीं। उसका सामान्य रूप सांस्कृतिक था और उसकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय किस्म की थी। व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने क्षेत्रीय स्तर पर इस पद्धति के अंदर की संभावनाओं की जो तलाश शुरू की वह अंत में एक सामान्य प्रयत्न में मिलकर एकाकार हो गई। इस प्रयत्न को संगठनात्मक रूप 1907 के आयुर्वेद महासम्मेलन में मिला।[7] क्षेत्रीय सीमाओं से परे सांस्कृतिक संबंधों तथा जुड़ावों ने इस आंदोलन को एक सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थ प्रदान किया। तथापि देशी पद्धतियों की विभिन्न धाराएं किसी एक मंच की सृष्टि नहीं कर पाईं, हालांकि उनमें हितों की एकता तथा उनके व्यावहारिक रूप का नियमन करने वाले सिद्धांतों की समानता का उन्हें बोध था। मालूम होता है, पहले अलग-अलग पद्धतियों के बीच जो आदान-प्रदान चलता था वह भी बंद हो गया। अब उनमें से प्रत्येक का पाश्चात्य आयुर्विज्ञान से अधिक सरोकार था। इसके बावजूद पुनरुज्जीवन आंदोलन ने सांस्कृतिक सरोकारों को रेखांकित किया और साथ ही औपनिवेशिक समाज में वर्चस्व के संघर्ष को भी प्रतिबिंबित किया। केरल में पी.एस. वारियर के नेतृत्व में चलने वाला आंदोलन इन पहलुओं पर कुछ प्रकाश डालता है।

कोट्टाक्कल की पहल

शकुन्नि वारियर : पन्नियिन पल्लि शकुन्नि वारियर का जन्म 16 मार्च 1869 को कोझिकोड के निकट कोट्टाक्कल नामक एक छोटे से कसबे मे मंदिर सेवक जाति के एक रूढ़िवादी परंतु प्रतिभाशाली परिवार में हुआ था। इस परिवार के सदस्य चित्रकारी, संगीत और संस्कृत साहित्य के अभ्यासी थे।[48] शंकुन्नि की माता कुन्हिकुट्टि वरसयर को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था और वे शास्त्रीय संगीत मे भी प्रवीण थीं। लेकिन परिवार की ख्याति का आधार वैद्यों के रूप में उसके सदस्यों की उपलब्धियां थीं। जिस कलात्मक, धार्मिक तथा वैद्यकी वातावरण मे शकुन्नि का विकास हुआ उसका उसके बाल-प्रौढ़ मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव पडा। एक नन्हे बालक के रूप में भी उसे ओषधियों के नाम इस तरह याद थे कि जो लोग विनोदवश बीमारी का नाटक करते थे उन्हे वह नुस्खे बता दिया करता था।[49]

इस प्रकार के पारिवारिक परिवेश से प्रभाव ग्रहण करने के बाद शकुन्नि की शिक्षा पारंपरिक पद्धति पर आरंभ हुई। उसने अपने समय के कतिपय विख्यात विद्वानों—चुनक्कर कोचुकृष्ण वारियर और कैकुलंगर राम वारियर—से संस्कृत सीखी। आयुर्वेद से उसका परिचय कोमल अच्युत वारियर ने करवाया, जिसके उपरांत चार वर्षों तक उसने अष्ट वैद्यन कुट्टनचेरि वासुदेवन मूस की देखरेख में इस विद्या का अध्ययन किया। मूस अत्यंत कुशल आयुर्वेदिक चिकित्सक थे।

जब बीस साल की उम्र में शकुन्नि ने अपनी शिक्षा पूरी की और कोट्टाक्कल में वैद्यकी आरंभ की तब तक पाश्चात्य आयुर्विज्ञान उस क्षेत्र में लोकप्रिय होने लगा था। स्वभाव से जिज्ञासु शंकुन्नि इस नई पद्धति का परिचय प्राप्त करने के लिए बहुत उत्सुक थे। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का अभाव इस काम में उनकी पहली बाधा था, जिस पर उन्होने खानगी तौर पर उसे सीखकर पार पा लिया। जब वे आंख के रोग से रुग्ण हुए तो देवयोग से उन्हें पाश्चात्य आयुर्विज्ञान का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल गया। उनकी आंखों में रोहा हो गया था, जिसके लिए उन्होंने कोट्टाक्कल के निकट मंजेरी नामक स्थान के सरकारी अस्पताल के असिस्टेंट सर्जन डॉ वी वर्गिज से परामर्श लिया। चिकित्सा पूरी हो जाने पर डॉ वर्गिज ने कहा कि अगर वे चाहें तो वे उन्हे पाश्चात्य आयुर्विज्ञान पद्धति की शिक्षा दे सकते हैं। उन्होने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और अस्पताल में तीन साल प्रशिक्षण प्राप्त किया।[50] उन्होने निदान के तरीके के साथ ही दवा बनाना और देना, रोगी को बेहोश करना और छोटी-मोटी शल्य-क्रिया करना सीखा। इस प्रकार उनके आयुर्विज्ञान के ज्ञान में देशी और पाश्चात्य दोनो पद्धतियां शामिल थीं। यद्यपि उनके पैर दृढ़ता के साथ आयुर्वेद में जमे हुए थे, जिसे वे अपने धर्म और संस्कृति का अभिन्न अंग मानते थे, लेकिन उनमें पश्चिमी आयुर्विज्ञान के ज्ञान के प्रति आदर और प्रशंसा का भाव विकसित हुआ, खास तौर से शल्य-क्रिया, व्यवच्छेद-

विद्या और शरीर-रचना शास्त्र के प्रति। इससे उनका सुधार का परिप्रेक्ष्य बहुत प्रभावित हुआ।

वारियर उदार और ग्रहणशील दृष्टिकोण के धनी थे। हालांकि विश्वास और आचार से वे घोर धार्मिक और रूढ़िवादी थे फिर भी उनके धर्मों के प्रति उनके विचार विश्ववादी सिद्धांतों से प्रभावित थे। उनके घर का प्रवेश-द्वार ईसाई, इसलाम और हिंदू तीनों धर्मों के प्रतीकों से शोभित था। जब डॉ. वर्गिज उनसे मिलने आए तो वारियर ने अपने शिक्षक को सम्मान-प्रदर्शन के रूप में सोने का एक जड़ाऊ क्रास भेंट किया।[51] उनके असांप्रदायिक दृष्टिकोण की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति 1921 के विद्रोह में हुई, जब मोप्पिला विद्रोहियों ने हिंदू जमींदारों की हत्या की और अंग्रेजी फौजों के खिलाफ लड़े। वारियर का घर हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को शरणस्थली था। जब पुलिसकर्मी उनके घर में मौजूद थे तब भी उन्होंने उनकी सहायता और आतिथ्य करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। सरकारी अफसरों के विरोध के बावजूद उनका कहना था कि विद्रोह में शरीक मोप्पिलों के परिवार राहत के उतने ही हकदार हैं जितने कि हिंदू। वारियर के नाम का इतना अधिक सम्मान था कि वह विद्रोह के उथल-पुथल भरे दिनों में सुरक्षा का परवाना बन गया। मोप्पिलों ने न केवल उनके घर पर हमला नहीं किया बल्कि उनके प्रति अपने सम्मान और कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में वे गलियों के चक्कर लगा रही विद्रोहियों की टोलियों से उनके घर की रक्षा करने के लिए उसके पहरेदार बन गए।[52] अपने समय के अनेक पूर्वग्रहों से मुक्त वारियर का दिमाग खुला हुआ था और उसमें चीजों को गुण-दोष के आधार पर परखने की क्षमता थी। वे कल्पनाशील लेकिन व्यावहारिक, उत्साही किंतु धैर्यवान, स्फूर्तिवान लेकिन व्यवस्थित थे। इन गुणों से उनके संस्था-निर्माण के प्रयत्नों को सफलता में भरपूर योगदान मिला, चाहे उन प्रयत्नों का संबंध आयुर्विज्ञान से रहा हो या साहित्य अथवा कला से।

सांस्कृतिक मूल : देशी आयुर्विज्ञान में नवजीवन का संचार करने का आंदोलन तीन मुद्दों पर केंद्रित था : (एक) ज्ञान का पुनरुद्धार करना, उसे व्यवस्थित रूप देना और उसका प्रचार करना; (दो) वैद्यों के प्रशिक्षण के लिए संस्थागत सुविधाओं की सृष्टि करना; और (तीन) औषधियां बनाना तथा वितरित करना। इनमें से किसी भी क्षेत्र में पी.एस. वारियर को राष्ट्रीय संदर्भ में पथ-प्रदर्शक नहीं कहा जा सकता। बंगाल में गंगाधर राय और गंगाप्रसाद सेन, महाराष्ट्र में शंकर शास्त्री पाड़े तथा मद्रास में गोपालाचारी इन सभी क्षेत्रों में कुछ न कुछ प्रयत्न उनसे पहले ही कर चुके थे।[53] गंगानाथ सेन और लक्ष्मीपति जैसे उनके कई समकालीन भी इसी तरह के रास्ते पर चल रहे थे। वारियर का महत्व इस बात में निहित है कि केरल में उन्होंने सबसे पहले इस प्रकार का प्रयत्न किया। इसके अलावा, संस्था-निर्माण पर उनका बहुत अधिक जोर था। इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि औपनिवेशिक केरल के सांस्कृतिक जागरण

से उनका घनिष्ठ संबंध था।

कोट्टाक्कल में अपना पेशा आरंभ करते ही उन्हें अपने कौशल की कमजोरियों का एहसास हो गया और वे उनमें से कम से कम कुछ को दूर करने के प्रयत्न में लग गए। 1902 में आर्य वैद्य समाजम नामक वैद्यों के एक संघ की स्थापना इस दिशा में उठाया गया पहला कदम थी।

समाजम का उद्घाटन सत्र कोट्टाक्कल में आयोजित किया गया, जिसमें पूरे केरल के प्रतिनिधि शामिल हुए। बाद में वार्षिक सम्मेलन अलग-अलग स्थानों में आयोजित किए गए। त्रावणकोर और कोचिन के महाराजा तथा कालिकट के सामुतिरि उसके संरक्षक थे, पी एस वारियर को उसकी स्थायी मंत्री (सेक्रेटरी) मनोनीत किया गया।[54] वार्षिक सम्मेलन बहुत ताम-झाम के साथ आयोजित किए जाते थे। गाजे-बाजे, प्रदर्शनियों तथा सार्वजनिक जुलूस के साथ उनका रूप उत्सव का हो गया।[55] त्रावणकोर, कोचिन और मलाबार, इन तीनों राजनीतिक डिवीजनों में फैली समाज की सांगठनिक संरचना तथा प्रवृत्तियों में केरल की एकता पर जोर दिया जाता था। 1920 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा आयोजित प्रथम केरल कांफ्रेंस के बहुत पूर्व, इस काम को शायद पहले-पहल करने का श्रेय समाजम को ही जाता है।

समाजम विचारों का आदान-प्रदान और अनुभवों की साझेदारी करने के लिए स्थापित एक सार्वजनिक मंच था। इस प्रक्रिया में वह पुनर्जीवन आंदोलन की वैचारिक भूमि बन गया। इस आंदोलन के अधिकांश कार्यक्रम तथा प्रवृत्तियां या तो समाजम की सभाओं से उद्भूत हुईं या फिर उनमें उन पर चर्चाएं हुईं। इसका एक अच्छा उदाहरण *पाठशाला* है। यह वैद्यों के प्रशिक्षण की एक संस्था थी। वार्षिक सम्मेलनों में ऐसी संस्था की आवश्यकता पर बार-बार जोर दिया गया।[56] यदि डी डी. कोसंबी के शब्दों में कहें तो समाजम का मुख्य योगदान आयुर्वेद के अतीत और वर्तमान दोनों के संदर्भ में उसके ज्ञान तथा प्रयोग दोनों के विषय में 'रचनात्मक आत्मनिरीक्षण' की प्रवृत्ति जगाने में निहित थी। सम्मेलनों की कार्यवाहियों के दो हिस्से हुआ करते थे। पहले में सामान्य ढंग के व्याख्यान दिए जाते थे, जिनमें अतीत की प्रशंसा की जाती थी, कोई आलोचना नहीं की जाती थी और उसके प्रति एक मोह का भाव होता था। इन व्याख्यानों का उद्देश्य इस पद्धति में विश्वास जगाना होता था। हालांकि उन व्याख्यानों में पुनरावृत्तियां और सतहीपन होता था लेकिन उनसे मौजूदा हालात में बदलाव लाने की फौरी जरूरत का एहसास जगता था। दूसरे हिस्से में आलेख पढ़े जाते थे, जिनमें रोग, उपचार तथा औषधि पर पेशेवर ढंग की चर्चा होती थी। यह शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू था, क्योंकि इसमें बिखरे अनुभवों तथा खोजों को एक समुच्चय में पिरोया जाता था और इस प्रकार इस विद्या की समस्याओं तथा संभावनाओं दोनों को रेखांकित किया जाता था।

सम्मेलन की कार्रवाइयों में भारतीयों के उपचार के लिए पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की

प्रभावकारिता और उपयुक्तता को घटाकर आंकने तथा देशी पद्धति को श्रेष्ठ बताने की स्पष्ट प्रवृत्ति होती थी। दलील का आधार किसी पद्धति की वर्तमान सामर्थ्य और विकास की अपेक्षा प्रकृति और समाज से उसका संबंध होता था। तर्क यह था कि प्रत्येक पद्धति विशिष्ट प्राकृतिक तथा सामाजिक स्थितियों में विकसित होती है। ये स्थितियां उसके औषधि-विज्ञान तथा उपचार के तरीकों को प्रभावित करती हैं। शरीर, पर्यावरण तथा औषधि के बीच के संबंधों के बुनियादी प्रश्न पर जोर दिया जाता था :

> यूरोप में गर्मी सुख का सूचक मानी जाती है। 'वार्म रिसेप्शन' मुहावरे में यह बात साफ देखी जा सकती है। जलवायु ठंडा होने के कारण यूरोपीय लोग थोड़ी सी गर्मी मिलने से खुश हो जाते हैं। लेकिन दूसरी ओर, उष्ण कटिबंध में रहने के कारण हमें ठंड अच्छी लगती है। अगर यूरोप में शरीर को गर्मी पहुंचाने वाली कोई दवा दी जाती है तो उसे बहुत तेज होना चाहिए। यूरोपीयों के शरीर को रास आने के लिए तैयार की गई उनकी औषधियां हमारे लिए जरूरत से ज्यादा गरम हैं। उष्ण कटिबंधीय देशों में रहने वालों को औषधियों की एक महत्वपूर्ण खूबी शरीर को शीतलता प्रदान करने की उनकी क्षमता है। इसलिए बहुत से जानकार हिमालयी क्षेत्र में पाई जाने वाली जड़ियों को विंध्य क्षेत्र में उपलब्ध जड़ियों से अधिक प्रभावकारी मानते हैं। भारत में यह आम खयाल है कि अंग्रेजी दवाओं से अस्थायी राहत मिलती है। लेकिन यूरोपीय लोग अपनी पद्धति में यह दोष नहीं देखते। ऐसा इसलिए है कि उनकी दवाएं उनके रोगों के लिए उपयुक्त हैं लेकिन हमारे शरीर की अवस्थाओं के लिए वे माकूल नहीं हैं।[7]

उपर्युक्त दलील में बहुत से दोष देखे जा सकते हैं, लेकिन उसमें जोरदार तरीके से इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि पाश्चात्य तथा देशी पद्धतियां अलग-अलग परिवेशों तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं में उद्भूत और विकसित हुईं। इन भेदों के रहते पाश्चात्य आयुर्विज्ञान भारतीयों के शरीर और मस्तिष्क के लिए उपयुक्त था या नहीं, यह बुनियादी प्रश्न था। इस संदर्भ में देशी पद्धति के देशीपन को उस पद्धति की खूबी के तौर पर देखा गया; वह 'देश के निवासियों की प्रकृति के अनुरूप' थी।[8] वह उनकी संस्कृति का अंग थी, उनकी जीवन-पद्धति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी और इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा की एक संस्कृति-उन्मुख अवधारणा के अनुरूप थी।

ज्ञान का प्रचार

हालांकि देशी आयुर्विज्ञान के हिमायतियों के भाषण और लेख अकसर आत्म-प्रशंसापूर्ण होते थे लेकिन आर्य वैद्य समाजम की कार्यवाहियां आत्मालोचनपूर्ण और कार्य-योजना तैयार करने की ओर उन्मुख भी होती थीं। एक बड़ा सरोकार ज्ञान की समकालीन अवस्था

थी, जिसके दो पहलुओं की ओर अविलंब ध्यान देना आवश्यक माना गया। पहला था गतिहीनता और ज्ञान का ह्रास, और दूसरा वैद्यों में ज्ञान का अभाव था।

ज्ञान के ह्रास का कारण पोथियों की अनुपलब्धता और व्यवहार में उनके प्रयोग का अभाव दोनों थे। चरक, सुश्रुत और वागभट के प्रारंभिक ग्रंथों के काल से या तो मूल रचनाओं या टीकाओं के रूप में काफी साहित्य का सृजन हुआ था। उनमें से चंद ग्रंथों, जैसे माधवाचार्य कृत *माधवनिधानम्* और मोरेश्वर भट्ट कृत *वैद्यमृतम्* का ही उपयोग हो रहा था। बहुत सारे ग्रंथों, खास तौर से क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे ग्रंथों के अस्तित्व का पता सक्रिय वैद्यों तक को नहीं था। परवर्ती दौर के क्षेत्रीय भाषाओं के ग्रंथों का तिरोहित होना और भी हानिकर था, क्योंकि कठिन रोगों के उपचार में नए प्रयोगों को उन्हीं में लिपिबद्ध किया गया था। अनुभव पर आधारित नए प्रयोग का महत्व बहुत अधिक था, क्योंकि मूल ग्रंथों में औषधियां तैयार करने की सामग्री का निर्देश नहीं किया गया था, जिसका कारण यह था कि इस काम में बहुत सी बातों पर विचार रखना पड़ता था। नए प्रयोगों का अभाव नहीं था। विभिन्न रोगों के उपचार के लिए *अष्टवैद्यनों* द्वारा प्रयुक्त अरूढ़ और नए उपायों को बाजाब्ता दर्ज किया गया है।[59]

परवर्ती ग्रंथों की अनुपलब्धता इसलिए और भी दुर्भाग्यपूर्ण थी कि उनमें औषधि विज्ञान में की गई अभिवृद्धियों के संबंध में जानकारी दर्ज थी। लगभग प्रत्येक ग्रंथ में मौजूदा औषधिशास्त्र में कुछ न कुछ योगदान किया गया था, जिसका प्रमाण मदनपाल, तोहरि, शोदालन, मोरेश्वर भट्ट आदि की कृतियां हैं।[60] ये इजाफे या तो बाहरी प्रभावों के कारण हुए थे या नई चुनौतियों का सामना करने की आवश्यकताओं के कारण। इस प्रकार इस धारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता महसूस की गई कि देशी पद्धति की गतिशून्यता का कारण वैद्यों की लीक से हटकर चलने की असमर्थता थी या अनिच्छा।

पुनरुज्जीवन आंदोलन की एक सकारात्मक विशेषता खोए ज्ञान को खोज निकालना और पुराने पाठों को व्यवस्थित रीति से संकलित करके प्रकाशित करना था। परिणामों की दृष्टि से देखें तो यह धारणा बहुत गलत नहीं थी कि ऐसी पोथियां और टीकाएं मौजूद हैं जो आसानी से उपलब्ध नहीं हैं या जिनका उपयोग नहीं किया जा रहा है। महाराष्ट्र में इस आंदोलन के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत शंकर शास्त्री पांडे ने 702 मूल पाठों और टीकाओं की एक सूची तैयार की और लगभग 70 पुस्तकें प्रकाशित कीं।[61] मद्रास प्रेसिडेंसी में देशी आयुर्विज्ञान पर गठित उस्मान समिति ने 288 संस्कृत, 400 तेलुगु, 63 मलयालम और कई सौ सिद्ध पाठों तथा टीकाओं की सूची तैयार की। इनमें से सब के सब विभिन्न स्थानों में उपलब्ध थे। उसने 49 ऐसे पाठों की भी पहचान की जो कहीं भी मिल नहीं पाए।[62]

क्लासिकी तथा परवर्ती पाठों में उपलब्ध ज्ञान के प्रचार को पुनरुज्जीवन के कार्य

का अत्यावश्यक अंग माना गया। देशी आयुर्विज्ञान के हिमायतियों ने औपनिवेशिक काल में विकसित छपाई तंत्र की सहायता से अब तक कमोबेश अनुपलब्ध ज्ञान को सामाजिक ज्ञान का रूप देने तथा वैद्यों के बीच प्रचलित आम ज्ञान की शक्ल में बदलने की कोशिश की। इसलिए देश के विभिन्न हिस्सों में पाठों और टीकाओं दोनों के प्रकाशन का काम बड़े पैमाने पर आरंभ किया गया। उन्नीसवीं सदी का अत होते-होते विभिन्न भारतीय भाषाओं में 50 आयुर्विज्ञान पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं।[63] बंगला में गंगाप्रसाद सेन द्वारा संपादित *संजीवनी*, मराठी मे शंकर शास्त्री पाड़े द्वारा संपादित *राजवैद्य, आर्य भिषक* और *सद्वैद्य कौस्तुभ* तथा मलयालम में पी.एस. वारियर द्वारा संपादित *धन्वंतरी* इनके कुछ उदाहरण हैं।[64]

मौजूदा ज्ञान को संहिताबद्ध और प्रचारित करने की ओर वारियर ने विशेष ध्यान दिया। उनके प्रारंभिक प्रयत्नों में से एक था औषधियों की सूची तैयार करना। इस सूची में औषधियों के परिमाणों के साथ ही ऐसी अन्य जानकारी भी दी गई थी जिसके आधार पर रोगी वैद्य के नुस्खे के बिना ही दवाओं का उपयोग कर सकता था। उन्होंने *चिकित्सा संग्रहम्* नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसमें पाठकों को आयुर्वेदिक औषधियों तथा उपचार से परिचित कराने का प्रयत्न किया गया था। हैजे पर लिखी एक पुस्तक, *अष्टांग हृदयम्* का मलयालम अनुवाद, तथा अपने चचेरे भाई पी.वी. वारियर के साथ मिलकर लिखा गया आयुर्वेद का इतिहास पी.एस. वारियर द्वारा प्रणीत अन्य कृतियां थीं।[65] इन कृतियों के फलस्वरूप मलयालम में ऐसे साहित्य का अच्छा भंडार तैयार हो गया जो वैद्यों और आम लोगों को आसानी से उपलब्ध था, और इस प्रकार आयुर्वेद के उपयोग तथा महत्व के बारे में सामाजिक जागरूकता आई।

कोट्टाक्कल से पी.एस. वारियर द्वारा प्रकाशित पाक्षिक *धन्वंतरी* ने इस संबंध में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1902 में प्रथमतः प्रकाशित यह पत्रिका केरल में पुनरुज्जीवन आंदोलन का मुखपत्र थी और इसमें उस आंदोलन की अधिकांश प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति मिली। इसने बहस और चर्चा के लिए एक खुला मंच प्रस्तुत किया। सुधार प्रयत्नों पर लिखे कुछ आलोचनात्मक आलेखों से यह बात स्पष्ट है।[66] पी.एस. वारियर इस पत्रिका में नियमपूर्वक लिखा करते थे और उनमें से कुछ आलेखों में इस बात पर जोर दिया गया था कि समुचित स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भारतीयों को कौन से उपाय सुलभ हैं, जिनमें से उन्हें चुनाव करना है। उन्होंने 'पाश्चात्य और पौर्वात्य आयुर्विज्ञान' शीर्षक से कई लेख लिखे, जिनमें दोनों पद्धतियों की खूबियों और खामियों का सम्यक निरूपण किया गया। पाश्चात्य आयुर्विज्ञान द्वारा की गई प्रगति को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि हमें उसके कुछ उपयुक्त विचारों और तौर-तरीकों को सोच-समझकर अपनाना चाहिए। उन्होंने आयुर्वेद की अतीत की उपलब्धियों और साथ ही उसके दैवी मूल पर जोर दिया, लेकिन इसके साथ ही उसमें बदलाव लाने की आवश्यकता पर भी बल दिया। दोनों

पद्धतियों की तुलना करके उन्होंने जिस बात पर जोर दिया वह यह थी कि भारतीयों के शरीर को जिन जलवायुगत स्थितियों में जीवित रहना पड़ता है उनमें उनकी स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आयुर्वेद अधिक उपयुक्त और संभावनापूर्ण है।[7] यह आलेख उस रास्ते का सूचक था जिस पर वे पुनरुज्जीवन आंदोलन को ले जाना चाहते थे।

पाठशाला

ज्ञान के उद्धार का कोई मतलब तभी था जब उस समय के वैद्य उसे आत्मसात करते और अपने पेशे में उसका उपयोग करते। उनमें से अधिकांश को ऐसा करने के लिए न तो उपयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त था और न उनमें उतनी बौद्धिक क्षमता थी। अपने अनेक समकालीनों की तरह पी एस वारियर ने इस स्थिति को सुधारने की आकुल आवश्यकता का अनुभव किया। इसका उपाय यह था कि इस विद्या में निपुण वैद्यों का एक समूह तैयार करने के लिए आवश्यक बुनियादी ढांचा खड़ा किया जाए। इस मामले में औपनिवेशिक राज्य की उदासीनता को देखते हुए आंतरिक संसाधनों को लामबंद करना बहुत महत्वपूर्ण था :

> आज केरल में बहुत थोड़े से जानकार और अनुभवी वैद्य हैं। यदि कुछ हैं भी तो उन्हें स्वयं प्रशिक्षण प्राप्त करने और अन्य शिष्यों को शिक्षा देने की सुविधाएं सुलभ नहीं हैं। ऐसा मानने का पर्याप्त कारण मौजूद है कि एक पीढ़ी बाद आयुर्वेद की स्थिति इतनी नाजुक हो जाएगी कि उसे संभालने की कोई भी कोशिश बेकार होगी। इसलिए आम राय यह है कि प्रशिक्षण देने का प्रबंध यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र किया जाए।[8]

यह विचार वारियर ने आर्य वैद्य समाजम की प्रत्येक सभा में बार-बार व्यक्त किया। हालांकि इसका उत्साहपूर्ण अनुमोदन और समर्थन किया गया लेकिन उन्हें ऐसा प्रयास आरंभ करने के लिए मानव और सामग्री दोनों प्रकार के संसाधनों की सीमाओं का एहसास था। इसलिए एक *पाठशाला* स्थापित करने का प्रस्ताव लगभग पंद्रह वर्षों तक विचार के स्तर पर ही पड़ा रहा। इस बीच पहले से ही वैद्यकी के पेशे में लगे लोगों की सार्वजनिक परीक्षा की व्यवस्था विकसित करके योग्यता-प्राप्त वैद्यों का एक समूह तैयार करने के लिए उन्होंने कुछ पहलकदमी की। इस योजना के अधीन समाजम ने केरल के तीन शहरों में परीक्षा की व्यवस्था की। जिन 315 लोगों ने परीक्षा दी उनमें से केवल 17 उत्तीर्ण हो सके, यह बात वैद्यों की मौजूदा ज्ञान और प्रशिक्षण की अवस्था की द्योतक थी। दिलचस्प बात है कि जो लोग परीक्षा में शामिल हुए उनमें से अधिकांश निम्न जातियों के थे; और उनके अलावा कुछ ईसाई भी थे।[9]

शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए संस्थागत व्यवस्था आखिरकार 1917 में कालिकट

में एक *पाठशाला* की स्थापना के साथ की जा सकी। वह व्यवस्थित शिक्षण और सुपरिभाषित पाठ्यक्रम के माध्यम से देशी चिकित्सा के धंधे को पेशेवर रूप देने का एक महत्त्वपूर्ण कदम था। जैसा कि *पाठशाला* की विवरण-पत्रिका से स्पष्ट है, उसकी कल्पना पुनरुज्जीवन आंदोलन की धुरी के रूप में की गई थी। विवरण-पत्रिका में बताया गया था कि 'किसी समय फूलते-फलते और आज ह्रासोन्मुख आयुर्वेद' को फिर से जीवित करना, उसमें समयानुसार परिवर्तन लाना, वैद्यों को भरपूर ज्ञान और अनुभव प्रदान करके इस तरह प्रशिक्षित करना कि वे 'अन्य लोगों की' सहायता 'के बिना' वैद्यकी कर सकें और अंग्रेजी हुकूमत को देशी पद्धति की खूबियों से वाकिफ कराना *पाठशाला* के लक्ष्य हैं।[70]

पाठशाला ने पंचवर्षीय शिक्षण-क्रम अपनाया, जिसमें आरंभ में संस्कृत को और बाद में मलयालम तथा संस्कृत दोनों को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। पाठशाला की पाठ्यचर्या देशी और पाश्चात्य ज्ञान के संयोग पर आधारित थी। जोर वस्तुतः आयुर्वेदिक ग्रंथों पर अधिकार प्राप्त करने और उसके माध्यम से औषधियों और उनके बनाने का ज्ञान हासिल करने पर था। इसके साथ ही पाश्चात्य पद्धति से ग्रहण किए गए शरीर-विज्ञान, शरीर-रचनाशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्रसूति-विद्या और शल्य क्रिया की शिक्षा को भी स्थान दिया गया।[71]

संस्कृत का ज्ञान दाखिले की पूर्व शर्त था और जिन्हें अंग्रेजी का भी ज्ञान था उन्हें प्राथमिकता दी जाती थी। दाखिले में जाति या लिंग का कोई बंधन नहीं था। शिक्षा निःशुल्क थी लेकिन पांच रुपए का प्रवेश-शुल्क लिया जाता था। आरंभ में पांच छात्रवृत्तियां थीं—आठ रुपए प्रति मास की दर से लड़कों के लिए और दस रुपए माहवारी की दर से लड़कियों के लिए।[72] बाद में छात्रवृत्तियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई—इतनी कि अधिसंख्य छात्र-छात्राओं को अध्ययन के लिए आर्थिक सहायता मिलने लगी।[73]

पाठशाला की विवरण-पत्रिका के प्रकाशन और प्रस्तावित पाठ्यचर्या से पुनरुज्जीवन आंदोलन के मार्ग और स्वरूप के संबंध में कुछ चिंतन की प्रेरणा मिली।[74] *पाठशाला* की पाठ्यचर्या में इस विषय में एक निश्चित राय व्यक्त की गई थी। इस राय को वारियर ने अपने कई लेखों में बार-बार जाहिर किया था। उन्होंने आयुर्वेद को भारतीय स्थितियों के लिए एक आदर्श पद्धति के रूप में तो प्राथमिकता दी, लेकिन वे उसके अन्य पद्धतियों से अलग-थलग रहने के पक्ष में नहीं थे। वे मानते थे कि पाश्चात्य तथा भारतीय पद्धतियों को एक-दूसरे के साथ लाना चाहिए, ताकि भारतीय पद्धति अंतर्क्रिया से लाभ उठा सके। बहरहाल कार्यक्रमोन्मुख होने के बावजूद इस अंतर्क्रिया के संबंध में वारियर की अवधारणा सतही और अपर्याप्त थी। अपने बहुत से समकालीनों की तरह वारियर का भी रुझान देशी और यूरोपीय पद्धतियों के बीच संवाद की स्थिति उत्पन्न करने की अपेक्षा

पश्चिम से उधार लेने की ओर था। यूरोप की प्रगति को देखते हुए औपनिवेशिक काल के भारतीयों की मानसिक प्रवृत्ति उसके श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण करके उसके आचार-विचारों को अपने बौद्धिक-सांस्कृतिक संसार में पिरोने की थी। *पाठशाला* की पाठ्यचर्या, जिसमें अंतिम वर्ष के पाठ्यक्रम में पाश्चात्य आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान के कुछ तत्वों को स्थान दिया गया था, इस दोष का एक अच्छा उदाहरण है। जो कुछ उधार लिया गया वह पाठ्यक्रम में समाहृत नहीं हो पाया और उसका अलग और अजीबोगरीब अस्तित्व बना रहा।

पाठशाला की स्थापना के बाद जो चर्चाएं और बहसें हुईं उनमें दो विचार स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आए। पहले का प्रतिनिधित्व शुद्धतावादी लोग करते थे, जो वारियर के परंपरा से हटने के प्रयत्नों से प्रबल रूप से क्षुब्ध थे। दूसरे विचार में पाश्चात्य ज्ञान पर अधिक भरोसा दिखलाया गया था—विशेष रूप से शरीर-रचना शास्त्र और शरीर-विज्ञान के संबंध में।[5] वारियर इन दो में से किसी विचार से सहमत नहीं थे, क्योंकि उन्हें न तो परंपरा में अंध श्रद्धा पसंद थी और न पाश्चात्य ज्ञान की आलोचना-रहित स्वीकृति। *पाठशाला* की पाठ्यचर्या ऐसा एक क्षेत्र था जिसमें उन्होंने पाश्चात्य और देशी दोनों प्रकार के ज्ञान को एक साथ लाने का प्रयत्न किया।[6] इसलिए *पाठशाला* की स्थापना केरल के बौद्धिक-सांस्कृतिक जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि वह परंपरा में दृढ़ता से पैर जमाए परिप्रेक्ष्य से आगे बढ़कर पाश्चात्य ज्ञान को ग्रहण करने का एक अग्रगामी संस्थागत प्रयत्न थी।

औषधियों की बिक्री

पी.एस. वारियर ने संस्था-निर्माण का सबसे सफल प्रयास औषधियों के निर्माण और विक्रय के क्षेत्र में किया। वारियर ने महसूस किया कि आयुर्वेद तभी प्रभावकारी और लोकप्रिय हो सकता है जब उसकी औषधियों का मानकीकरण हो जाए और उन्हें चिकित्सा ग्रंथों में निर्दिष्ट नुस्खों के अनुसार बनाया जाए। यह तभी संभव था जब वैद्य लोग पहलकदमी करते और साथ मिलकर औषधियों के निर्माण और बिक्री के लिए कंपनियों की स्थापना करते। उन्हें लगा कि इस मामले में पाश्चात्य आयुर्विज्ञान का रिवाज अनुकरणीय है। पाश्चात्य औषधियों की लोकप्रियता तथा प्रभावकारिता बहुत हद तक, डॉक्टरों के नुस्खों के मुताबिक, उनकी सहज सुलभता पर निर्भर थी। देशी औषधियां पाश्चात्य औषधियों के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबला तभी कर सकती थीं जब उनके लिए उसी प्रकार का बुनियादी ढांचा विकसित हो जाता। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने 1902 में कोट्टायक्कल में आर्य वैद्यशाला की स्थापना की। उस अवसर पर जो विज्ञापन प्रकाशित किया गया वह एक दिलचस्प दस्तावेज है, जिसमें वारियर की व्यावसायिक कुशलता, नवाचार की योग्यता और समकालीन आवश्यकताओं के अनुसार

अपने को बदलने की इच्छा बहुत अच्छी तरह प्रतिबिंबित हुई है। पुराने पूर्वग्रहो का त्याग करके पाश्चात्य उदाहरण का अनुकरण करने में उन्हें कोई झिझक नहीं हुई। इस प्रकार उन्होने आधुनिक और वैज्ञानिक पद्धतियों से औषधियों के निर्माण की प्रणाली को क्रियाशील कर दिया और व्यावसायिक आधार पर उनकी बिक्री का सिलसिला आरंभ करवा दिया।[77]

सच तो यह है कि बड़े पैमाने पर देशी औषधियों के निर्माण और बिक्री का कार्य आरभ करने वाले वे प्रथम व्यक्ति नहीं थे। चंद्रकिशोर सेन ने सस्ते दामों पर औषधिया बेचने के लिए कलकत्ता में 1878 में एक औषधालय खोला था। उनकी फर्म सी.के. सेन एंड कपनी ने 1898 में बड़े पैमाने पर औषधियों का निर्माण आरभ किया। ऐसा ही 1884 में एन.एन. सेन एंड कंपनी और 1901 में ढाका के शक्ति औषधालय ने भी किया।[78] परतु *कापायम* नामक एक औषधीय आसव को, जिसे चंद दिनों से ज्यादा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता था, बोतलबद करने का नया प्रयोग वारियर से पहले किसी ने नहीं किया था।

आरभ में आर्य वैद्यशाला की औषधियों की बिक्री मामूली ही हुई। पहले चार वर्षों के दौर में बिक्री केवल 14,000 रुपए तक पहुंची, लेकिन अगले चार-चार साल में वह बढ़कर क्रमशः 57,000 रुपए, 1,23,000 रुपए और 1,70,000 रुपए पर पहुंच गई।[79] इस प्रकार यह प्रयास बहुत सफल सिद्ध हुआ। आज आर्य वैद्यशाला एक फूलती-फलती संस्था है। केरल के प्रत्येक शहर में उसके एकाधिक विक्रय केंद्र हैं और बाहर के भी कुछ नगरों में उसके केंद्र हैं। वारियर की पहलकदमी का अनुसरण करते हुए कई अन्य लोगों ने भी वैद्यशालाएं स्थापित कीं और वे औषधियां बेचने लगे। आज केरली समाज में आयुर्वेद को जो सामाजिक स्वीकार्यता और व्याप्ति प्राप्त है उसका श्रेय मुख्य रूप से पी एस. वारियर के सपने को जाता है।

सांस्कृतिक नवजागरण और आयुर्विज्ञान

केरल में पुनरुज्जीवन आंदोलन सांस्कृतिक जागरण के संदर्भ में आरंभ हुआ, और कोट्टाक्कल इस जागरण का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। केरल की राजनीतिक एकता तथा सांस्कृतिक पहचान के माध्यम से उसके राजनीतिक एव सांस्कृतिक व्यक्तित्व को साकार करने का प्रयत्न इस जागरण का अभिन्न अग था। तत्कालीन राजनीतिक खंडों के बावजूद केरल की कल्पना एक प्रादेशिक हस्ती के रूप में की जाती थी, जो गोकर्णम से लेकर कन्याकुमारी तक फैली हुई थी। इतिहासलेखन मे, जिसमें लगता है उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध मे बहुत तेजी आ गई थी, इस एकता को रेखांकित करते हुए केरल के उद्भव को गाथा परशुराम से जोड़ दी गई। इस गाथा के अनुसार इस प्रदेश का निर्माण समुद्र को पाट कर किया गया और वह ब्राह्मणों को दान कर दिया गया। इस काल में लिखी

ऐसी बहुत सी इतिहास-पुस्तकों में से, कोडुंगल्लूर कुंहिकुट्टन तंपूरण द्वारा, जो *महाभारत* के अनुवाद के लिए विख्यात हैं, पद्य रूप में रचित इतिहास विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। तंपूरण ने इस क्षेत्र के उद्‌भव, प्राचीनता और ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा तैयार की।[80] इस प्रदेश के उनके वर्णन में राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान वल्लतोल नारायण मेनन द्वारा केरल देश की रूमानी प्रशस्ति का पूर्वाभास मिलता है। तंपूरण और वल्लतोल के बीच के काल में इतिहास, राजनीति और संस्कृति के क्षेत्रों में, बल्कि वस्तुतः तो सामाजिक प्रयास के सभी क्षेत्रों में केरल की अस्मिता के संबंध में जागरूकता का विकास हुआ। इसी काल में ओ. चंदू मेनन और सी.वी. रामन पिल्लै के सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व के उपन्यास प्रकाशित हुए, नारायण गुरु और भट्टतिरीपाद ने सुधार आंदोलन आरंभ किए और जी. परमेश्वर पिल्लै तथा उनके साथियों ने मलयाली स्मरणपत्र पेश किया। ये सभी घटनाएं उस सामाजिक नवजागरण की अभिव्यक्तियां थीं जिसकी जड़ें केरल में बदलती स्थिति के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक बोध में समाई हुई थीं।

कोट्टाक्कल के आंदोलन के इर्द-गिर्द अनेक बौद्धिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियां आरंभ हुईं। एक इतिहास समिति, एक साहित्यिक पत्रिका, एक कथाकली नृत्यमंडली तथा एक नाटक कंपनी इसके चंद उदाहरण हैं। आर्य वैद्यशाला वह नाभिकेंद्र था जिसके इर्द-गिर्द ये गतिविधियां परवान चढ़ीं और पी.एस. वारियर उन सबके प्रेरणादायक थे, सो केवल एक संरक्षक के रूप में नहीं बल्कि सक्रिय हिस्सेदार के रूप में भी।[81] इस प्रकार, आर्य वैद्यशाला का कार्य एक बहुआयामी सांस्कृतिक प्रयास बन गया। कोट्टाक्कल के एक अप्रतिम वैद्य और *आयुर्वेदचरितम्* के लेखक एन.वी. कृष्णन् कुट्टी वारियर के शब्दों में उसने एक सांस्कृतिक नवजागरण का रूप ग्रहण कर लिया।[82]

देशी आयुर्विज्ञान से संबंधित मौजूदा साहित्य में मुख्य रूप से तीन मसलों पर ध्यान दिया गया है—पुनरुत्थानवाद, पेशेवरीकरण और अभिजनत्व। देशी पद्धतियों के अंदर चलने वाले आंदोलन, बल्कि वस्तुतः तो औपनिवेशिक भारत के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जीवन से संबंधित सभी क्षेत्रों में चलने वाले आंदोलन का स्वरूप तत्वतः पुनरुत्थानवादी था, यह एक ऐसा आम विचार है जिसे बिना सोच-विचार के स्वीकार कर लिया गया है। जहां तक आयुर्विज्ञान का संबंध है, उक्त विचार के सबसे मुखर समर्थक चार्ल्स लेस्ली का कहना है कि चूंकि देशी आयुर्विज्ञान के हिमायती 'क्लासिकी ग्रंथों के प्रमाण में अक्षरशः विश्वास करते थे और साथ ही आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों से बहुत प्रभावित थे, इसलिए वे यह साबित करने में जुट गए कि यूरोपीय आयुर्विज्ञान की संस्थाओं और वैज्ञानिक सिद्धांतों का पूर्व रूप प्राचीन ग्रंथों में प्रकट हो चुका था।'[83] अपने विश्लेषण में लेस्ली व्याख्यानर से यह कह रहे हैं कि ह्रास के कारणों की छानबीन का उद्देश्य एक ऐसा सिद्धांत तैयार करना था जिससे पुनरुत्थान

का औचित्य सिद्ध हो। वे 'हास के पुनरुत्थानवादी सिद्धांत' को इसलिए खारिज कर देते हैं कि इस मान्यता का समर्थन करने वाला कोई साक्ष्य नहीं है कि उन्नीसवीं सदी में आयुर्वेदिक चिकित्सा का सामान्य स्तर पुराकाल के स्तर से कम कारगर था।[84]

एक अन्य दृष्टिकोण, जो लोकप्रिय और प्रभावशाली भी था, पुनरुज्जीवन आंदोलन के पेशेवरीकरण की ओर उन्मुख होने से संबंधित है। इस आंदोलन के जो मुख्य सरोकार थे, जैसे ज्ञान को व्यवस्थित रूप देना, प्रशिक्षण को संस्थागत रूप देना और औषधियों का मानकीकरण करना, उन्हें देखते हुए पेशेवरीकरण तो उसमें सहज समाहित था। फलतः इस आंदोलन को आधुनिक (अर्थात पाश्चात्य) आयुर्वैज्ञानिक व्यवहार के प्रभाव के अधीन चल रहे पेशेवरीकरण का पर्याय मान लिया गया। इस दृष्टिकोण के एक हिमायती थे पाल ब्रास, जिन्होंने इस आंदोलन को—'आधुनिक भारतीय इतिहास के इस प्रमुख पुनरुत्थानवादी आंदोलन' को—'एक परंपरावादी हित-समूह का अपने-आपको वैधता प्रदान करने और मान-सम्मान प्राप्त करने का प्रयत्न' कहा।[85] उनकी दृष्टि में इस आंदोलन का उद्देश्य सीमित था—आयुर्वेद के समर्थन में राजनीतिक दबाव के एक औजार के रूप में काम करना और 'दृढ़ता से अपना पैर जमाए तथा विरोधपूर्ण रुख रखने वाले' आधुनिक आयुर्वैज्ञानिक पेशे के प्रभाव का प्रतिकार करना। लगता है कि इस दलील में एक खास सामाजिक समूह के हितों पर विशेष जोर दिया जा रहा है और इस प्रकार देशी ज्ञान के एक समूह तथा एक पराधीन जाति की सांस्कृतिक पहचान के एक पहलू के रूप में इस पद्धति में नवजीवन का संचार करने के प्रयत्न के रूप में इसके महत्व की उपेक्षा की जा रही है।

इस आंदोलन से संबंधित एक अन्य दृष्टिकोण में इसके अभिजनवादी स्वरूप को रेखांकित किया गया है, क्योंकि उनमें 'उन लोकप्रिय रीति-व्यवहारों को स्थानच्युत करने' का प्रयत्न किया गया 'जिन्हें वैज्ञानिक पद्धति से बाहर करार दिया गया।'[86] इस मुद्दे का पल्लवन करते हुए हकीम अजमल खां पर किए गए एक अध्ययन में बारबरा मेटकाफ कहती हैं :

> बौद्धिक तुल्यता की सृष्टि करने की तकनीक सभी विषयों के संदर्भ में कई तरह से एक ही थी, अर्थात प्रथागत या स्थानीय आचार-व्यवहार के बदले साक्षर संस्कृति के ग्रंथों की ओर लौट चलना। इस प्रकार, सुधारकों के शत्रु, अव्यवस्थित लोक चिकित्सा के धंधे में लगे लोग होते थे—अकसर दाइयां और अन्य स्त्रियां तथा अप्रशिक्षित यूनानी हकीम। धार्मिक शिक्षा की तरह यह भी धर्मग्रंथात्मक सुधार ही था, लेकिन यहां सुधारक शरीअती मानस वाले लोग नहीं बल्कि खुले दिमाग वाले लोग थे।[87]

देशी आयुर्विज्ञान के अंदर चलने वाले आंदोलन में दरअसल उपर्युक्त तीनों विशेषताओं

के तत्व थे, फिर भी न तो उनमें से कोई एक और न तीनों मिलकर ही इस आदोलन के स्वरूप को प्रतिबिंबित करते हैं। औपनिवेशिक भारत में सामाजिक, सास्कृतिक या धार्मिक क्षेत्र से सबधित कोई भी आदोलन उसमे सहज समाहित पुनरुत्थान के तत्व से रहित नहीं था। लेकिन ये केवल पुनरुत्थानवादी आदोलन ही नहीं थे, जिसमे वर्तमान के विकल्प के रूप में अतीत को अवतरित करने का प्रयत्न किया गया हो। इन तमाम प्रयासों में अतीत वस्तुत. एक प्रस्थान-बिंदु था। हाल की एक कृति में यह दरशाने की कोशिश की गई है कि अतीत का आवाहन परंपरा के लिए चिंता का द्योतक था,[68] किंतु वस्तुत यह जितना परपरा के लिए चिंता का द्योतक था उससे कहीं अधिक समकालीन स्थितियों का मुकाबला करने का एक उपाय था।

देशी आयुर्विज्ञान के मामले मे भी भूस्वामी अभिजात वर्ग द्वारा समर्थित एक पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति स्पष्ट थी। आर्य वैद्य समाजम से सबधित एक रिपोर्ट में बताया गया कि उसकी सभाओं में किसी न किसी अवसर पर लगभग सभी राजा, जमींदार और वैद्य शामिल हुए।[69] जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समाजम के सरक्षक त्रावणकोर और कोचिन के गद्दीनशीं महाराजा तथा कालिकट का पूर्व शासक था। मलाबार के पूर्व शासक परिवार के सदस्य समाज की गतिविधियों में उत्साहपूर्वक शरीक होते थे। आंदोलन को वित्तीय सहायता भी उन्हीं स्रोतों से प्राप्त होती थी।[70] अंग्रेजों के प्रति राजनीतिक दृष्टि से वफादार होते हुए भी इस वर्ग के लोग औपनिवेशिक सांस्कृतिक पद्धति के आलोचक थे। इस मामले में उनका रवैया बुद्धिजीवी वर्ग से, जो औपनिवेशिक प्रभुत्व को तो नापसद करते थे और उसका विरोध करते थे लेकिन औपनिवेशिक सस्कृति को अस्वीकार नहीं करते थे, ठीक उलटा था। अभिजात वर्ग के लोगों को यह आदोलन इसलिए पसद आया कि इसमे उस पारंपरिक समाज के रीति-रिवाजों को फिर से जीवित करने की सभावना थी जिसमें उन्होने राजनीतिक और सामाजिक सत्ता का उपभोग किया था। इसलिए उसके प्रति उनका रुख अतीत-मोह से ग्रस्त और पुनरुत्थानवादी था, और इसके विपरीत पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के प्रति उनका रवैया शत्रुतापूर्ण और प्रतिरोध की भावना से भरा हुआ था। इस तरह के दृष्टिकोण का यह आदोलन पूर्ण समर्थन नहीं करता था, लेकिन उसने उस दृष्टिकोण को खारिज भी नहीं किया। उसने जो किया वह यह कि इस दृष्टिकोण से परे जाकर देशी पद्धति को आधुनिक बनाने की कोशिश की, जिसके लिए उसने उसका तालमेल पाश्चात्य आयुर्विज्ञान से बैठाने का रास्ता अपनाया।

पुनरुज्जीवन आदोलन मुख्य रूप से साक्षर परपरा के अंतर्गत काम करता था और उसका सामाजिक ससार साक्षर समूहो, अर्थात जो सस्कृत और अंग्रेजी जानते थे उन लोगो के समूहों तक सीमित था। इस आदोलन ने उन काफी सारे लोकप्रिय चिकित्सकों को हाशिए पर डाल दिया जो साक्षर नहीं थे और जिन्हे आयुर्वेदिक ग्रंथों का ज्ञान नहीं

था। सच तो यह है कि आंदोलन के नेताओं ने उन चिकित्सकों के अज्ञान और अकुशलता की कड़ी आलोचना की और आंदोलन का एक उद्देश्य उनके स्थान पर जानकार चिकित्सकों का एक समूह तैयार करना था। खास तौर से इस समूह पर पेशेवरीकरण का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से अप्रशिक्षित और अयोग्य माना गया। लेकिन जैसा कि बारबरा मेटकाफ कहती हैं, यह आंदोलन उन्हें शत्रुओं के रूप में नहीं देखता था, बल्कि सुधार के पात्र मानता था, हालांकि वे लोग सुधार के शिकार बन गए।

अनेक स्वर

औपनिवेशिक भारत संबंधी इतिहासलेखन में अकसर उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के बीच एक सीधा सा विरोध देखा जाता है। फलत. इस काल की ऐतिहासिक प्रक्रिया को उपनिवेशवाद-विरोधी चेतना के एकरेखीय विकास के संकुचित रूप में प्रस्तुत किया जाता है, और उसके अंतर्विरोधों और विभेदों को नजरअंदाज कर दिया जाता है। यदि पुनरुज्जीवन आंदोलन को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान के विरोध की स्पष्ट प्रवृत्ति से युक्त यह आंदोलन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसा प्रतीत होगा, जो औपनिवेशिक सांस्कृतिक वर्चस्व का प्रतिरोध कर रहा था। लेकिन इस आंदोलन के अनेक स्वर थे। औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान द्वारा सृजित सांस्कृतिक परिवलय का विरोध करते हुए भी यह आंदोलन पाश्चात्य ज्ञान के उन तत्वों को अपनाने के खिलाफ नहीं था जो श्रेष्ठ माने जाते थे लेकिन जो देशी पद्धति में विकसित नहीं हो पाए थे। इस आंदोलन ने जिस एक आरोप का खंडन करने का प्रयास किया वह था देशी आयुर्विज्ञान के अवैज्ञानिक स्वरूप का आरोप, लेकिन दूसरी ओर उसने लोकप्रिय चिकित्सा के खिलाफ वही आरोप लगाया और उन चिकित्सकों को आयुर्वेदिक ग्रंथों के निर्देशों का पालन करने के लिए राजी करने का प्रयास किया।

देशी आयुर्विज्ञान में नवजीवन का संचार करने के प्रयत्न में न केवल उपनिवेशियों और उपनिवेशीकृत समाज के बीच बल्कि स्वयं उस समाज के अंदर के विभिन्न वर्गों के बीच भी सांस्कृतिक वर्चस्व के लिए बहुआयामी संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 लेकिन एडवर्ड शिल्स जैसे विद्वानों की यह राय सही नहीं है कि औपनिवेशिक भारत में सब के सब बौद्धिक जन पश्चिमी प्रभाव की देन थे इस मुद्दे के पल्लवन के लिए देखिए पीछे तीसरा अध्याय.

2. ए.एल. बैशम, 'प्रैक्टिस आफ मेडिसिन इन एनशिएंट एंड मेडिवियल इंडिया', चार्ल्स लेस्ली (स.), *एशियन मेडिकल सिस्टम : ए कंपैरेटिव स्टडी*, बर्कले, 1976, पृ. 40.

3 ए. अब्दुल हमीद, *फिजिशियन-आथर्स आफ ग्रीको-अरब मेडिसिन इन इंडिया*, नई दिल्ली, तिथि-

रहित, पृ 17 बाहवा खान के फारसी पाठ *मदन-उस्-शिफ-ए-सिकंदरशाही* (पंद्रहवीं सदी) का अनुवाद हाल में अंग्रेजी में किया गया है यह काम नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंस एंड टेक्नोलाजी एंड डेवलपमेंट स्टडीज (नई दिल्ली) द्वारा प्रायोजित परियोजना के अधीन किया गया है

4 एम अली, 'आयुर्वेदिक ड्रग्स इन यूनानी मेटिरिया मेडिका', *एनशिएंट साइंस लाइफ,* अप्रैल 1990, पृ 191-200

5 पी वी कृष्ण वारियर, *आयुर्वेद चरितम्,* त्रिचूर, 1904-05, पृ 52, 89

6 चार्ल्स लेस्ली, 'दि एंबिग्युटीज आफ मेडिकल रिवाइवलिज्म इन माडर्न इंडिया', लेस्ली (स), *एशियन मेडिकल सिस्टम,* पृ 356

7 इस मुहावरे का उपयोग डेनियल हेड्रिक ने *दि टूल्स आफ एंपायर : टेक्नोलाजी एंड यूरोपियन इंपीरियलिज्म इन दि नाइनटींथ सेंचुरी* (न्यूयार्क, 1981) में किया है

8 राय मैक्लिऑड, 'इंट्रोडक्शन', राय मैक्लिऑड और मिल्टन लुइस (स), *डिजीज, मेडिसिन एंड एंपायर : पर्सपेक्टिव आन वेस्टर्न मेडिसिन एंड दि एक्सपीरियंस आफ यूरोपियन एक्सपेंशन,* लंदन, 1988, पृ 1 साथ ही देखिए डेविड आर्नोल्ड (स), *इंपीरियल मेडिसिन एंड इंडिजेनस सोसायटीज,* दिल्ली, 1989

9 राममोहन राय, 'ए लेटर टु लार्ड एमहर्स्ट आन इंग्लिश एजुकेशन', *दि इंग्लिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय,* इलाहाबाद, 1906, पृ 472

10 वही

11 वही, पृ 472-74

12 वसंत एन नाइक, *काशीनाथ त्रिंबक तेलंग,* मद्रास, तिथिरहित, पृ 41

13 बंबई सरकार, विधि विभाग, जिल्द 3, 1912, पृ 17

14 वही, पृ 18

15 *बांबे मेडिकल ऐक्ट, 1912,* पैरा 10 और 11

16 वही, 'दि शिड्यूल'

17 बंबई सरकार, विधि विभाग, जिल्द 1, 1912, पृ 19

18 *धन्वंतरी,* 16 नवंबर 1917

19 वही, 6 नवंबर 1917

20 चार्ल्स लेस्ली, 'दि प्रोफेशनलाइजिंग आइडियोलाजी आफ मेडिकल रिवाइवलिज्म', मिल्टन सिंगर (स), *इंटर्प्रेनोरशिप एंड माडर्नाइजेशन आफ अक्युपेशनल कल्चर्स इन साउथ एशिया,* 1973, पृ 220 और ओ पी जग्गी, *वेस्टर्न मेडिसिन इन इंडिया : सोशल इंपैक्ट,* दिल्ली, 1980, पृ 10

21 पूनम बाला, *इंपीरियलिज्म एंड मेडिसिन इन बंगाल,* नई दिल्ली, 1991, पृ 47

22 *रिपोर्ट आफ दि उस्मान कमेटी आन दि इंडिजिनस सिस्टम आफ मेडिसिन,* जिल्द I, मद्रास, 1923, पृ 9

23 वही

24 विलियम एडम, *रिपोर्ट्स आन दि स्टेट आफ एजुकेशन इन बंगाल, 1835 एंड 1936,* कलकत्ता, पृ 515

25 *रिपोर्ट आन दि इंडिजेनस सिस्टम,* पृ 19

26 एन वी कृष्ण कुट्टी वारियर, *आयुर्वेद चरितम्,* कोट्टाक्कल, 1980, पृ 344

27 पी चंद्रमोहन, 'सोशल कंसर्नेस इन केरल', अप्रकाशित एम फिल शोध-प्रबंध, जवाहरलाल नेहरू *विश्वविद्यालय, दिल्ली*

28 *रिपोर्ट आन दि इंडिजेनस सिस्टम,* पृ 13

29 वही, पृ 5
30 ताराशंकर बंद्योपाध्याय, *आरोग्य निकेतन* (मलयालम अनुवाद), कोट्टायम, 1961, पृ 1
31 *धन्वंतरी*, 16 अगस्त 1913
32 अध्यक्षीय अभिभाषण, अखिल भारतीय आयुर्वेदिक सम्मेलन, सातवां अधिवेशन (मद्रास, 1915), कलकत्ता, 1916, पृ 6
33 *सुधा निधि*, जिल्द 2, अंक 2
34 एस एम मिश्र, *हिंदू मेडिसिन*, लंदन, 1914
35 *सुधा निधि*, जिल्द 2, अंक 4
36 'पूरी संभावना है कि इस आरंभिक काल में (ईसवी सन् से तीन सदी पूर्व) ही उन्होंने उपचार कला का अध्ययन इतनी सफलता के साथ किया कि वे आयुर्विज्ञान पर सुसंहत कृतियों का प्रणयन कर पाए, और इसके लिए उन्होंने ज्ञान के उस स्रोत का सहारा लिया जिसका कि मानव जाति का पूर्वग्रह इतना प्रबल विरोधी है सुश्रुत का कहना है कि विद्वान वैद्य को पुस्तकीय ज्ञान या सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही शरीरच्छेदन क्रिया और चिकित्सा के व्यावहारिक रूप में भी कुशल होना चाहिए यही कारण था कि हिंदू आयुर्विज्ञान की प्राचीन पद्धति सभी दृष्टियों से इतना अधिक परिपूर्ण था, और उसका प्रभाव इतना अधिक स्थायी था कि यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि उसे विकसित करने में कई सदियों का काल लगा होगा ' टी ए, वाइज, *दि हिंदू सिस्टम आफ मेडिसिन*, नई दिल्ली, 1986 (पुनर्मुद्रण), पृ xviii
37 कृष्ण कुमार, *पालिटिकल एजेंडा आफ एजुकेशन - ए स्टडी आफ कोलोनियलिस्ट एंड नेशनलिस्ट आइडियाज*, नई दिल्ली, 1991
38 लेस्ली, 'दि एंबिगुइटीज आफ मेडिकल रिवाइवलिज्म इन माडर्न इंडिया', लेस्ली (सं), *एशियन मेडिकल सिस्टम*, पृ 362
39 पूनमचंद तनसुख व्यास, 'दि प्रेजेंट ऐबजेक्ट स्टेट', *सुधा निधि*, जिल्द I, अंक 2 साथ ही देखिए पी एस वारियर का साक्ष्य, *रिपोर्ट आन दि इंडिजेनस सिस्टम*, जिल्द II, साक्ष्य, पृ 215-19
40 *धन्वंतरी*, 15 दिसंबर 1916
41 वही, 13 फरवरी 1916
42 *रिपोर्ट आन दि इंडिजेनस सिस्टम*, पृ 10
43 वी नारायणन् नायर, 'आवर प्रेजेंट स्टेट एंड फ्यूचर प्रास्पेक्ट्स (एन अपील फार दि स्प्रेड आफ आयुर्वेद)' (मलयालम), कोट्टाक्कल, 1921, पृ 12-13
44 केरल में अष्टवैद्यों को राज्य की ओर से लगान-मुक्त जमीन मिलती थी *धन्वंतरी*, 14 जून 1917
45 वही
46 वारियर, *आर्यवैद्य चरितम्*, पृ 88-89 लेकिन उल्लेखनीय है कि यूनानी पद्धति को देशी माना जाता था
47 पूनम बाला, 'दि स्टेट एंड इंडिजेनस मेडिसिन - सम एक्सप्लोरेशंस आन दि इंटरैक्शन बिटविन आयुर्वेद एंड दि इंडियन स्टेट', अप्रकाशित एम फिल शोध-प्रबंध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1982, पृ 94
48 अंबलपुझा मंदिर के भित्तिचित्र पी एस वारियर के रिश्ते के दो दादाओं अच्युत वारियर और माधव वारियर ने बनाए थे, किझेदत वासुदेवन नायर, *वैद्यरत्नम् पी एस वारियर*, कोट्टाक्कल, 1983, पृ 2
49 पी एस वारियर, *षष्टि वार्षिक चरितम्*, कोट्टाक्कल, 1929, पृ 26
50 केझेदत वासुदेवन नायर, *वैद्यरत्नम्*, पृ 23-25

51 वही, पृ 25
52 वही, पृ 60 65 साथ ही देखिए के एन पणिक्कर, *अगेस्ट लार्ड एड स्टेट : रिलीजन एड पीजेंट अपराइजिग्स इन मलाबार,* नई दिल्ली, 1990
53 पी एम मेहता *ल्युमिनरीज आफ इडियन मेडिसिन,* बबई, 1968, और ब्रह्मानद गुप्त, 'इडिजेनस मेडिसिन इन नाइनटींथ एड ट्वेटीएथ सेचुरी बगाल', लेस्ली (स), *एशियन मेडिकल सिस्टम,* पृ 368-77
54 *षष्टि वार्षिक चरितम्,* पृ 81-82
55 *धन्वतरी* 14 जनवरी 1917
56 वही
57 वही 14 मई 1917
58 वही
59 *कोट्टारातिल शकुन्नि एतिह्यमाला,* कोट्टायम, 1974, पृ 141-46 और 268-77
60 पी एम वारियर, *आर्यवैद्य चरितम्,* पृ 49-64
61 *सुधा निधि,* जिल्द I, अक 3
62 *रिपोर्ट आन इडिजेनस मेडिसिन,* परिशिष्ट IX साथ ही देखिए एन कदास्वामी पिल्ले, *हिस्ट्री आफ सिद्ध मेडिसिन,* मद्रास, 1979, पृ 372-402
63 *सुधा निधि* जिल्द I, अक 3
64 मेहता, *ल्युमिनरीज,* पृ 84-88
65 किझेदथ वासुदेवन नायर, *वैद्यालय् आयुर्वेद चरितम्* किसी भी भारतीय भाषा में लिखा जाने वाला आयुर्वेद का शायद पहला इतिहास था
66 *धन्वतरी,* 14 मई 1917
67 वही
68 'आर्य वैद्य पाठशाला' की विवरण-पत्रिका *धन्वतरी,* जिल्द 12, अक 11
69 *धन्वतरी,* 16 अगस्त 1913
70 'आर्य वैद्य पाठशाला' की विवरण-पत्रिका
71 वही
72 वही
73 वही
74 वही
75 वही
76 वही
77 *षष्टि वार्षिक चरितम्,* पृ 70 74
78 गुप्त, 'इडिजेनस मेडिसिन', लेस्ली (स), *एशियन मेडिकल सिस्टम,* पृ 374
79 *धन्वतरी,* 14 मार्च, 1920
80 कोडुगल्लूर कुन्हिकुट्टन तपुरण, *केरलम्,* त्रिचूर, 1912
81 इन नाटकों के लिए पाडुलिपिया पी एस वारियर ने लिखी थीं ये सब आर्य वैद्यशाला के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं
82 लेखक के साथ कोट्टाक्कल मे भेंटवार्ता, 15 अप्रैल, 1991
83 लेस्ली, 'एबिग्युटीज आफ मेडिकल रिवाइवलिज्म', लेस्ली (स), एशियन मेडिकल सिस्टम, पृ 365 ऐसा ही विचार रैल्फ सी क्रोजियर का है—देखिए 'मेडिसिन, माडर्नाइजेशन एड कलचरल

क्राइसिस इन चाइना एंड इंडिया', *कंपैरेटिव स्टडीज इन सोसायटी एंड हिस्ट्री,* जिल्द 12, पृ 275-91
84 वही
85. पाल आर. ब्रैस, 'दि पालिटिक्स आफ आयुर्वेदिक एजुकेशन ए केस स्टडी आफ रिवाइवलिज्म एंड माडर्नाइजेशन इन इंडिया', सुसन एच रुडाल्फ और लायड आई रुडाल्फ (स), *एजुकेशन एंड पालिटिक्स इन इंडिया,* दिल्ली, 1972, पृ 342-43
86 बारबरा मेटकाफ, 'नेशनलिस्ट मुसलिम्स इन ब्रिटिश इंडिया दि केस स्टडी आफ हकीम अजमलखां', *माडर्न एशियन स्टडीज,* 9, 1, 1985, पृ 1-28
87 वही
[redacted] लता मणि, 'कंटेशियस ट्रेडिशंस दि डिबेट आन सती इन कॉलोनियल इंडिया', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद्य (स), *रिकास्टिंग विमेन,* नई दिल्ली, 1989, पृ 88-126.
89 *धन्वंतरी,* 14 जनवरी 1917
90 वही

8. विवाह सुधार : विचारधारा और सामाजिक आधार

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में केरल के नायरों के पारिवारिक सगठन तथा विवाह पद्धति मे आने वाले परिवर्तनों की छानबीन के लिए अपनी सामाजिक स्थिति तथा सबंधों के विषय मे स्वयं उनके बोध के स्वरूप एव आधार का पता लगाना आवश्यक है। चूंकि किसी भी समाज मे आत्मबोध बहुत हद तक प्रभुत्वशाली विचारधारा से प्रभावित होता है इसलिए यह भी जरूरी होगा कि नबूदिरी ब्राह्मणों के सामाजिक प्रभुत्व के साथ जन्म लेने वाली विचारधारात्मक प्रणाली की भूमिका पर विचार किया जाए। इस सदर्भ में कुछ प्रासगिक प्रश्न इस प्रकार हैं नायरों ने नबूदिरियों के साथ एक असमान वैवाहिक सबध कैसे स्वीकार कर लिया ? क्या नायरों का पारिवारिक सगठन तथा वैवाहिक पद्धति नबूदिरियों के विशेषाधिकारों से जुड़ी हुई थी ? हमारे प्रस्तुत विवेचन के लिए इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह प्रश्न है कि नंबूदिरियो के प्रभुत्व के विरुद्ध नायरों के जिस विचारधारात्मक सघर्ष का परिणाम उनकी सामाजिक सस्थाओं तथा सामाजिक आचारों के पुनर्मूल्यांकन और उनमें सुधार के रूप में सामने आया वह उन्नीसवी सदी के दौरान किस प्रकार विकसित हुआ।

विचारधाराओं का मूल और अस्तित्व वैचारिक नहीं बल्कि भौतिक होता है, इसलिए प्रधान विचारधारा के प्रभाव में आने वाले परिवर्तनों का सबंध अस्तित्व की भौतिक अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनो से होता है। इन परिवर्तनों का स्वरूप, दिशा और गति तथा साथ ही जिन विचारधारात्मक रूपों मे लोग इन परिवर्तनों के प्रति जागरूक होते हैं वे वैकल्पिक विश्वास प्रणाली की सृष्टि या स्वीकृति का और साथ ही प्रधान विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष के लिए आधार का काम करते हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान, जब न केवल भारत का त्वरित समाजार्थिक रूपांतरण हुआ बल्कि उसे पाश्चात्य विचारों के प्रहारों को भी झेलना पडा, अनेक कारकों से इस सघर्ष के विकास में और फलत: सामाजिक सस्थाओं की पुनर्रचना के प्रयत्नों में सहायता मिली। ये थे : यूरोपीय व्यापारियो द्वारा भारतीय बिचौलियों से काम लेना, कृषक अधिशेष के अधिग्रहण एव वितरण के नए तरीके, राजकीय सरक्षण के स्वरूप तथा आवश्यकताओं में परिवर्तन, और सबसे बढकर भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व पूजीवादी बाजार से जोड दिया जाना। इस अध्याय में मलाबार[1] मे नायरों के पारिवारिक सगठन तथा विवाह पद्धति पर इनमे

से कुछेक कारकों के प्रभाव का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

नंबूदिरियों के विशेषाधिकार : ऐतिहासिक मूल

बारहवीं सदी का प्रारंभ होते-होते केरल की लगभग सारी जमीन नंबूदिरियों के नियंत्रण में आ गई थी। जिस प्रक्रिया से वे ऐसी प्रभुत्वशाली स्थिति प्राप्त कर पाए उसका संबंध मंदिरों के प्रबंध और मंदिरों की संपत्ति पर नियंत्रण से है। दक्षिण भारत के अन्य हिस्सों की तरह केरल में भी मंदिर सामाजिक जीवन के केंद्र थे। वे 'आज के स्कूलों, वाचनालयों, धार्मिक केंद्रों, सिनेमाघरों, थिएटरों, पार्कों और यहां तक कि वेश्यालयों की भी भूमिका' निभाते थे।[4] प्राचीन केरल में लगभग प्रत्येक शहर किसी न किसी मंदिर के इर्द-गिर्द ही विकसित हुआ था। मंदिरों के पास शासकों तथा भक्तों द्वारा दान में दी गई विस्तृत भूसंपत्ति और साथ ही सोना तथा अन्य बहुमूल्य धातुएं थीं।[5] पार्थिवपुरम मंदिर को करुणांददक्कन द्वारा दिया गया भूमिदान तथा सुचिंद्रम, तिरुनंतिकरै, तिरुवल्ल तथा त्रिक्ककारा मंदिरों को कई अन्य शासकों द्वारा दान दिया गया सोना इसका उदाहरण है।[6] मंदिरों के व्यय भी उनकी समृद्धि के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ, तिरुवल्ल मंदिर ने *तिरुवम्रम* (ब्राह्मणों को दिया गया एक भोज) के लिए एक लाख *परर्स* अनाज पैदा करने लायक भूक्षेत्र अलग कर दिया था। यह मंदिर दैनिक सेवा, सेवकों के वेतन के भुगतान तथा एक विद्यालय और एक औषधालय पर होने वाला खर्च भी उठाता था।[6] पार्थिवपुरम मंदिर का खर्च भी इतना ही भारी था।[7]

मंदिरों की संपत्ति का प्रबंध सभाएं करती थीं, जिनमें संभवत: ब्राह्मण और *करालार* (मंदिरों की जमीन के जोतदारों) के प्रतिनिधि शामिल हुआ करते थे।[8] मंदिरों का संपत्ति का संभावित गबन रोकने और रैयत के हितों की रक्षा करने के लिए सभाएं कुछ नियम और उपनियम— *मुलिक्कलक्कच्चम, कदंमकट्टु कच्चम, शंकरमंगलत कच्चम, कोट्टिवयिर वेलि कच्चम* और *तवनूर कच्चम*—बनाया करती थीं।[9] दसवीं और बारहवीं सदियों के बीच इन सभाओं के गठन में परिवर्तन हुए, और उनकी सदस्यता लगभग पूर्ण रूप से नंबूदिरी ब्राह्मणों को ही प्राप्त होने लगी। इसके फलस्वरूप उन्होंने मंदिरों की संपत्ति पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया और कालांतर में वे *जन्मी* या *भूमि* के पूर्ण स्वामी बन बैठे।[10] प्राचीन केरल के इतिहास की अभी हमें इतनी जानकारी नहीं है कि हम इस रूपांतरण की प्रक्रिया का तफसील से खुलासा कर सकें। एलमकुलम कुंजन पिल्लै की राय है कि यह प्रक्रिया उस काल में हो रहे राजनीतिक-आर्थिक परिवर्तनों का अभिन्न अंग थी। 1028 में राजेंद्र चोल के आक्रमण के फलस्वरूप चेर राज्य का विघटन, *कलारी* (व्यायामशाला) प्रणाली का आरंभ होना, अनिवार्य सैनिक सेवा और नायरों का योद्धाओं की एक अलग जाति के रूप में उभरना।[11] लेकिन इस स्पष्टीकरण से कई प्रश्न उठते हैं : चोल आक्रमण के पूर्व क्या मंदिरों के प्रबंध पर कुछ धर्मेतर

नियंत्रण था, नंबूदिरी ब्राह्मणों और शासक सरदारों के बीच क्या संबंध था, और यदि *करालारों* को सैनिक सेवा में लिया गया तो उनका स्थान किन लोगों ने लिया और उनके उत्तराधिकारियों का ब्राह्मणों के हितों के साथ कैसा संबंध स्थापित किया गया? लेकिन हमारे प्रस्तुत प्रयोजन के लिए इतना कह देना काफी है कि बारहवीं सदी तक जमीन का एक बहुत बड़ा हिस्सा नंबूदिरियों के नियंत्रण में आ गया और करों की माफी से उन्हें आगे के काल में अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ करने में सहायता मिली।

शीघ्र ही इस प्रभुत्व का औचित्य सिद्ध करने और इसे स्थायित्व प्रदान करने वाली एक विचारधारात्मक प्रणाली भी विकसित हो गई। उसकी रचना में आख्यान, धर्म और साहित्य तीनों ने योगदान किया। एक आख्यान के अनुसार, जो आज भी मलयालियों की ऐतिहासिक चेतना का अभिन्न अंग है, केरल की रचना परशुराम ने समुद्र को पाट कर की और फिर वह देश केवल ब्राह्मणों के उपभोग के लिए उन्हें दान कर दिया। केरल के आरंभिक 'इतिहासों', जैसे *केरल महात्म्यम्* और *केरलोलपत्ति* से, जिनकी रचना संभवत नंबूदिरी भूस्वामियों ने की, इस आख्यान को प्रामाणिकता प्राप्त हुई। *केरलोलपत्ति* में ब्राह्मणों की स्थिति का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है :

> परशुराम ने मलयालम, *केरलभूमि* की सृष्टि की और 64 ग्राममों के ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से उनके उपभोग के लिए, जिसे *जन्मम्* कहा गया है, दान कर दिया। बाद में उन्होंने तलवार पर जल छिड़ककर 10 *ग्राममों* के 3,600 ब्राह्मणों को उस पर *राजसम्* नामक अधिकार प्रदान किया। वे जल में अपनी उंगली रखकर कह सकते हैं कि 'यह मेरा *जन्मम्* है', लेकिन अन्य लोग जल में उंगली रखकर यह नहीं कह सकते कि 'यह मेरा *जन्मम्* है'।[12]

इस प्रकार नंबूदिरियों के भूस्वामित्व को दैवी व्यवस्था और इसलिए अनुल्लंघ्य रूप में प्रस्तुत किया गया।

सामाजिक आचार के नियमों और जातिगत संबंधों के फलस्वरूप नंबूदिरियों के लिए श्रेष्ठ और विशेषाधिकारयुक्त स्थान सुनिश्चित हुआ और निम्न जातियों को पराधीनता तथा आज्ञानुपालन की ऐसी व्यवस्था मे डाल दिया गया जिससे नंबूदिरियों के विशेषाधिकारों को स्थायित्व प्राप्त हुआ। जातिगत श्रेणीविन्यास तथा कर्मकांडी दर्जे में उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित और वैदिक ज्ञान की निधि तथा संस्कृत के विद्वान माने जाने वाले नंबूदिरियों की सत्ता सभी धार्मिक विषयों में सर्वोच्च थी। आरंभ में शायद उनमें कुछ तकनीकी विशेषज्ञता भी थी, जैसे पचांग का ज्ञान और ऋतुचक्रों की भविष्यवाणी करने की क्षमता।[13] वे 'मानव जाति में सबसे अधिक पवित्र और धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि' थे, और उनकी देह तथा संपत्ति पवित्र एवं ऐसी थी जिसे क्षति पहुंचाना पाप था। उनका काफी राजनीतिक प्रभाव भी था और वे विभिन्न राजाओं के बीच संपर्क के निष्पक्ष

माध्यम का काम करते थे।[14] वे कानून की सामान्य प्रक्रियाओं से मुक्त थे, क्योंकि वे केवल अपनी जाति के प्रधान की ही सत्ता के अधीन थे।[15]

निम्न जातियों का काम ब्राह्मणों की संपत्ति की रक्षा और सार-संभाल करके उनकी सेवा करना था। उनकी मुक्ति नंबूदिरियों की इच्छा और आज्ञा के अधीन होने में निहित थी। ब्राह्मणों की सेवा के सुफलों का प्रतिपादन साहित्य, प्रवचनों और *चक्यरकुट्टु* जैसी मंदिर कलाओं में किया गया। निम्न जातियों की पराधीनता सामाजिक संबंधों के सभी क्षेत्रों में स्पष्ट थी। कोई नायर किसी नबूदिरी का स्पर्श नहीं कर सकता था, तिय्या को उससे कम से कम 32 फुट दूर रहना था और चेरुमा को 64 फुट।[16] बातचीत के तरीके में भी श्रेष्ठ/निम्न स्थिति प्रतिबिंबित होती थी।[17] इन नियमों का उल्लंघन जाति-बहिष्कृत कर दिए जाने का कारण होता था। ऐसे व्यक्ति को नाई और धोबी की सेवाओं से वंचित कर दिया जाता था और उसे गांव के मंदिरों और कुएं के उपयोग के हक से महरुम कर दिया जाता था।

नंबूदिरी मूल्य प्रणाली और उनकी श्रेष्ठ भौतिक स्थिति का सबसे मुखर रूप विवाह प्रणाली तथा उत्तराधिकार के कानून में देखने को मिलता है। नंबूदिरी पितृवांशिकता और ज्येष्ठाधिकार का पालन करते थे, और केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही अपनी जाति में विवाह करने का अधिकार होता था, जिसका उद्देश्य स्पष्ट ही पारिवारिक संपत्ति को अक्षुण्ण रखना था।[18] कनिष्ठ पुत्र मातृवांशिक नायर स्त्रियों से *संबंधम्* स्थापित करते थे। नंबूदिरी लोग ऐसे संबंधों को विवाह नहीं मानते थे, यद्यपि नायर मानते थे। यहां तक कि ज्येष्ठ पुत्र भी, जिसे अपनी जाति के अंदर एकाधिक विवाह करने की अनुमति थी, अकसर नायर स्त्रियों के साथ अस्थायी संबंध स्थापित कर लेता था। ये संबंध शिथिल किस्म के होते थे और अधिक से अधिक तो अर्धस्थायी प्रबंध होते थे। नंबूदिरी लोग इसे बस 'एक रात सोने का संबंध' कहते थे। इस संबंध को दो में से कोई भी पक्ष बिना किसी पूर्वसूचना के तोड़ सकता था। नायर मातृवांशिकता और नंबूदिरी ज्येष्ठाधिकार के कारण इन संबंधों से उत्पन्न संतानों को पिता की संपत्ति में कोई अधिकार नहीं मिलता था। इस दृष्टिकोण को बल प्रदान करता था, यह जन-विश्वास कि *ब्रह्मस्वम्* को स्वीकार करना महापाप है। इस प्रकार *संबंधम्* व्यवस्था नंबूदिरियों पर कोई दायित्व डाले बिना उनकी लैंगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी।

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि *संबंधम्* व्यवस्था ब्राह्मणों के आगमन के बाद ही चलन में आई;[19] उससे पहले नायरों में सामुदायिक या सामूहिक विवाह का दस्तूर था। क्या *संबंधम्* का उद्भव सामूहिक विवाहों से पृथक विवाहों की ओर संक्रमण का द्योतक था, और क्या पारिस्थितिकीय और कृषिगत कारकों के कारण यह परिवर्तन आवश्यक हो गया था? क्या बात ऐसी थी कि ब्राह्मण, जो उस दौर में केरल में आ बसे थे जब यह संक्रमण घटित हो रहा था, इस कारण से इस व्यवस्था के अंग

बन गए कि उनकी अपनी जाति में स्त्रिया पर्याप्त सख्या में उपलब्ध नहीं थीं और साथ ही इसलिए कि उनके सामने अपनी पारिवारिक सपत्ति को बिखर जाने से बचाने की तात्कालिक आवश्यकता उपस्थित हो गई थी? इसका उद्‌भव चाहे जिस कारण से हुआ हो, बारहवीं सदी के बाद के काल में भूमि पर अपने नियत्रण और अपने धर्मग्रंथों के ज्ञान तथा आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित मूल्य प्रणाली की सहायता से नबूदिरी लोग इसे नायरों के लिए आदर्श वैवाहिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने में कामयाब हो गए जबकि वास्तव में यह स्वय उनके लिए विशेषाधिकारों की एक व्यवस्था था।

नायर लोग मातृवाशिक सयुक्त परिवारों में, जो *तारावाड* कहलाता था, रहते थे। *तारावाड* में एक स्त्री, उसके बच्चे, उसकी बेटिया और पोतियां और उनके बच्चे, उसके भाई, उसकी बहन के वशज, और उनकी मृत स्त्री पूर्वजाओं की ओर के उसके रिश्तेदार शामिल होते थे। *तारावाड* के सदस्य अपनी पारिवारिक संपत्ति के सह-साझीदार होते थे, चाहे वह सपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हो या परिवार के अलग-अलग सदस्यों के प्रयत्नो से। *करणवन*, अर्थात परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य, पारिवारिक संपत्ति का रक्षक और व्यवस्थापक होता था। यद्यपि उसे सपत्ति को किसी भी तरह से किसी को हस्तांतरित करने का अधिकार नहीं होता था तथापि उसके पास कुटुंबाधिपति (पैट्रिआर्क) के रूप मे व्यवहार करने और परिवार के अन्य सदस्यों को अपना वशवर्ती बनाकर रखने की काफी सत्ता होती थी। सपत्ति के प्रबध में कनीय सदस्यों की लगभग बिलकुल नहीं चलती थी, तथापि अविभाज्यता का नियम विभिन्न *तारावडियों* (वंशों) को *तारावाड* से बाधे रखता था। पुरुषों को साझा भडार से खाना, कपड़ा और तेल प्राप्त करने का अधिकार था। विशु, ओनम और तिरुवितरा इन तीन त्योहारों के अवसर पर, अपनी पत्नियों को केले, कपड़े और पान का रिवाजी उपहार देने के लिए भी पुरुषों को पारिवारिक आय में से हिस्सा लेने का अधिकार था।[20] पुरुष और स्त्रियां दोनों अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए *तारावाड* पर पूर्ण रूप से निर्भर थे। स्थानीय सरदारों की सेवा में लगे कनीय सदस्य जो पैसा कमाते थे वह कूच या शहरों में सेवावधि के दौरान उनके भोजन और दूसरी जरूरतें पूरी करने भर में ही चुक जाता।[21] जब तक परिवार की आमदनी उसके सदस्यों की जरूरतें पूरी करने के लिए काफी होती थी तब तक *तारावाड* का सगठन आदर्श सगठन होता था।

लुई द्यूमो के अनुसार, नबूदिरी लोग 'नायरों के साथ अति घनिष्ठ वैवाहिक और लैंगिक सबंध रखते थे।'[22] लेकिन बहुविवाह से प्राप्त होने वाले दर्जे के अलावा इस 'घनिष्ठता' के सारे लाभ नंबूदिरियों के पक्ष में थे। इसलिए द्यूमो का यह कहना सही नहीं है कि असली प्रश्न यह है कि ऊची जाति के नबूदिरी इस स्थिति को कैसे स्वीकार करते थे।[23] वस्तुत: असली प्रश्न यह है कि नायरों ने इस असमान साझीदारी को कैसे स्वीकार कर लिया। चूंकि नबूदिरी बहुविवाह की इजाजत नहीं देते थे इसलिए नंबूदिरी-

नायर संबंध गुणवत्ता की दृष्टि से नायरों के बीच आपसी वैवाहिक संबंधों से भिन्न थे, यहां तक कि *संबंधम्* व्यवस्था के अंतर्गत भी स्थिति ऐसी ही थी।

एक सामाजिक आदर्श के रूप में नायरों द्वारा नंबूदिरियों के विशेषाधिकारों की स्वीकृति नंबूदिरियों के विचारधारात्मक प्रभुत्व और भूमि पर उनके नियंत्रण का परिणाम था। नंबूदिरियों द्वारा निर्धारित नायरों की लैंगिक नैतिकता में सतीत्व पर किसी सदाचार के रूप में जोर नहीं दिया जाता था। उदाहरण के लिए, *केरलोल्पत्ति* के अनुसार, नायर स्त्रियों का कर्तव्य ब्राह्मणों की वासना को तुष्ट करना था। *स्मृतियों* को उद्धृत करते हुए अष्टमूर्ति नंबूदिरी ने विवाह आयोग को बताया कि 'यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र की पत्नी से लैंगिक संबंध स्थापित करना चाहे तो शूद्र उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए कर्तव्यबद्ध है।'[24] इस धार्मिक तर्काधार के अतिरिक्त, ब्राह्मणीय परंपराओं में इस विचार का प्रतिपादन किया गया था कि वैदिक संस्कारों के अनुसार जीवन व्यतीत करने के कारण नंबूदिरी आदर्श लैंगिक सहभागी हैं, और केवल उन्हीं से बहादुर और बुद्धिमान संतान प्राप्त की जा सकती हैं। 1800 में बुकानन ने देखा कि 'वे सबसे चहेते प्रेमी थे, प्रतिष्ठित और सुंदर युवती ब्राह्मणों और उनमें भी विशेष रूप से नंबूदिरियों के अतिरिक्त कदाचित ही किसी को हमबिस्तर होने देती थी।'[25]

विचारधारात्मक प्रभाव इतना प्रबल था कि नंबूदिरियों के सामाजिक प्रभुत्व से उद्भूत उनके विशेषाधिकारों को नायर लोग स्वयं अपने लिए प्रतिष्ठा और सौभाग्य की बात मानते थे। जहां विचारधारा विफल हो जाती थी वहां नंबूदिरियों की भौतिक शक्ति उनके काम आती थी। वे संपूर्ण स्वत्वाधिकारयुक्त भूस्वामी थे, इसलिए जिन स्त्रियों को वे अंकशायिनी बनाना चाहते थे उनके परिवारों को अनुदान में भूमि दे सकते थे या यदि वह उनकी अंकशायिनी बनने से इनकार करे तो वे पहले से ही प्रदत्त अनुदान खारिज भी कर सकते थे।[26] मेंचर और गोल्डबर्ग की निगाह में कुछ ऐसे मामले आए हैं 'जिनमें किसी नंबूदिरी को कोई ऐसी नायर लड़की भा गई जिसके परिवार के पास अपने *इल्लम* से किसी प्रकार के उपपट्टे पर प्राप्त जमीन थी। इस पट्टेदारी का सहारा लेकर वह नंबूदिरी बावजूद इसके उस लड़की को अपनी रखैल बनाने में कामयाब हो गया कि वह विवाहित थी और अपने नायर पति में अनुरक्त थी।'[27]

इस प्रकार नायरों के पारिवारिक संगठन, विवाह प्रणाली और उत्तराधिकार का कानून भू-संबंधों तथा नंबूदिरियों के मूल्यों और विचारधारा के सर्वोपरि प्रभाव से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था।

औपनिवेशिक प्रभाव

यूरोपीयों की व्यापारिक गतिविधियों तथा उसके बाद के औपनिवेशिक शासन ने पारंपरिक सांपत्तिक संबंधों के रूप तथा उससे संबंधित विचारधारात्मक प्रणाली को काफी बदल

दिया। यूरोपीयों के आगमन के फलस्वरूप व्यापार का विस्तार हुआ और नए शहरी केद्र उदित हुए। काली मिर्च तथा अन्य मसालों की प्राप्ति के लिए अरब व्यापारियों के एजेंटों और बिचौलियों (मुख्य रूप से मोप्पिलो) का स्थान नए समूहों ने ले लिया, जिससे उनमें से कम से कम कुछ लोगों ने राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में महत्व के स्थान हासिल कर लिए।[28] व्यापारोन्मुख कृषि का फैलाव, मुद्रा अर्थव्यवस्था का विस्तार और नकदी सौदों का, खासतौर से गावों के अभिजात लोगों द्वारा, अधिकाधिक उपयोग सामाजिक दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण थे।[29] इन कारकों के फलस्वरूप पारपरिक कृषि संरचना तथा सबधों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ, लेकिन इसके पूर्ण प्रभाव को 1792 मे अग्रेजो द्वारा मलाबार की विजय के बाद ही महसूस किया गया।

पारपरिक भूमि सरचना एक त्रि-स्तरीय सबध पर आधारित थी— *जन्मियो* (जमींदारों), *कनक्करो* (पट्टेदारो) और *वेरमपट्टक्करो* (उप-पट्टेदारो) के बीच के सबध पर। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, *जन्मम्* या *देवस्वम्* (मदिर की भूमि) के रूप में ज्यादातर जमीन पर नबूदिरियों का और खास तौर से उत्तरी मलाबार में कुछ नायर सरदारों का नियत्रण था। नबूदिरी खुद खेती नहीं करते थे; और इसके अलावा, वे देश के अन्य हिस्सों के ब्राह्मणों की तरह प्रशासन, लेखाकारी आदि धर्मेतर पेशे भी नहीं करते थे। वे अपने पट्टेदारो, मुख्य रूप से नायरों से मिलने वाले लगान पर जीवनयापन करते थे। वे नायरो को अपनी जमीन या तो पट्टे पर या रेहन के तौर पर दे दिया करते थे। ज्यादातर नायर भी, जो सामती सरदारों के सैनिक सेवक होते थे, अपनी जमीन में खुद खेती नहीं करते थे। वे खुद से कमजोर आर्थिक स्थिति वाले नायरों, तिय्यो जैसी अस्पृश्य जातियों के लोगों, या मप्पिलों को, जाहिरन ज्यादा ऊचे लगान पर, दरपट्टे पर अपनी जमीन दे दिया करते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि पूर्ववर्ती काल में इन अलग-अलग वर्गो के लोगों के बीच कानूनी या रिवाजी वैधता पर आधारित कोई सुपरिभाषित श्रेणीविन्यस्त सबध था या नहीं। विलियम लोगन की राय थी कि आरभ में नायर *कनक्कर* लोग रक्षक श्रेणी (गिल्ड) के अलावा और कुछ नहीं थे और वे रक्षकों या परिनिरीक्षकों की हैसियत से उत्पादन में एक हिस्सा प्राप्त करते थे।[30] आखिरकार ऐसा त्रिस्तरीय श्रेणीविन्यस्त सबध, जिस पर दस्तूरन अमल करना लाजिम हो गया, पद्रहवीं सदी के बाद मौद्रिक अर्थव्यवस्था तथा पेशागत गतिशीलता की अभिवृद्धि के तात्कालिक प्रभाव के फलस्वरूप उभरकर सामने आया। पारपरिक व्यवस्था में जमीन के शुद्ध उत्पादन में *जन्मी, कनक्कर* तथा वास्तविक किसान बराबर के हिस्सेदार हुआ करते थे। *कनक्करों* की भूमिका के बारे में यदि लोगन की राय सही हो तो अधिशेष का वितरण सामती शोषण के ढाचे के अंदर आपसी निर्भरता के सिद्धात पर आधारित था।

उपर्युक्त वर्णन से सकेत मिलता है कि प्रारंभिक काल में, खास तौर से ऊपरी स्तर

पर, जातिगत/वर्गगत संबंध कायम था, जिसकी पुष्टि कई यूरोपीय यात्रियों तथा समकालीन पर्यवेक्षकों ने की है।[31] लेकिन 1500 ई के बाद *जन्मम्* और *कानम* दोनों के मामलों में एकाधिकार का कुछ-कुछ क्षय हो रहा था। 1801 में टामस वार्डेन ने लिखा :

> नंबूदिरी लोग देश के मुख्य भूस्वामी हैं।...जो जमीन नंबूदिरियो की नहीं है वह या तो *पगोडों*, अथवा राजाओं या नाडुवारियों की है। इनके अलावा रैयत हैं। ये लोग खरीदारी की रू से जमीन के अधिकृत स्वामी बन गए हैं, लेकिन अन्य लोगों के मुकाबले उनका अनुपात बहुत कम है।[32]

स्पष्ट है कि यहां वार्डेन तीन सौ वर्षों तक चलने वाली एक धीमी प्रक्रिया का निर्देश कर रहे थे, जिसके फलस्वरूप कम से कम कुछ नायर *कनक्कर* जमींदारों की स्थिति में पहुंच गए। निम्नलिखित तालिका में उन्नीसवीं सदी में *जन्मियों* के एक हिस्से की जातिगत रचना दरशाई गई है :[33]

	1803		1887	
जाति	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
नंबूदिरी	37	35 60	217	24 00
ऊपरी मध्यवर्ती जातिया	11	10 60	69	7 66
नायर	46	44 20	41	45 60
मप्पिला	8	7 70	91	10.22
तिय्या	1	0 96	112	12.50
कुल	103		901	

इस तालिका से सूचित होता है कि जमीन पर नंबूदिरियों का एकाधिकार छीज रहा था और नायरों तथा अन्य निम्न जातियों के अधिकार में उसी अनुपात में वृद्धि हो रही थी।[34]

सन् 1500 के बाद के काल में *कानम* जमीन के मिल्कियती हक, *कानम* जमीन के नियंत्रण और लगान में समाज के विभिन्न वर्गों की हिस्सेदारी में भी परिवर्तन हुआ। पारंपरिक व्यवस्था में *कानम* एक सरल पट्टा था, जिसकी शर्त मुख्य रूप से जिंस में लगान की सालाना अदायगी होती थी। मौद्रिक अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ नकद राशि के लिए तंगहाल जमींदारों ने एकमुश्त आरंभिक अदायगी के एवज में पट्टे पर जमीन देने की युक्ति का सहारा लिया। यह राशि और इस पर आने वाला ब्याज पट्टे की अवधि के लगान में समायोजनीय था। लेकिन जमींदारो की प्रवृत्ति *कानम* राशि को समायोजित किए बिना पूरे लगान की वसूली कर लेने की होती थी, और इसलिए पट्टे की अवधि के समाप्त होने पर स्वतः ही पट्टे का पुनर्नवीकरण हो जाता था।

जब तक जमीन की अधिक मांग होने पर जमीन में अपने धन का निवेश करने वाले स्पर्धियों की संख्या बड़ी नहीं हो गई तब तक स्थिति ऐसी ही रही। *जन्मियों* को भूमि का पूर्ण स्वामी और *कानम* को पट्टे की अवधि के अंत में भंग हो जाने वाला पट्टा मानने की अंग्रेजों की नीति से बेदखली और *मेलचर्थ* (तमादी पट्टे) की विधि से *कानम* जमीनों के उनके मूल कब्जेदारों के हाथों से निकल जाने और लगान अदा करने और लगान प्राप्त करने वाले मध्यवर्ती *कनक्कर* वर्ग के लोगों के हाथों में सिमटते जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ।[25] इस वर्ग के लोग, जो मुख्य रूप से नायर होते थे, जमीन लगान की ओर भी बहुत ऊंची दर पर वेरुंपट्टक्कर को दे देते थे। बीसवीं सदी आरंभ होते-होते वे उपज के 35-35 से लेकर 40-40 प्रतिशत तक लगान के तौर पर वसूल करने लगे, लेकिन जमींदारों और किसानों का हिस्सा क्रमशः दो से लेकर 12 और 15 से लेकर 25 प्रतिशत तक ही होता था।[26] इस प्रकार वसूल किए गए लगान का उपयोग और ज्यादा *कानम* जमीन खरीदने के लिए किया जाता था, जिसके फलस्वरूप जमीन इस वर्ग के हाथों में केंद्रित होती चली गई। जमीन पर नियंत्रण का रंग-रूप तो बदलकर इस वर्ग के अनुकूल हो ही गया, लेकिन उससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि अधिशेष अधिग्रहण में भी उसकी हिस्सेदारी बढ़ गई। कनक्करों के जिस हिस्से ने इस तरह फायदा उठाया वह पुराना नायर अभिजात वर्ग नहीं बल्कि एक नया समूह था, जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा सुलभ कराए गए अवसरों का लाभ बहुत तत्परता से उठाया।[27] जिन महत्वपूर्ण नायर परिवारों के सदस्यों ने बाद में राजनीतिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त की उनमें से अधिकांश ने उन्नीसवीं सदी के दौरान इसी प्रक्रिया से संपत्ति अर्जित की थी। पुराना अभिजात वर्ग सामंती मूल्यों के मोहपाश में फंसा रहा, लेकिन नए समूह ने अपनी संतान को अंग्रेजी शिक्षा दी और अंग्रेजों के प्रशासन में रोजगार पाने का सफल प्रयास किया।

मलाबार के अंग्रेजी राज में मिलाए जाने के शीघ्र बाद जिन भारतीयों को अंग्रेजों ने नौकरियां दीं उनमें नायरों का अनुपात काफी बड़ा था। 1799 में कंपनी के प्रशासन में भारतीय अमलों में से 107 मलाबार से बाहर के, मुख्य रूप से मराठा ब्राह्मण थे, और 89 मलाबारी थे, जिनमें से 44 नायर थे।[28] मुख्य स्थानों अर्थात 'प्रतिष्ठित' और संपन्न लोगों की विद्रोही गतिविधियों में कथित लिप्तता के कारण उन्हें *परवतियों* के रूप में नियुक्त करने की मद्रास सरकार की अनिच्छा के फलस्वरूप निम्न आर्थिक स्थिति वाले नायरों को इन नौकरियों में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त हुए।[29] 1822 में ग्राम प्रशासन के पुनर्गठन के बाद ग्राम स्तर के जो अधिकारी और मेनन नियुक्त किए गए उनमें भी अधिक संख्या नायरों की ही थी। वे राजस्व के निर्धारण, बंदोबस्त और वसूली के लिए जिम्मेदार होते थे, और अपनी इस हैसियत का उन्होंने खूब लाभ उठाया। अपनी सरकारी हैसियत के बल पर नायर परिवारों द्वारा भरपूर संपत्ति अर्जित करके ऊंचा

सामाजिक दर्जा प्राप्त करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नई राजनीतिक व्यवस्था में अंग्रेजी शिक्षा के महत्व को उन्होंने बहुत जल्दी समझ लिया और अपने बच्चों को स्कूल-कालेज भेजना शुरू कर दिया। फलतः उनके बच्चे न्यायिक और राजस्विक सेवाओं में स्थान पाने लगे, लेकिन उधर नंबूदिरी और नायर जमींदार सामंती सुविधाओं की चारदीवारी में कैद रहे, और मप्पिलों और तिय्यों के पास अंग्रेजी शिक्षा का खर्च उठाने के साधन नहीं थे। उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते जिले में स्नातकों, अवरस्नातकों (अंडर ग्रेजुएटों)' और मैट्रिकुलेटों की संख्या लगभग 1,000 हो गई और 10, 20 और 50 रुपए वेतन पाने वाले अमलों की संख्या क्रमशः 1,063, 245 और 90 पर पहुंच गई, जिनमें से अधिकांश नायर थे।[40] बहुत से नायर परिवारों में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में पहली पीढ़ी की शुरुआत छोटे-छोटे ग्राम अधिकारियों के रूप में हुई, लेकिन दूसरी पीढ़ी के लोग मुंसिफ, मजिस्ट्रेट और जज के ऊंचे पदों पर आसीन हो गए।[41] मलाबार भूधारण (टिनेंसी) आयोग ने दर्ज किया कि 'मलाबार के मध्य वर्ग में बहुत बड़ा हिस्सा *कानमदारों* का है, जिनमें मुख्य रूप से पेशेवर लोग, सरकारी अमले और इसी तरह की हैसियत वाले अन्य लोग शामिल हैं।'[42] सच तो यह है कि क्रम उलटा था : मध्य वर्ग के सामाजिक मूल लगान अदा और प्राप्त करने वाले मध्यवर्ती *कनक्कर* वर्ग में थे। चेट्टूर के परिवार, जिनमें सी. शंकरन् नायर उत्पन्न हुए थे, या मन्नत के परिवार, जिनमें एम. कृष्णन् नायर का जन्म हुआ था तथा बहुत सारे अन्य नायर परिवार, जिनके सदस्य अंग्रेजी राज की सिविल और अवर सेवाओं में ऊंचे पदों पर आसीन हुए, इसी कोटि के थे। इसी वर्ग के सदस्यों को एक ओर तो एक हद तक आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त थी और दूसरी ओर उनके पास नई सांस्कृतिक एवं विचारधारात्मक दृष्टि थी, जिसके बल पर उन्होंने स्वयं अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का आलोचनात्मक मूल्यांकन आरंभ किया।

विवाह और परिवार : संस्थाओं की पुनर्व्यवस्था

नायरों के बीच जागृति की पहली अभिव्यक्ति मौजूदा मूल्य प्रणाली के विरुद्ध संघर्ष के रूप में हुई, और उधर इस संघर्ष का व्यक्त रूप *तारावाड* और विवाह की संस्थाओं में सामने आया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इन दोनों संस्थाओं का अधिकाधिक आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया। तब तक नायरों के शिक्षित हिस्से भू-नियंत्रण तथा नंबूदिरी जमींदारों से 'अभिन्न रूप से जुड़े अपने जीवन' के बीच के संबंध को समझने लगे थे।[43] इसलिए उनके सुधार प्रयत्न *तारावाड*, वैवाहिक प्रथाओं तथा पट्टेदारी संबंधों की ओर अभिमुख थे।[44]

अंग्रेजी शासन के दौरान मौद्रिक अर्थव्यवस्था के उदय तथा समाजार्थिक परिवर्तनों ने नायर *तारावाड* की संसक्ति और उपयोगिता को काफी चोट पहुंचाई। अगली तालिका में उन्नीसवीं सदी के अंत में चार नायर परिवारों की संरचना दरशाई गई है।[45]

निम्नलिखित आंकड़ों से परिवार की आय के संबंध में हमारे ऊपर के कथन की पुष्टि होती है। जमीन से अच्छी खासी आय हो रही थी और सरकारी मुलाजमत से अतिरिक्त स्वतंत्र आय होती थी। यह भी स्पष्ट है कि पहले तीन परिवारों के संसाधन उससे बहुत अधिक थे जितने उनके सदस्यों के गुजारे भर के लिए चाहिए था। सरकारी लगान 30 प्रतिशत होता था, इसलिए परिवार 'क' की सालाना शुद्ध पैदावार 9,337 रुपए की थी।

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
क	2,800	18	87	41	46	12	13	4	1	2	33
ख	1,200	7	58	266	32	13	13	2	1	2	11
ग	2,500	82	256	126	130	35	52	2	1	6	36
घ	680	21	104	52	52	17	32	—	—	2	49

टिप्पणी 1 *तारवाड*, 2 सरकार को रुपए में अदा किया जाने वाला लगान, 3 प्रत्येक *तारवाड* में *तावाझियों* की संख्या, 4 सदस्यों की कुल संख्या, 5 पुरुष, 6 स्त्रियां, 7 पांच साल से अधिक और 20 साल से कम आयु के लड़के, 8 20 से 40 साल तक के पुरुष, 9 स्कूल जाने वाले लड़के, 10 अंग्रेजी जानने वाले पुरुष, 11 सरकारी मुलाजिम, 12 कोई धंधा नहीं

यदि वह परिवार मध्यवर्ती *कनक्कर* का रहा हो तो उसे काश्तकार, जमींदार और सरकार के क्रमशः 10, 20 और 30 प्रतिशत के पावने अदा करने के बाद 3,755 रुपए हासिल होने चाहिए। प्रति 1,000 मैक्लियड सेर धान की तत्कालीन कीमत 60 रुपए[46] के हिसाब से देखें तो इस परिवार के पास 62,000 मैक्लियड सेर धान होगा, या यों कहें कि बच्चे सहित प्रति व्यक्ति 713 सेर। यदि एक व्यक्ति के लिए प्रतिदिन एक सेर धान काफी माना जाए तो इस परिवार को 30,276 सेर या 1,817 रुपए की अतिरिक्त सालाना आय होगी। अगर वह *जन्मी* परिवार रहा हो तो उसी अनुपात में आय अधिक हो जाएगी।[47] लेकिन यह अतिरिक्त आय आम तौर पर परिवार के कनीय सदस्यों के बीच वितरित नहीं की जाती थी—उनका हिस्सा उसी स्तर पर रह जाता था जो तब था जब परिवार अपेक्षाकृत गरीब था और किसी तरह गुजारा कर लेता था। इस संपत्ति का प्रबंधक *करणवन* इस आमदनी को अपने नियंत्रण में रखता था और अकसर इसे खुद अपने, अपनी पत्नी और बच्चों पर खर्च करता था।[48] सामाजिक वातावरण में बदलाव और आंतरिक बाजार में आए परिवर्तन के कारण कनीय सदस्यों की आवश्यकताएं बहुत बढ़ गई थीं, सो उन्हें जल्दी ही एहसास हो गया कि उन्हें क्या मिलना चाहिए और क्या मिल रहा है। *तारवाड* का अस्तित्व और उसका संयुक्त प्रबंधन अब उनके हक में नहीं था। इसलिए परिवार के प्रति उनकी वफादारी और उससे उनके जुड़ाव की भावना एवं अविभाज्यता में उनके विश्वास को गहरा आघात लगा।

औपनिवेशिक शासन ने कनीय सदस्यों को, खास तौर से सरकारी नौकरों के रूप में स्वतंत्र रूप से कमाई करने के जो अवसर प्रदान किए वह *तारावाड* की एकजुटता को प्रभावित करने वाला एक और कारक था। ऊपर चार *तारावाडों* के बारे में जो आंकड़े दिए गए हैं उनसे प्रकट होता है कि प्रत्येक *तारवाड* में कई *तवाझी* होते थे, जिनमें से प्रत्येक एक अलग इकाई होता था। इनमें से कम से कम कुछ इकाइयों की आय के स्वतंत्र स्रोत होते थे—पति या पुत्र सरकारी मुलाजमत करता था। अपने प्रत्यक्ष कुटुंबियों को बेहतर सुविधाएं सुलभ कराने के लिए फिक्रमंद ये लोग अपनी आय को सामान्य कोष में जमा करने के लिए अनिच्छुक होते थे। *तारावाड* संगठन व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता के नवगृहीत विचारों के भी खिलाफ जाता था। ये '*सीमांत पुरुष*' *तारावाड* को सुरक्षा और शक्ति के स्रोत के बदले अपनी प्रगति के मार्ग में बाधक मानते थे। अपेक्षाकृत अधिक संपन्न और 'आधुनिक' *तवाझी तारावाड* के विघटन का कारण बन गए। इसका कारण केवल यही नहीं था कि वे स्वतंत्र होना चाहते थे बल्कि उससे अधिक बडा नहीं तो कम से कम उतना ही बड़ा कारण यह भी था कि उनसे परिवार की अन्य इकाइयों में यह भावना जगी कि उन्हें वाजिब सुख-सुविधा से वंचित रखा जा रहा है। उनके सामने एक उदाहरण था, जिसका अनुकरण करके वे सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ अर्जित कर सकते थे। इसलिए जो *तवाझी* अपेक्षतया खराब स्थिति में थे उन्होंने अपने बच्चों के लिए अंग्रेजी शिक्षा की मांग करना शुरू कर दिया। यह परिवार में एक बड़े विग्रह का कारण बन गया। अधिकतर *करणवन* पैसा खर्च करने को तैयार नहीं थे, और अगर वे एक-दो बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए तैयार होते तो भी अन्य इकाइयों के सदस्यों की इसी प्रकार की इच्छा की पूर्ति करना कठिन था। ऊपर चर्चित चार *तारावाडों* में 77 लड़के स्कूल जाने की उम्र के थे, लेकिन उनमें से केवल आठ स्कूल जा रहे थे। *करणवनों* पर शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए तरह-तरह से दबाव डाले जाने लगे—यहां तक कि दीवानी मुकदमे भी दायर किए गए। दिसंबर 1885 के अंक में *केरल पत्रिका* में एक पत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें नायर परिवार के एक कनीय सदस्य को इसलिए प्रशंसा की गई थी कि उसने एक *करणवन* को अंग्रेजी शिक्षा का खर्च उठाने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से उसके खिलाफ दीवानी मुकदमा दायर कर दिया था।[59] *तारावाड* के समर्थन के अभाव में कुछ बच्चे अंग्रेजी शिक्षा के लिए अपने-अपने पिता पर निर्भर थे, जिससे *तारावाड* के प्रति उनकी वफादारी और उसकी एकजुटता को क्षति पहुंची।[60]

समृद्धि ने तो परिवर्तन के सहायक का काम किया ही, संसाधनों का अभाव भी *तारावाड* के विघटन का उतना ही बड़ा कारण था। समाजार्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप *कानम* जमीन के चंद मध्यवर्ती *कनक्करों* के हाथों में केंद्रित हो जाने और इस काल में जनसंख्या की वृद्धि[61] होने से अधिकांश नायर परिवार कठिन आर्थिक कष्ट में पड़

गए। इसका भी *तारावाड* की एकजुटता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, परिवार 'घ' को सालना 15,000 मैक्लियड सेर या प्रत्येक सदस्य को 144.5 सेर धान उपलब्ध था, जो प्रति व्यक्ति प्रतिदिन एक सेर के राष्ट्रीय औसत से 110.5 सेर कम था। स्पष्ट है कि परिवार की आय जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं थी। छोटे *तवाझियों* और स्वतंत्र आयों वाले *तवाझियों* के लिए *तारावाड* लाभदायक से अधिक एक बोझ ही था, और उनकी मुक्ति *तारावाड* के विघटन में निहित थी। दूसरे शब्दों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक *तारावाड* पद्धति के आर्थिक और विचारधारात्मक आधारों पर भारी दबाव पड़ने लगा था। *करणवनों* और परिवार के कनीय सदस्यों के बीच झगड़े और मुकदमेबाजी आए दिन की बात हो गई। विवाह आयोग ने अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया, 'आपस में ही बंटा हुआ घर टिका नहीं रह सकता और मलाबार के अधिकांश तारावाड इसी अवस्था में हैं।'[52]

नायरों के सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्थाओं के सुधार का आंदोलन *तारावाड* के आर्थिक आधार के टूटने तथा शिक्षित मध्य वर्ग द्वारा प्राप्त नई विचारधारात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि का सीधा परिणाम था। सबसे पहले पारिवारिक संपत्ति की अविभाज्यता, उत्तराधिकार के रिवाजी कानून और विवाह की पारंपरिक पद्धति पर प्रहार किया गया।

विधि निर्माण

सन् 1869 में सरकार को दिया गया एक ज्ञापन इस दिशा में पहला प्रयास था।[53] अखबारों में उत्तराधिकार तथा संपत्ति की अविभाज्यता से संबंधित *मारुमक्कतयम* कानून में परिवर्तन की हिमायत करने वाले अनेक पत्र और लेख प्रकाशित हुए।[54] एक अखबार ने लिखा :

> पहले *तारावाड* के पुरुष या स्त्री सदस्य द्वारा किसी भी स्रोत से प्राप्त धन को संयुक्त संपत्ति माना जाता था और उसका उपभोग परिवार के सभी सदस्य करते थे, लेकिन आजकल इस नियम की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है। पिता से या *अनंतरवनों* या *करणवनों* से प्राप्त संपत्ति को या यहां तक कि अपने पति से स्त्री द्वारा प्राप्त संपत्ति को भी निजी संपत्ति माना जाता है। इतना ही नहीं, वरन यदि संभव हो तो एक अलग घर भी हासिल करने की कोशिश की जाती है। और जब यह कोशिश कामयाब हो जाती है तब *तारावाड* की संपत्ति में इजाफा करने के बदले उससे जहां तक संभव हो वहां तक अधिक से अधिक संपत्ति ले लेने का प्रयास किया जाता है। इसके फलस्वरूप *तारावाड* में बंटवारे, मुकदमेबाजी और झगड़े होते हैं, और नतीजतन वह तबाह हो जाता है। मलाबार में शायद ही कोई ऐसा *तारावाड हो जिसमें करणवन और अनंतरवनों के बीच शत्रुता न हो।* स्वाभाविक

> है कि कोई भी आदमी अपनी पत्नी और बच्चों से ज्यादा प्यार किसी को नहीं करेगा। उसे अपने भाइयों और बहनों से शायद कुछ लगाव हो लेकिन भतीजे-भानजों और भतीजी-भानजियों से नहीं। यही स्थिति भतीजे-भानजों और *करणवनों* के बीच होगी। हम यह नहीं कहते कि भानजे-भतीजे रिवाजी प्रेम का प्रदर्शन कभी नहीं करेंगे, लेकिन जब करेंगे तो हमारी राय में वह सिर्फ दिखावा होगा और टिकाऊ नहीं। इस प्रेम का असली उद्देश्य वंशानुगत संपत्ति है। यदि *मारुमक्कतयम्* के रिवाज को, जो जाने कितनी बुराइयों की जड़ है, अब भी जारी रखा जाता है तो वह दिन दूर नहीं जब मलयाली लोगों के बीच संपन्न परिवार मिलना दूभर हो जाएगा।[55]

समकालीन समाचारपत्रों में नायर विवाहों के अस्थायित्व के बारे में और इस आम ताने को लेकर खबरें—अकसर तो अतिरंजित खबरें—छपती रहती थीं कि नायर को यह नहीं मालूम रहता कि उसका पिता कौन है।[56] त्रिचूर में एक विवाहिता स्त्री को 'ब्याह' कर एक तपूरण अपने साथ ले गया;[57] एक जिला मुंसिफ की पत्नी को उसके मायके वाले जबरदस्ती ले गए और उसका विवाह किसी और से कर दिया, और एक सब-रजिस्ट्रार ने जब एक विवाहिता स्त्री के साथ गोपनीय भेंटवार्ता के दौरान उससे पूछा कि 'क्या तुम मेरे घर चलोगी' तो वह राजी हो गई और उसकी पत्नी बन गई।[58] 'शूद्रों के बीच, जिनमें विवाह का कोई बंधन ही नहीं है, पतियों द्वारा पत्नियों और पत्नियों द्वारा पतियों के निर्द्वंद्व त्याग का रिवाज इतने निंदनीय रूप से प्रचलित है कि समाज की वर्तमान सुधरी हुई अवस्था में इस संबंध में कोई कानून बनाने की आवश्यकता में किसी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं है।'[59]

इन घटनाओं को जोर देकर इसलिए पेश किया गया कि वे आम नहीं बल्कि अपवाद थीं, और समाज के कम से कम एक हिस्से की जीवन पद्धति से भिन्न किस्म की थीं। अनेक समकालीन पर्यवेक्षकों ने विवाह के पारंपरिक रिवाज में आए परिवर्तनों को लिपिबद्ध किया है। 1872 में वायसराय की विधान परिषद में एक बहस में भाग लेते हुए सर जेम्स स्टीफन ने कहा :

> कानूनी तौर पर देखें तो नायरों में विवाह जैसी कोई बात हो नहीं है। इसके बावजूद उनमें विवाह लगभग उतना ही आम और उतना हो बंधनकारी है जितना कि कई अन्य जातियों में है। वे जो संबंध स्थापित करते हैं वे आम तौर पर उनके पूरे जीवन-काल में कायम रहते हैं, और उनमें परस्पर काफी उभयपक्षीय वफादारी दिखाई देती है।[60]

परंतु इन विवाहों को कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं थी। 1869 में मद्रास उच्च न्यायालय

ने व्यवस्था दी थी कि '*संबंधम्* वास्तव में विवाह नहीं है, बल्कि वह रखैलपन की एक अवस्था है, जिसमें स्त्री अपनी इच्छा से शरीक होती है और उसे चाहे जब और जितनी बार किसी अन्य पुरुष से ऐसा संबंध स्थापित करने की आजादी है।' कानूनी समर्थन के अभाव को प्रगति के लिए बहुत बड़ी बाधा माना गया। सर सी. शंकरन् नायर का खयाल था कि 'अगर अंग्रेजी कानून और अदालतें न होतीं तो नए रिवाजों को अपनाकर उनका अनुसरण किया जा रहा होता, विवाह और उत्तराधिकार के कानून जैसे आज हैं उनसे भिन्न होते और अगर अदालतों ने हस्तक्षेप न किया होता तो मलाबार के *तारावाड* कब के टूट चुके होते और उनके स्थान पर कई-कई परिवार उभर आए होते, जिनमें से प्रत्येक एक-एक पुरुष मुखिया के अधीन होता।'[61]

मलाबार विवाह संघ 1879 में स्थापित किया गया, उसने नायरों के विवाहों के लिए कानूनी मान्यता की मांग करते हुए एक विधेयक तैयार करके सरकार के सामने पेश किया।[62] सरकार ने इस पर कोई कार्रवाई नहीं की। परंतु भूधारिता (टेनेंसी) की समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए लोगन ने विवाह और उत्तराधिकार दोनों से संबंधित प्रश्न पर जोर दिया। उसकी सिफारिश यह थी कि 'सभी वयस्क लोगों को स्वार्जित संपत्ति का इच्छानुसार चाहे जो करने का अधिकार होना चाहिए और अगर वह वसीयत किए बिना चल बसे तो उसके बच्चों को उसकी संपत्ति का एक-तिहाई मिलना चाहिए।'[63] लोगन की सिफारिश का फलितार्थ नायरों की विवाहों को मान्यता देना था। इन सिफारिशों पर एक समिति ने विचार किया, जिसके सदस्य सर माधव राव, विलियम लोगन, एच. वाइग्राम, सी. करुणाकर मेनन और सी. शंकरन् नायर थे। इस समिति ने सर्वसम्मति से लोगन के सुझाए ढंग पर एक विवाह तथा उत्तराधिकार कानून बनाने की सिफारिश की और साथ ही एक विधेयक का मसौदा तैयार किया, जिसे मद्रास उच्च न्यायालय ने स्वीकृति प्रदान कर दी। 24 मार्च 1890 को सर सी. शंकरन् नायर ने मद्रास विधान सभा में *मरुमक्कतयम* कानून का अनुसरण करने वाले हिंदुओं के लिए विवाह के एक रूप का प्रावधान करते हुए जो विधेयक पेश किया वह इस समिति की सिफारिशों को ही ध्यान में रखकर किया था।[64] विधेयक पेश करते हुए उन्होंने कहा, '...कानूनी अदालत में हमारी पत्नियां रखैलें हैं और बच्चे हरामी, और इसलिए विवाह को कानूनी जामा पहनाने और ऐसे विवाह के संबंध में कानूनी प्रावधान करने की आवश्यकता स्पष्ट है।'[65] उनके विधेयक में नायर विवाहों को कानूनी वैधता प्रदान करने, बहुविवाह को दंडनीय अपराध बनाने तथा विवाह के भंग किए जाने, तलाक एवं दांपत्य अधिकारों के बहाल किए जाने की मांग की गई।[66] भारत सरकार ने विधेयक को मंजूरी नहीं दी, बल्कि उसके बदले मद्रास सरकार को हिदायत दी कि विधेयक पर विचार किया जाए, इससे पहले वह इस विषय पर और सूचना एकत्र करे।[67] तदनुसार 1891 में मलाबार विवाह आयोग की नियुक्ति की गई, जिसका अध्यक्ष टी.

मुतुस्वामी अय्यर थे।[68]

आयोग ने कमोबेश जल्दबाजी में अपना काम पूरा किया। उसकी पहली बैठक 18 मई को और आखिरी 27 जून 1891 को कोझीकोड में हुई। अपनी जांच-पड़ताल के दौरान उसने 121 गवाहों के मौखिक बयान लिए, जिनमें से 79 कानून बनाए जाने के पक्ष में थे। इनके अलावा, प्रश्नावलियां 474 के पास भेजी गईं, जिनमें से 322 ने उत्तर दिए। इन 322 में से 178 कानून के पक्ष में थे।[69] आयोग को मलाबार के विभिन्न हिस्सों मे आयोजित सभाओं में तैयार किए गए प्रार्थनापत्र और पारित किए गए प्रस्ताव भी प्राप्त हुए। 2,733 लोगों द्वारा हस्ताक्षरित तेरह प्रार्थनापत्र कानून के पक्ष में और 2,131 लोगो द्वारा हस्ताक्षरित 25 प्रार्थनापत्र उसके विरोध में थे। 632 नायर स्त्रियों ने अलग प्रार्थनापत्र भेजे, जिनमें से 245 कानून के हक में थे और 378 खिलाफ।[70] आयोग द्वारा संगृहीत उपर्युक्त आंकड़ों से लगता है कि प्रस्तावित कानून का काफी विरोध किया जा रहा था। लेकिन आंकडे बहुधा भ्रामक होते हैं, और इस प्रसग मे तो वे विशेष रूप से भ्रामक हैं, क्योंकि ये प्रत्येक वर्ग के अंदर के विभिन्न प्रकार के मतों को प्रतिबिंबित नहीं करते, और न उनसे उन समूहों के स्वरूप का पता चलता है जिन्होंने विधेयक के विरोध या समर्थन में लोकमत को लामबंद किया। विरोध मुख्य रूप से नबूदिरियों और बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा किया गया—जैसे अष्टमूर्ति नंबूदिरी, कालिकट के जमोरिन, पाडिजरे कोविलकम निवासी एट्टन संपूरण और कोलातुर वारियर द्वारा।[71] ये सभी लोग पारंपरिक व्यवस्था के लाभानुभोगी और सामंती मूल्यों के रक्षक थे। शिक्षित नायरों के भी एक हिस्से ने विधेयक का विरोध किया—सो इसलिए नहीं कि वे सामाजिक रूप से स्वीकृत विवाह संस्था के हक में नहीं थे, बल्कि इसलिए कि वे मानते थे कि ऐसी संस्था तो नायरों में पहले से ही विद्यमान है। *इंदुलेखा*[72] के प्रसिद्ध लेखक और विवाह आयोग के सदस्य ओ. चंदू मेनन और *हिंदू* के उप-संपादक सी. करुणाकर मेनन इसी वर्ग के लोग थे। काफी सारे *करणवनों* ने भी विरोध किया। उन्हें डर था कि 'आठ में से सात *अनंतरवन* अपनी कमाई अपनी पत्नियों और बच्चों को देंगे और अगर प्रस्तावित कानून बन गया तो *तारावाड* बरबाद हो जाएंगे।'[73] इस जांच-पड़ताल के परिणामस्वरूप यह आशंका सामने आई कि अगर कानून शंकरन् नायर के विधेयक के नमूने पर ही बनाया गया तो उससे न केवल विवाहों को कानूनी मान्यता प्राप्त होगी बल्कि सामाजिक जीवन के पूरे ताने-बाने के सुधार के बदले उसका संपूर्ण विनाश हो जाएगा।[74] जो अब भी सामंती विचारधारा के प्रभाव के अधीन थे, ऐसे शिक्षित लोगों सहित बहुत सारे लोगों के विरोध का कारण यही भय था। आयोग ने इस मत को महत्त्वहीन कहकर अस्वीकार कर दिया, जो उचित ही था। उसने आशा व्यक्त की कि 'अज्ञान बहुमत शीघ्र ही प्रबुद्ध वर्गों द्वारा बताए रास्ते पर आ जाएगा।'[75] इन प्रबुद्ध वर्गों को समाज में परिवर्तन के आधारस्तंभ के रूप में देखते हुए आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि

प्रबुद्ध वर्ग का 'बहुत बडा बहुमत पत्नी और बच्चों के पक्ष में उत्तराधिकार कानून में सशोधन या विवाह कानून अथवा दोनों के पक्ष में है।'[76] यद्यपि प्रस्तावित कानून की तफसील के बारे में सदस्यों में मतभेद था लेकिन उनमें से पांच ने कानून को किसी न किसी रूप में वाछनीय माना।[77] मद्रास सरकार आम तौर पर इस विचार से सहमत थी और फलत. उसने एक विवाह कानून बनाने का फैसला किया, 'जो *मारुमक्कतैयम* प्रथा पर कोई ऐसी पद्धति आरोपित कर देगा जिसके द्वारा विवाह को साधारण कानूनी घटना को मौजूदा रूप में जोड़ दिया जा सके।'[78] तदनुसार, 1896 का मलाबार विवाह कानून पारित कर दिया गया, जिसमे यह प्रावधान था कि जब किसी *संबंधम्* को पंजीकृत कर लिया जाएगा तो उसका दर्जा कानूनी विवाह का हो जाएगा : पत्नी और बच्चों को क्रमश. पति और पिता की ओर से खाना-खर्चा दिया जाएगा, और यदि वह बिना वसीयत किए मर जाए तो उसकी आधी सपत्ति के वे हकदार होंगे।[79]

1896 का कानून नायरों के प्रबुद्ध वर्गों के दीर्घ सघर्ष का परिणाम था, लेकिन जैसा कि रूढ़िवादियों को भय था, उसके विपरीत *तारावाड* का विनाश नहीं हुआ। यह सच है कि इस कानून से उसमें पहली दरार पड़ी, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण माग, अर्थात संपत्ति के बंटवारे को कानून में स्थान नहीं दिया गया। चूकि यह कानून अनुमतिदायी था, इसलिए विवाह का पजीकरण भी बहुत प्रभावकारी साबित नहीं हुआ।[80] तथापि कानून बनाने के लिए दबाव कायम रखा गया,[81] जिसके फलस्वरूप 1933 में *मारुमक्कतैयम* कानून पारित हो गया, जिसमें परिवार के विभाजन और पिता की स्वार्जित संपत्ति में उत्तराधिकार का प्रावधान किया गया। इसके शीघ्र बाद मलाबार की अदालतों में बंटवारे के मुकदमों की बाढ़ सी आ गई, और नायर *तारावाड* तेजी से छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होने लगे। परतु यह परिवर्तन स्वय इस कानून से प्रतिफलित नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत, यह कानून उस धीमी प्रक्रिया की चरम परिणति था जो बहुत पहले सोलहवी सदी में ही आरभ हो गई थी और जिसने *तारावाड* प्रणाली के आर्थिक आधार को बिखेर दिया था। हालांकि *तारावाड* की विचारधारा बिलकुल मिट नहीं गई थी बल्कि कुछ वर्गों में वह जैसे-तैसे आज भी कायम है, फिर भी जब तक यह कानून पारित हुआ तब तक नायर परिवारों में काफी माधवन और इदुलेखाए उभर आई थीं,[82] और अब कोई सूरी नबूदिरी 'रात बिताने के लिए' क्वचित ही नायर परिवार में प्रवेश करता था। शीघ्र ही नंबूदिरियों में भी अंग्रेजी शिक्षा पर जोर देते हुए और परिवार के कनीय सदस्यों के लिए भी अपनी जाति के अंदर विवाह करने के अधिकार की मांग करते हुए सुधार आदोलन आरभ हो गया।

नायर लोग अपने सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन में जिस मूल्य प्रणाली के वशीभूत थे वह बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते समाज में उनकी भौतिक स्थिति से बेमेल हो गई। ऊची जाति के नबूदिरियों के मुकाबले अपनी सामाजिक स्थिति का उनका

बोध भी बदल गया था। अब उनमें अधीनता और परवशता की नहीं बल्कि अपने महत्व और स्वतंत्रता की भावना काम कर रही थी। नंबूदिरियों का मूल्य अब निर्णायक नहीं रह गया था; व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित एक वैकल्पिक आदर्श कायम हो गया था। प्रभुत्वशाली विचारधारा और उससे संबंधित संस्थाओं की अस्वीकृति उन समाजार्थिक परिवर्तनों के कारण संभव हुई जो पंद्रहवीं सदी के बाद आरंभ हुए और जिनमे अंग्रेजी शासन के दौरान तेजी आई। इसके अलावा औपनिवेशिक शासकों की अपने प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्य वर्ग तैयार करने की नीति से भी इस अस्वीकृति में सहायता मिली। भौतिक अस्तित्व की वास्तविकताएं आत्मबोध का महत्वपूर्ण निर्णायक होती हैं। इसलिए भूमि-नियंत्रण की स्थिति मे परिवर्तन, अधिशेष में हिस्सेदारी में वृद्धि और सरकारी नौकरियों से होने वाली आय के बल पर नायरों ने जो आर्थिक दर्जा हासिल कर लिया था उसके बिना विचारधारात्मक संघर्ष तथा सामाजिक संस्थाओं की पुनर्रचना के प्रयत्न संभव नहीं होते। उन्नीसवीं सदी के अंत तक उनकी दुनिया बदल चुकी थी। *तारावाड*, गाव के मंदिर और नंबूदिरी *इलम* तक सीमित जीवन का स्थान सरकारी दफ्तरों और न्यायिक अदालतों की स्पर्धा ने ले लिया था। *नालुकेट्टु* की अंधकारपूर्ण चारदीवारियों के बदले लोग कोझीकोड और मद्रास जैसे उन शहरी केंद्रों के उत्तेजक वातावरण में सांस ले रहे थे जहां आधुनिक विचारों और आधुनिक जीवन पद्धति की गरमाहट थी। सो स्वाभाविक था कि उन्होने *नालुकेट्टु* को ध्वस्त करके नवनिर्माण का यज्ञ आरंभ कर दिया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 अंग्रेजी शासन के दौरान मलाबार मद्रास प्रेसिडेंसी का एक जिला था 1956 तक वह मद्रास राज्य का ही जिला बना रहा उस साल राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के मुताबिक उसे केरल का हिस्सा बना दिया गया बाद में उसे चार जिलों में बांट दिया गया—कन्नूर, कोझीकोड, पलक्कड और मलाप्पुरम्

2 एलमकुलम् कुंजन् पिल्लै, *स्टडीज इन केरल हिस्ट्री*, कोट्टायम, 1970, पृ 332

3 राजन गुरुक्कल, 'सोशियो-इकानामिक रोल आफ दि केरल टेंपल 800-1200', एम फिल शोध-प्रबंध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1978

4 *त्रावणकोर आर्कियालाजिकल सर्वे* (टीएएस), I, मद्रास, 1910, पृ 115, और II, मद्रास, 1921, पृ 42

5 एक स्थानीय तोल, जो लगभग पांच किलोग्राम के बराबर था

6 *टीएएस*, II पृ 175-97.

7. कुंजन पिल्लै, *स्टडीज*, पृ 327-28

8 कुंजन पिल्लै, *केरलचरित्रतितले इरुलडज एडुकल* (मलयालम), कोट्टायम्, 1963, पृ 37

9 कुंजन पिल्लै, *स्टडीज*, पृ 336-37

10 सुचींद्रम् मंदिर के मामले मे, तेरहवीं सदी के मध्य तक मंदिर का प्रशासन मलयाली ब्राह्मणों के

एक समूह के हाथों में था दक्षिणी त्रावणकोर को, जहां सुचींद्रम् मंदिर स्थित है, त्रावणकोर के शासक ने बारहवीं सदी में आकर जीता. के के पिल्लै, *दि सुचींद्रम् टेंपल,* मद्रास, 1953, पृ 148

11 कुंजन पिल्लै, *स्टडीज,* पृ 432

12 सी ए. इन्स और एफ बी एवांस, *मलबार,* दूसरा संस्करण, एर्नाकुलम, 1951, पृ 305 में उद्धृत.

13 डी.डी कोसंबी, 'दि बेसिस आफ एन्शिएंट इंडियन हिस्ट्री', *जर्नल आफ अमरीकन ओरिएंटल सोसायटी,* 1955, पृ 36

14 एल ए. कृष्ण अय्यर, *ए शर्ट हिस्ट्री आफ केरल,* एर्नाकुलम्, 1966, पृ 129, और के के पिल्लै, 'आर्यन इफ्लुएंस इन केरल हिस्ट्री', *हिस्ट्री आन दि मार्च : प्रोसीडिंग्स आफ दि केरल हिस्ट्री कांग्रेस,* एर्नाकुलम्, 1965, पृ 143

15 फ्रांसिस बुकानन, *ए जर्नी फ्राम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज आफ मैसूर, कनरा एंड मलाबार* II, लंदन, 1807, पृ 425

16 एड्रियन सी मायर, *लैंड एंड सोसायटी इन मलाबार,* बंबई 1952, पृ 26 साथ ही देखिए वी पी एस. रघुवंशी, *इंडियन सोसायटी इन दि एटींथ सेंचुरी,* नई दिल्ली, 1969, पृ 64

17 एक नंबूदिरी के साथ बात करते हुए एक नायर ने उसके घर को 'मलबे का ढेर', भोजन को 'बासी कांजी' कहा, जबकि नंबूदिरी का भोजन 'अमृत' माना गया है और उसके सभी कार्यों का जिक्र सम्मानसूचक शब्दावली में किया गया है गोपाल पणिक्कर, *मलाबार एंड इट्स फोक,* मद्रास, 1900, पृ 202, और ए. चंद्रशेखर, 'डिग्रीज आफ पोलाइटनेस इन मलयालम', *इंटरनेशनल जर्नल आफ द्रविडियन लैंग्वेजेज* जनवरी 1977, पृ 85-96

18 नंबूदिरी विवाहों की तफसीलों के लिए देखिए जान पी मेंचर और हेलन गोल्डबर्ग, 'किनशिप एंड मैरिज रिलेशंस एमंग दि नंबूदिरी ब्राह्मण्स आफ केरल', मेन, जिल्द II अंक 1, मार्च 1967 साथ ही देखिए डविड एम श्नाइडर और कैथलिन गफ, *मैट्रिलीनियल किनशिप,* बर्कले, 1962, पृ 319-23, 357-63

19 विद्वानों में इस विषय में मतैक्य है कि नंबूदिरी लोग उत्तर भारत से आए थे यों तो ई एम.एस. नंबूदिरीपाद नंबूदिरी समुदाय के विकास की तफसीलों के बारे में भिन्न मत रखते हैं लेकिन देशांतरण की मान्यता को वे भी स्वीकार करते हैं उन्होंने लिखा है 'इस बात का प्रतिवाद करने की कोई जरूरत नहीं है कि ब्राह्मणों के छोटे-छोटे समूह उत्तर भारत से आकर केरल में बस गए. इसी तरह इस संबंध में भी प्रतिवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि यही लोग यहां उत्तर भारतीय ब्राह्मण संस्कृति लाए.' *केरल यस्टर्डे, टुडे एंड टुमारो,* कलकत्ता, पृ 22. एकमात्र अपवाद के दामोदरन हैं, जिनकी राय है कि नंबूदिरी सहित सभी जातियां उत्पादन पद्धति में आए परिवर्तनों से उभरीं *केरल चरित्रम्,* त्रिचूर 1962, पृ 157

20 पारिवारिक संरचना से संबंधित और तफसीलों के लिए देखिए श्नाइडर और गफ, *मैट्रिलीनियल किनशिप,* पृ 334-36

21 वही, पृ 337

22 लुई ड्यूमों 'मैरिज इन इंडिया दि प्रेजेंट स्टेट आफ दि क्वेश्चन', *कंट्रीब्यूशंस टु इंडियन सोशियोलाजी,* अंक VII मार्च 1964

23 वही.

24 *मलाबार मैरिज कमीशन रिपोर्ट (एमएमसीआर),* 1891, पृ 11

25 बुकानन, *ए जर्नी,* पृ 426

26 *केरला संचारी* में एक संवाददाता ने लिखा, 'यदि किसी नंबूदिरी के मन को अपनी अभागी रैयत के किसी परिवार की लड़की भा जाए और उसे उसकी रखैल न बनने दिया जाए तो उस रैयत

के लिए उसके परिणाम विनाशकारी होते हैं, या तो उसे अपनी जोर से बेदखल कर दिया जाएगा या उसकी जमीन *मेलचार्ट* में रख दी जाएगी ' *मद्रास नेटिव न्यूजपेपर रिपोर्ट्स (एमएनएनआर), केरल सचारी*, 27 मई 1876

27 मेंचर और गोल्डबर्ग, 'किनशिप एड मैरिज रेग्युलेशस' - 'नंबूदिरियों की सपत्ति और रुतबा उन्हें नायर स्त्रियों को फुसलाने के लिए जो प्रभाव प्रदान करता है उसका वे सफल उपयोग करते हैं', ओ चदू मेनन का स्मरणपत्र, *एमएमसीआर*, पृ 10

28 के एम पणिक्कर, *मलाबार एड दि पोर्तुगीज*, बबई, 1929, पृ 181-82, और *मलाबार एड दि डच*, बबई, 1937, पृ 162-63; असीम दास गुप्त, *मलाबार इन एशियन ट्रेड*, कैंब्रिज, 1966, पृ 4

29 पणिक्कर, *मलाबार एड दि पोर्तुगीज*, पृ 58, 206-08

30 विलियम लोगन, *रिपोर्ट आफ दि मलाबार स्पेशल कमीशन (आरएमएससी)*, मद्रास, 1881, पैरा 59

31 बुकानन, *ए जर्नी*, पृ 366-67, टामस वार्डेन, *रिपोर्ट आन दि कडीशन आफ पालघाट, कोगड, मोनूर, एड्डटेनड, कोविलपरब, एड नरनट्टम डिवीजस आफ दि डिस्ट्रिक्ट आफ मलाबार*, मद्रास, 1801, पैरा 36.

32 वार्डेन, *रिपोर्ट*, पैरा 36

33 सन् 1803 से सबधित आकड़ों के लिए देखिए इंडिया आफिस रेकर्ड्स, एफ/287/36, पृ 7060-66 1887 से सबधित आकडे मद्रास के गवर्नर के नाम मलाबार के जमींदारों के 3 दिसबर 1887 के प्रार्थनापत्र से संकलित किए गए हैं, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट जी ओ नं 81, 10 दिसबर 1887, तमिलनाडु आर्काइव्स

34 जिन आकड़ों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वे पूर्ण रूप से सतोषजनक नहीं हैं उनमें जिले के सभी *जन्मियों* का हिसाब नहीं रखा गया है और न उनकी जातों के विस्तार का यह भी सभव है कि निचली जातियों के लोगों के पास जितनी जमीन थी वह ब्राह्मणों की तुलना में कम थी लेकिन इससे बदलाव की प्रवृत्ति का संकेत नहीं मिलता

35 अंग्रेजों की भूराजस्व नीति और उसके सामाजिक परिणामों के लिए देखिए के एन पणिक्कर, 'पीजेंट रिवोल्ट्स इन मलाबार इन दि नाइनटींथ एड ट्वेंटीएथ सेंचुरीज', ए.आर. देसाई (स), *अग्रेरियन अनरेस्ट इन इंडिया*, बबई, 1978

36 सी ए. इन्स और एफ बी एवान्स, *नोट आन टिनेंसी लेजिस्लेशन इन मलाबार*, मद्रास, 1915, परिशिष्ट.

37 *आरएमएससी*, पैरा 329

38 *मलाबार डिस्ट्रिक्ट रेकर्ड*, जीएल नं. 20998, तमिलनाडु आर्काइव्स

39 *मद्रास बोर्ड आफ रेवेन्यू प्रोसीडिंग्स*, 18 जुलाई 1803, पी. 287/36 (आईओआर), बोर्ड आफ ला, 26 मई 1803,सीओएनएस न 31, 13 जुलाई 1801, न 31-33, 9 मार्च 1803, सीओएनएस नं 32, 2 अप्रैल 1801; और सीओएनएस न. 23, तमिलनाडु आर्काइव्स

40 *एमएमसीआर*, दि प्रेसिडेंट्स मेमोरेडम, पृ 9

41 सर सी. शकरन् नायर ने एक बार लार्ड हार्डिंग से कहा था कि मेरे परिवार को सरकार में निम्नतम पद से लेकर उच्चतम पद पर आसीन होने का सम्मान प्राप्त है उनका पूर्वज गांव स्तर का अमला था और खुद वे वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य थे उनके पिता *तहसीलदार* थे और चाचा *शिरिस्तेदार* थे के एस मेनन, *सी शंकरन् नायर*, नई दिल्ली, 1967, पृ 10-11

42 *मलाबार टिनेंसी कमीशन रिपोर्ट*, मद्रास, 1929, पृ 6.

43 एमएनएनआर, *केरल पत्रिका*, 22 मई 1891 विवाह सुधार से सबधित लगभग प्रत्येक व्यक्ति

उत्तराधिकार के नायर कानून, नायर पारिवारिक संगठन और विवाह प्रथा को या तो उनके उद्भव के रूप में अथवा उनके सातत्य के रूप में नम्बूदिरियों के प्रभुत्व का परिणाम मानता था के कन्नन नायर, 'दि मैट्रिमोनियल कस्टम आफ दि नायर्स', *मलाबर क्वार्टरली रिव्यू* 1903, गोपाल पणिक्कर, *मलाबार एंड इट्स फोक*, पृ 36, और *केरल पत्रिका*, 31 मार्च 1890 23 मई 1891 को *केरल पत्रिका* में एक संवाददाता ने लिखा , "मलाबार में कई पट्टेदार विवाह आयोग के सामने बयान देने से डरते हैं, क्योंकि उनके जमींदार उन्हें धमकी देते हैं कि अगर उन्होंने बयान दिया तो उन्हें बेदखल कर दिया जाएगा जब तक यह अनिवार्य नहीं कर दिया जाएगा कि नम्बूदिरी ब्राह्मणों को अपने जाति में ही विवाह करना चाहिए तब तक मलयाली विवाह प्रथा में कोई सुधार असंभव है '

44 पट्टेदारी आंदोलन जमींदारों और *कनक्कारों* के बीच लगान में अधिक बड़ा हिस्सा पाने का संघर्ष था देखिए के एन पणिक्कर, *अगेंस्ट लार्ड एंड स्टेट*, नई दिल्ली, 1989, पृ 120-21

45 एम. ओतेना मेनन, *रिमार्क्स आन सी करुणाकर मेनन्स अब्जर्वेशन आन दि मलाबार मैरिज बिल*, मद्रास, 1890, पृ 22

46 के एन कृष्णस्वामी अय्यर, *स्टैटिस्टिकल अपेंडिक्स फार मलाबार डिस्ट्रिक्ट*, मद्रास, 1933, पृ ccli

47 इस काल में न केवल नारियल और काली मिर्च जैसी नकदी पैदावारों के लिए बल्कि धान के लिए भी तैयार बाजार था

48 एक गवाह ने विवाह आयोग को बताया " *करणवन तरवाड* संपत्ति का गबन करते हैं, और उसे अपनी पत्नियों और बच्चों के नाम कर देते हैं *अनंतरवन* बुरा बर्ताव करते हैं, आज्ञा का पालन नहीं करते और न काम करते हैं " *एमएमसीआर* पृ 30

49 *एमएनएनआर, केरल पत्रिका*, दिसंबर 1885

50 विवाह आयोग के सामने बयान देने वाले एक गवाह श्री रोजेरियो ने कहा , "मेरी जानकारी में इसका एक भी उदाहरण नहीं है कि किसी *करणवन* ने अपने परिवार के कनीय सदस्य को कभी शिक्षा दी हो लगभग निरपवाद रूप से पिता ही अपने बच्चों को शिक्षा देता है " *एमएमसीआर*, पृ 30

51 सन् 1822 में स्पेशल कमिश्नर एच एस ग्रैमी ने मलाबार की आबादी का अंदाजा 7,07,556 लगाया था, जिनमें से 1,64 626 नायर थे *रिपोर्ट आन दि रेवेन्यू एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ 6 1881 तक नायरों की आबादी 3 21,674 पर पहुंच गई, अर्थात लगभग 100 फीसदी का इजाफा हुआ

52 *एमएमसीआर*, पृ 31

53 *एमएनएनआर, केरल संचारी*, 9 सितंबर 1891

54 *एमएनएनआर, केरल मित्रम्*, 11 मार्च 1882, *केरल पत्रिका*, अक्तूबर 1886 और 12 अप्रैल 1890

55 *एमएनएनआर, केरल पत्रिका*, 20 अप्रैल 1893 जोर हमारी ओर से

56 एम ओतेना मेनन ने एक दिलचस्प किस्सा दर्ज किया है : "एक बार एक उच्च पदाधिकारी ने तेलीचेरी के पूर्व सब डिवीजनल *शिरिस्तेदार* एन शंकर मरार को एक *कल्याणम्* (विवाह) में निमंत्रित किया . जब सब लोग बैठ चुके तो एक वृद्ध व्यक्ति के वहां पहुंचने पर मेजबान ने बहुत आदरपूर्वक उठकर उसका परिचय *शिरिस्तेदार* से अपने पिता के रूप में कराया. आगंतुक अंदर घर में चला गया और कुछ मिनट बाद एक और मेहमान पहुंचा. मेजबान ने फिर वैसा ही आदर दिखाया और उस नवागंतुक का भी परिचय अपने पिता के रूप में कराया शंकर मरार ने अपनी जुबान पर काबू रखने की कोशिश की, लेकिन उनसे ऐसा बना नहीं और अपने स्थान पर बैठते हुए उन्होंने कहा, भाई तुम बुरा नहीं मानना अगर तुम्हारे एक और पिता के आने पर मैं खड़ा नहीं होऊं " *रिमार्क्स*, पृ 19

57 *एमएनएनआर, केरल पत्रिका*, 16 मई 1891

58 ओतेना मेनन, *रिमार्क्स*, पृ 9
59 एमएनएनआर, केरल पत्रिका, 11 मार्च 1882
60 एनएआई लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, दिसंबर 1890, नं 138-42 1881 में भी लोगन ने ऐसी ही बात कही थी, 'नायर आम तौर पर एक ही स्त्री से विवाह करता है, अपने घर में उसके साथ अलग रहता है और उसके बच्चों का लालन-पालन भी अपने बच्चों की तरह करता है ' *आरएमएमसी*, पैरा 483
61 वही.
62 ओतेना मेनन, *रिमार्क्स*, पृ 2
63 *आरएमएमसी*, पैरा 481-88
64 वही
65 वही
66 वही
67 *जुडिशियल प्रोसीडिंग्स*, 22 दिसंबर 1890, न. 1863
68 आयोग के अन्य सदस्य थे एच एम विरराघवन, सी शंकरन् नायर, केरल वर्मा वालीया कोविल तपूरण, राम वर्मा तंपूरण, ओ.चंदू मेनन और एम मुडप्पा बगैरा *लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स*, फरवरी 1894, पी.बी. न 47-58
69 *एमएमसीआर*, पृ 35
70 *लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स*, फरवरी 1894, न 47-58, एनएआई
71. *एमएमसीआर*, पृ 31.
72 जब माधवन कहता है कि मलयाली स्त्रियां सतीत्व का पालन नहीं करतीं तो इंदुलेखा नायर स्त्रियों का प्रबल पक्ष-पोषण करती है और उनकी लैंगिक नैतिकता की उच्च भावना के लिए दलील देती है ओ. चंदू मेनन, *इंदुलेखा*, पृ 57-58
73 *एमएमसीआर*, पृ 34.
74 सी करुणाकरन मेनन, *आब्जर्वेशंस आन दि मलाबार मैरिज बिल*, 1890, पृ 19
75 *एमएमसीआर*, पृ 34
76 वही, पृ 35.
77. छह में से केवल चार सदस्यों ने मुख्य रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए और इनमें से भी राम वर्मा तपूरण ने कई महत्वपूर्ण मुद्दों से संबंधित निष्कर्षों से अपनी असहमति जताई आयोग के अध्यक्ष और ओ चदू मेनन रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करने वालों के निष्कर्षों से पूर्ण रूप से असहमत थे और एक-दूसरे से भी असहमत थे. उन्होंने अपने-अपने मत अलग-अलग ज्ञापनों में दर्ज किए.
78 *लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स*, फरवरी 1894, न 47-58
79 वही, जून 1896, नं 1-27
80 इस कानून के प्रवर्तन के पहले चौदह महीनों में केवल 51 *संबंधमों* का पंजीकरण हुआ और उसके बाद उसमें दिलचस्पी बिलकुल छीज गई. पहले दस वर्षों में 100 से भी कम लोगों ने विवाहों का पंजीकरण करवाया. रॉबिन जेफ्रे, *दि डिक्लाइन आफ दि नायर डोमिनेंस*, नई दिल्ली, 1976, पृ *186, 313*
81 *एमएमएनआर*, *वेस्ट कोस्ट रिफार्मर*, 7 अप्रैल 1910, *मनोरमा*, 1 नवंबर 1912; और *केरल सचारी*, 25 मार्च 1914.
82 सन् 1889 में प्रकाशित चदू मेनन के उपन्यास *इंदुलेखा* के चरित्र देखिए पीछे अध्याय छह

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

अनंतरवन	नायर परिवार का कनीय सदस्य
अष्ट वैद्यम्	आठ पारंपरिक आयुर्वेदिक वैद्यों में से एक
इल्लम	नंपूदिरि गृहस्थी
कनक्कर	पट्टेदार, जोतदार
कारणवन	नायर परिवार का मुखिया
कुलार	काश्तकार
कलारी	व्यायामशाला, जहां सैनिक कौशल का अभ्यास किया जाता है
कानम	पट्टे का एक रूप
कानमदार	पट्टेदार, जोतदार
काश्यम	औषधिक आसव
चक्यर्कुट्टु	मंदिरों में संपादित एक कला
जन्मम्	जन्मसिद्ध अधिकार
जन्मी	जमींदार
तवांझी	वंशज
तारावाड़	नायर गृहस्थी
नालुकेट्टु	चतुर्भुजाकार नायर का घर
देवस्वम्	मंदिर की संपदा
परवती	एक ग्राम अधिकारी
ब्रह्मस्वम्	ब्राह्मणों की संपदा
मरुमक्कातयम्	मातृवंशिकता
मुख्यस्थान	सरदार
मेलचार्ट	तमारी पट्टा
वेदिपरायेल	गपशप
वेरुम्पम टक्कर	चाहे जब बेदखल कर दिया जाने वाला पट्टेदार
संबंधम	वैवाहिक संबंध

अनुक्रमणिका